भगवच्चर्चा

[भाग ४]



लेखक

हनुमानप्रसाद पोद्दार

श्रीहरि.

नम्र निवेदन

भगवच्चर्चाका तीसरा भाग प्रेमी पाठकोंकी सेवामें प्रस्तुत किया था। यह चौथा भाग भगवत्प्रेमी जनताकी मनस्तुष्टिके लिये प्रस्तुत किया जा रहा है। भगवत्प्रेमियोंको भगवान्की चर्चामें—उनके पावन गुणोंके परस्पर कथन और श्रवणमें जितना सुख मिलता है, उतना किसी अन्य विषयमें नहीं मिलता। उनकी तुष्टि एवं मनोरञ्जनका वही सबसे प्रिय विषय होता है। अतः हमें आशा है कि प्रस्तुत भाग भी भगवत्प्रेमी पाठकोंको पिछले भागोंके समान ही रुचिकर एवं उपादेय सिद्ध होगा। इसमें पिछले भागोंकी अपेक्षा भी अधिक महत्त्वपूर्ण, गूढ़ एवं शिक्षाप्रद विषयोंका समावेश हुआ है। इसमें सन्त-महिमा, निर्भरा भक्ति, वर्णाश्रम-धर्म, मौन व्याख्यान, भगवदनुराग आदि बोधप्रद विषयोंके साथ-साथ वर्णाश्रमधर्म और ब्राह्मण, पाप विषयासक्तिसे होते हैं—प्रारब्धसे नहीं, श्रीरामका स्वरूप और उनकी प्रसन्नताका साधन, चोर-जार-शिखामणि एवं श्रीराधाजी कौन थीं—आदि कुछ ऐसे विषयोंपर भी प्रकाश डाला गया है, जिनके सम्बन्धमें जिज्ञासुओं को कई प्रकारकी शङ्काएँ हुआ करती हैं। साथ ही—साधनोपयोगी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषयोंका प्रतिपादन और रामायणके मुख्य-मुख्य पात्रोंकी चरित्र-समीक्षा तथा रामायण-विषयक कतिपय अन्य उपयोगी विषयोंका दिग्दर्शन कराया गया है। इस प्रकार सभी दृष्टियोंसे यह संग्रह भगवत्प्रेमियों एवं भगवत्जिज्ञासुओंके बड़े ही कामकी वस्तु बन गया है। आशा है, इस अनुपम चयनसे परमार्थ-पथके पथिक भाई-बहिन पूरा लाभ उठाकर अपने जीवनको भगवद्-भिमुखी एवं धन्य बनानेकी चेष्टा करेंगे।

अक्षयतृतीया, २०१० वि०   विनीत—चिम्मनलाल गोस्वामी

श्रीहरिः

विषय-सूची

१४–किसीके द्वारा कैसा भी व्यवहार होनेपर कभी उद्विग्न न होना।

१५–सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्तिमें हर्ष न मानना।

१६–दूसरेकी उन्नतिमें डाह न होना।

१७–परमात्माको नित्य अपने साथ समझकर सदा निर्भय रहना।

१८–किसी भी अवस्थामें अशान्त न होना।

१९–किसी भी वस्तुकी अपेक्षा न होना।

२०–मन-वाणी-शरीरसे पवित्र रहना।

२१–अहितके त्याग और हितके ग्रहणमें चतुर होना।

२२–सबसे उदासीन—निरपेक्ष रहना।

२३–मानसिक व्यथाका सर्वथा अभाव।

२४–आसक्ति और कर्तापनके अभिमानसे कोई भी आरम्भ न करना। सब कर्मोंका आरम्भ परमात्माकी लीलासे होता है, ऐसा मानना।

२५–अनुकूलकी प्राप्ति और प्रतिकूलके विनाशमें हर्ष न होना।

२६–प्रतिकूलकी प्राप्ति और अनुकूलके विनाशमें द्वेष न होना।

२७–किसी भी स्थितिमें शोक न होना।

२८–किसी भी वस्तुकी कामना न होना।

२९–शुभ और अशुभ कर्मोंका फल-त्याग कर देना।

३०–शत्रु-मित्रमें समभाव रखना।

३१–मानापमानमें समानभाव रखना।

३२–सरदी-गरमीमें समबुद्धि रहना।

५–शान्ति, सरलता, शम, दम, शीतलता, त्याग, सन्तोष, दया, अहिंसा, सत्य, निर्भयता, अनासक्ति, निष्कामता, निरहङ्कारता, निर्ममता, स्वाधीनता, निर्मलता, क्षमा, सेवा, तप आदि सद्गुण और सदाचारोंका पूर्ण विकास और ६–हर एक स्थितिमें अखण्ड असीम आनन्द।

सन्तोंके हृदयमें पाप-तापके लिये स्थान नहीं है, उनके आचरणोंमें किसी प्रकारका भी दोष नहीं आ सकता। अज्ञान, असत्य, दम्भ, कपट, स्तेय, व्यभिचार आदि दुराचार उनके समीप भी नहीं रह पाते। उनका सरल जीवन सर्वथा सदाचार-मय, दिव्य आदर्श गुणोंसे युक्त, सबको सुख पहुँचानेवाला तथा सबका हित करनेवाला होता है, वे जहाँ रहते हैं, जहाँ विचरते हैं, वहीं मङ्गल-सन्देश देते हैं, मङ्गलमय वायुमण्डल तैयार करते हैं और सबको मङ्गलमय बना देते हैं।

सन्तोंकी पहचान

यद्यपि सन्तके लिये शास्त्रोंमें इस प्रकारके अनेक लक्षणोंका निर्देश मिलता है, तथापि वस्तुत. सन्त समस्त लक्षणोंसे ऊपर उठे हुए होते हैं। किसी भी लक्षणके द्वारा कोई भी विषयी पुरुष सन्तको कभी नहीं पहचान सकता। प्रथम तो जिसने जिस वस्तुकी उपलब्धि ही नहीं की, वह केवल उसका नाम सुनकर ही कैसे उसके असली-नकली होनेका निर्णय कर सकता है। जिसने हीरा देखा ही नहीं, वह हीरे और काँचके अन्तरको कैसे समझ सकता है। सन्तोंके लक्षणोंमें कई तो ऐसे हैं, जो स्वसंवेद्य हैं; और कई ऐसे हैं जिनके स्वरूपका यथार्थ निर्णय

स्वयं उनका आचरण करनेवाले केवल अनुभवी पुरुष ही कर सकते हैं, विषयी पुरुष अपनी विविध दोषमयी, विषयासक्तिसे भ्रमित और मोहसे आवृत मलिन बुद्धिके तराजूपर उनको नहीं तौल सकता। वह जिस बातको अपनी विपरीत और अज्ञानभरी दृष्टिसे दोष समझेगा, सम्भव है, वही सन्तका आदर्श गुण हो। ऑपरेशन करते हुए डाक्टरकी क्रियामें, बच्चों और शिष्योंको वत्सलतापूर्ण हृदयसे धमकाते हुए माता-पिता और सद्गुरुकी शिक्षामें, और कराहते हुए रोगीको कुपथ्य न देनेमें अज्ञ पुरुष निर्दयताका आरोप कर सकते हैं; परन्तु क्या यह वास्तविक दया नहीं है? इसी प्रकार अन्यान्य गुणोंकी बातें हैं। मूर्ख मनुष्य यदि अनाज तौलनेके एक बड़े काँटेके एक पलड़ेपर बहुमूल्य हीरा रखकर और उसे सेर-दो-सेरके वजनका भी न पाकर उसको किसी भी कामका न समझे तो इससे जैसे हीरेकी कीमत कुछ भी कम नहीं हो जाती, इसी प्रकार असन्तकी मलिन बुद्धि न तो सन्तको पहचान सकती है और न उसके किसी निर्णयसे सन्तका यथार्थ स्वरूपनिर्देश ही होता है। दूसरी बात एक यह भी है कि भोले-भाले नर-नारियोंको ठगनेके लिये दम्भी मनुष्य भी सन्तोंका-सा स्वाँग रचकर लोगोंको धोखा दे सकता है, बाहरी आचरणकी नकल करना कोई बड़ी बात नहीं। यद्यपि सत्य, चेतन और ज्ञानस्वरूप परमात्मामें नित्य-स्थित लोक-हित-निरत सन्तके बाहरी आचरणोंके और दम्भीके सन्तोंजैसे बनावटी आचरणोंमें बहुत बड़ा भेद रहता है, तथापि उस भेदको पहचानना हर एक मनुष्यका कार्य नहीं है। योग-सिद्धिप्राप्त या भगवत्प्रेरित सन्त पुरुष ही उस महत्त्वपूर्ण भेदको

जानते हैं। अतएव किसी भी बाहरी लक्षणसे सन्त-असन्तका निर्णय करना असम्भव नहीं तो कम-से-कम महान् कठिन तो अवश्य ही है। विषयी पुरुषोंके लिये तो असम्भव ही है।

सन्तोंका यथार्थ परिचय सन्तकृपासे ही मिल सकता है। किन्तु पहलेसे ही किसी-न-किसी दोषको खोज निकालनेकी बुरी इच्छासे—जिनपर दोषारोपण हो सके, ऐसे छिद्रोंको ढूँढ़नेकी नीयतसे ही जो सन्तके पास जाता है या सन्तका सेवन करता है, उसको सन्तका यथार्थ परिचय मिलना और सन्तकृपाकी प्राप्ति करना बहुत ही कठिन है। श्रद्धा, सेवा और जिज्ञासासे ही मनुष्यको सन्तकृपाकी प्राप्ति हो सकती है। इतना होनेपर भी अकारणकृपालु सन्तोंका अज्ञात सङ्ग भी कभी व्यर्थ नहीं जाता; उस अज्ञात सत्सङ्गसे, जिस महान् कल्याण-कल्पतरुका भगवत्-प्रेमरूपी अमल फल है, उसका अक्षय बीज तो हृदयक्षेत्रमें पड़ ही जाता है, जो अनुकूल वातावरण पाकर उगता है और फूलता-फलता है।

सन्त भगवान्‌के किस गुप्त सङ्केतको पाकर कब किस प्रकारका आचरण करते हैं, इस बातको साधारण लोग नहीं समझ सकते; लोकोत्तर पुरुषोंके कार्य भी लोकोत्तर ही हुआ करते हैं, साधारण बुद्धिसे उनका समझना और अनुकरण करना सम्भव नहीं होता। इसीलिये श्रुतिवाक्योंमें गुरु शिष्यसे कहते हैं—

यान्यनवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि।
यान्यस्माकँ सुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि॥

(तैत्तिरीयोपनिषद् १।११।२-३)

'शास्त्रोक्त निर्दोष कर्मोंका ही आचरण करना चाहिये, शास्त्रविरुद्धका नहीं। हमलोगोंमें भी जो सुन्दर आचरण हैं, तुम्हें उन्हींका अनुकरण करना चाहिये, अन्य निन्दित आचरणोंका नहीं।'

वस्तुतः सन्तोंका एक भी आचरण किञ्चित् भी दोषयुक्त नहीं होता, वह स्वाभाविक ही सत्य ज्ञानसे ओतप्रोत और लोकहितके उद्देश्यसे आचरित होता है, हम उसे अपनी अदूर-गामिनी विपरीत दृष्टिके कारण ही दूषित या निन्दित मान लेते हैं! एक महात्माने मुझको एक कहानी सुनायी थी—

सन्तकी आश्चर्य-कहानी

किसी एक नगरमें राजकन्याका विवाह था, मङ्गलके बाजे बज रहे थे। उसी नगरमें एक सिद्ध महात्मा रहते थे। महात्मा बाजोंकी आवाज सुनकर राजदरबारमें गये। राजासे यह मालूम होनेपर कि राजकन्याका विवाह है, उन्होंने कन्याको देखना चाहा। राजाने कन्याको बुलाया। राजकन्याने आकर महात्माके चरणोंमें प्रणाम किया। महात्माने न मालूम किस अभिप्रायसे उसको नखशिख देखकर राजासे कहा—'इस लड़कीका हमसे विवाह कर दो।' राजा तो सुनते ही सहम गया; बुद्धिमान् था, महलमें जाकर एक जोड़ी बहुमूल्य मोती लाया। मोतीका आकार मुर्गीके अण्डे-जितना था, और उनसे शारदीय पूर्णिमाके चन्द्रमाकी-सी ज्योति छिटक रही थी। राजाने नम्रतासे कहा—'भगवन्! हमारे कुलकी रीति है— जो इस तरहके १०८ मोतियोंका हार कन्याको देता है, उसीसे

हम कन्याका विवाह करते हैं।' महात्माने निर्विकार चित्तसे, पर उत्साहसे कहा—'हाँ, हाँ, तुम्हारी कुलकी प्रथा तो पूरी होनी ही चाहिये। ये दोनों मोतीके दाने मुझे दे दो, इसी नमूनेके एक सौ आठ मोती मैं ला देता हूँ। परन्तु खबरदार! तबतक लड़कीको किसी दूसरेसे ब्याह न देना।' राजाने सोचा था, महात्मा मोतीकी बात सुनकर निराश हो लौट जायँगे; परन्तु यहाँ तो दूसरी ही बात हो गयी। राजा जानता था—महात्मा ऊँचे दर्जेके सिद्ध पुरुष हैं, उनकी आज्ञा न माननेसे अमङ्गल हो सकता है; अतएव राजाने दोनों मोती उनको दे दिये और कहा—'भगवन्! आगे लग्न नहीं है, आप जल्दी लौटियेगा।' राजाने सोचा, 'ऐसे मोती कहीं मिलेंगे नहीं, महात्मा सच्चे पुरुष हैं, लौट ही आयेंगे। तब लड़कीका विवाह निर्दिष्ट राजकुमारके साथ कर दिया जायगा।' राजाने विवाह स्थगित कर दिया। महात्मा मोतीके दाने झोलीमें डालकर चल दिये!

तीन दिन हो गये। महात्मा समुद्रके किनारे बैठे कमण्डलु भर-भर समुद्रका जल बाहर उलीच रहे हैं। उन्हें खाना-पीना-सोना कुछ भी स्मरण नहीं है। न थकावट है न विषाद है; न निराशा है न विराम है। एक लगनसे कार्य चल रहा है। महात्माकी अमोघ क्रियासे प्रकृतिमें हलचल मची। अन्तर्जगत्‌में क्षोभ उत्पन्न हो गया। समुद्रदेव ब्राह्मणका रूप धरकर बाहर आये। पूछा, 'भगवन्! यह क्या कर रहे हैं?' समाधिसे जगे हुएकी भाँति उनकी ओर देखकर सहज सरलतासे महात्मा बोले—'एक सौ आठ मोतीके दाने चाहिये। समुद्रमें पानी नहीं रहेगा,

तव मोती मिल जायँगे ।' ब्राह्मणने कहा—'समुद्र क्या इसी तरहसे और इतना जल्दी विना पानीका हो जायगा ?'

'हाँ, हाँ, हो क्यों नहीं जायगा । पानी तो उलीच ही रहे हैं, दो दिन आगे-पीछे होगा । अपनेको कौन-सी जल्दी पड़ी है ।'

'अगर समुद्र आपको मोती दे दे तो ?'

'तो फिर क्या हमारा समुद्रसे कोई वैर है जो हम उसे विना पानीका वनायेंगे ?'

'अच्छा, तो लीजिये' ।

समुद्रकी एक तरङ्ग आयी और मोतियोंका ढेर लग गया । महात्माने झोलीसे दोनों मोती निकाले । उनसे ठीक मिला-मिलाकर १०८ मोती चुनकर झोलीमें डाल लिये और चलनेके लिये उठ खड़े हुए ! ब्राह्मणवेशधारी समुद्रने कहा, 'भगवन् ! कुछ मोती और ले जाइये न ?' महात्मा वोले—'हमें संग्रह थोड़े ही करने हैं । जरूरत थी, उतने ले लिये । अव हम व्यर्थ वोझ क्यों ढोयें ।'

महात्माने आकर राजाको वुलाया और पहलेके दो दाने-समेत ११० मुर्गीके अण्डे-जैसे पूनमके चाँद-से चमकते मोतीके दाने राजाके सामने रख दिये । राजा आश्चर्यचकित हो गया । महात्माके परम सिद्ध होनेका उसे पूर्ण विश्वास हो गया । उसने सोचा, 'ऐसे विलक्षण शक्तिशाली पुरुपसे लड़कीका विवाह करनेमें लड़कीको तो किसी दुःखकी सम्भावना है नहीं । परन्तु इनसे कुछ काम और क्यों न ले लिया जाय ।' राजाकी एक दूसरे वड़े राजासे शत्रुता थी; वह राजा तो मर गया था,

उसका छोटा कुमार था। इसने सोचा, 'शत्रुका बीज भी अच्छा नहीं; महात्माके हाथों यह कण्टक दूर हो जाय तो अच्छा।' यह सोचकर राजाने कहा—'भगवन्! मोती तो बड़े अच्छे आप ले आये। एक काम और है, अमुक राज्यके राजकुमारका सिर आनेपर लड़कीका ब्याह होगा, ऐसा प्रण है। अतएव यदि हो सके तो आप इसके लिये चेष्टा करें।' महात्माने कहा—'अरे, इसमें कौन बड़ी बात है, अभी जाता हूँ।' महात्माजी उस राज्यमें गये। राजमातासे मिले। राजमाताने महात्माका नाम सुन रक्खा था, इससे उसने बड़ी अच्छी आवभगत की। इन्होंने कहा—'माई! हम तो एक कामसे आये हैं, तुम्हारे कुमारका हमें सिर चाहिये। हमने एक राजासे कहा था—अपनी कन्याका ब्याह हमसे कर दो, उसने कहा है कि अमुक राजकुमारका सिर ला देंगे, तब विवाह होगा। अतः तुम हमें अपने लड़केका सिर दे दो।' एकलौता लड़का था और वही राज्यका अधिकारी था। महात्माके वचन सुनकर राजमाताके प्राण सूख गये। परन्तु हृदयमें श्रद्धा थी, उसको विश्वास था कि सच्चे महात्मासे किसीका कोई अकल्याण नहीं हो सकता। उसने कहा—'भगवन्! लड़केका सिर मैं कैसे उतारूँ। आप इस लड़केको ही ले जाइये।' महात्मा बोले—'यह और अच्छी बात है; उसने तो सिर ही माँगा था, हम तो पूरा ले जाते हैं। फिर सिर उतारकर हमें क्या करना है।'

'भगवन्! इसे मैं आपके हाथोंमें सौंप रही हूँ।'

'हाँ, हाँ, भगवान् सब मङ्गल करेंगे।'

राजकुमारको लेकर महात्मा अपनी नगरीमें लौटे और

प्रवाह, शान्ति और आनन्दकी वृद्धि प्रतीत हो, उन्हींको सन्त मानकर उनसे विशेष लाभ उठाना चाहिये। अपनी बुद्धि जिनको सन्त स्वीकार न करे, उनकी निन्दा तो नहीं करनी चाहिये; परन्तु अपने उनसे कोई गुरु-शिष्यका सम्बन्ध नहीं रखना चाहिये। निन्दा तो इसलिये नहीं कि प्रथम तो किसीकी भी निन्दा करना ही बहुत बुरा है; दूसरे, हम सन्तका बाहरी आचरणसे निर्णय भी नहीं कर सकते। और गुरु-शिष्यका सम्बन्ध इसलिये नहीं कि श्रद्धारहित और दोषबुद्धियुक्त ऐसे सम्बन्धसे कोई लाभ नहीं होता।

सन्त और चमत्कार

अहिंसा-सत्यादि यम-नियमोंकी पूर्ण प्रतिष्ठाके साथ ही परमात्माके स्वरूपमें सम्पूर्णतया स्थित होनेके कारण सन्तोंके जीवनमें अलौकिक योगविभूतियोंका प्रकट होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। भगवान् स्वयं शुद्ध सत्त्वमयी और कल्याणमयी नित्य अनन्त दिव्य विभूतियोंसे सम्पन्न हैं। उनका 'ऐश्वर-योग' प्रसिद्ध है। और ऐसी सिद्धियाँ हेय भी नहीं हैं। संसारके प्राचीन और अर्वाचीन सभी धर्मोंके सन्त पुरुषोंके जीवनमें योगविभूतियोंका होना न्यूनाधिक रूपमें पाया जाता है। अवश्य ही सत्यके साथ-साथ संसारमें मिथ्या, दम्भ, धूर्तता भी रहती ही है और पाखण्डी-लोग अपने स्वार्थसाधनके लिये नकली सिद्धियाँ दिखलाकर अथवा लोगोंकी आँखोंमें धूल झोंककर अपना निकृष्ट व्यवसाय भी चलाते ही हैं। पर इससे योगविभूतियोंको दूषित नहीं कहा जा सकता। तथापि इतना अवश्य कहा जा सकता है कि अणि-

मादि सिद्धियाँ और ऐसी ही अन्यान्य योगविभूतियोंका प्राप्त करना सन्तजीवनका उद्देश्य कदापि नहीं है। सन्तकी महाविभूति तो भगवान्‌के साथ पूर्णतया एकात्मभाव है। इसीके लिये साधकदशामें सन्त अपने जीवनको महान् त्याग, वैराग्य और प्रचण्ड तपस्याकी आगमें तपाता रहता है, और इस परम सत्यको उपलब्ध करनेके बाद इसीमें रमकर तदाकार हो जाता है। सिद्धियाँ आनुषङ्गिक रूपमें आती हैं तो वह न तो इनको कोई महत्त्व देता है, न इनकी प्राप्तिकी इच्छा करता है, न इनका प्रदर्शन करके देहपिण्डकी और मिथ्या नामकी पूजा ही करवाना चाहता है; क्योंकि वह जानता है सिद्धियोंमें सन्तभाव नहीं है, बल्कि सिद्धियाँ तो साधनमें महान् विघ्नरूप हैं और परमार्थ-पथसे गिरा देती हैं और ये सिद्धियाँ राक्षसोंमें भी हो सकती हैं।

जो लोग सिद्धियोंका प्रदर्शन करके नाम-रूपकी पूजा कराना चाहते हैं, वे तो सन्त हैं ही नहीं। बल्कि आजकल तो बहुत लोग ऐसे भी मिल सकते हैं, जिनको यथार्थ योगविभूतियाँ भी प्राप्त नहीं हैं, जो केवल धोखा देनेकी कलामात्र जानते हैं, और उसीके सहारे भोले लोगोंको ठगते हैं। सन्तका महान् चमत्कार तो उसका नित्य सत्य अखण्ड ईश्वरमय जीवन है, जिस जीवनके दर्शन, कथन, श्रवण और परिचय—सभी आश्चर्यमय हैं।

आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेन-

माश्चर्यवद् वदति तथैव चान्यः।

आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति

श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥

सन्तोंके स्वभावमें विभिन्नता

सिद्ध सन्तोंकी स्वरूपस्थिति एक-सी होनेपर भी व्यावहारिक जगत्‌में उनके स्वभावमें बहुत ही विभिन्नता रहती है। जो सन्त जिस देशमें, जिस परिस्थितिमें, जिस शिक्षा-दीक्षामें, जिस वातावरणमें प्रकट हुए हैं और पले हैं, प्रायः उसीके अनुसार उनका स्वभाव भी होता है। कोई अत्यन्त एकान्त-सेवी, निवृत्तिपरक होकर लोकालयमें सर्वथा अपनेको अलग रखना चाहते हैं, कोई दिन-रात विभिन्न प्रकारके लोगोंमें रहकर उनकी सहायता करते, उन्हें मार्ग बतलाते, अन्याय-अत्याचारका सामना करते और सत्य धर्मकी प्रतिष्ठा करनेमें लगे रहते हैं। एकान्तवासी सन्त भी कम लोक-सेवा नहीं करते। एकान्त स्थानमें उनका दिन-रात भगवान्‌के साथ आत्मासे ही नहीं,—शरीर-मन-वाणीसे भी संयोग रहना जगत्‌के लिये बहुत ही कल्याणकारी होता है। उनका अस्तित्व ही जगत्‌के लिये बहुत बड़ा आश्वासन और महान् लाभ है। लोकालयमें रहनेवाले सन्तोंमें गृहस्थ, संन्यासी दोनों ही होते हैं, और गृहस्थोंमें भी स्वभाव तथा रुचिभेदके अनुसार कोई त्यागमार्गी और कोई अत्यागमार्गी होते हैं—कोई विषयोंके स्वरूपतः त्यागकी शिक्षा देते हैं तो कोई राग-द्वेष-त्यागपूर्वक वशमें किये हुए मन-इन्द्रियोंसे भगवत्प्रीत्यर्थ विषय-सेवनकी सम्मति देते हैं और तदनुसार ही दोनोंकी अपनी रहनी-करनीमें भी अन्तर होता है। ऐसे सन्त सभी देशों, सभी जातियों, सभी धर्मों और सभी सम्प्रदायोंमें प्रायः सभी युगोंमें होते आये हैं।

सम्बन्धमें उद्धवजी कहते हैं—

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् ।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ॥
(श्रीमद्भा० १०।४७।६१)

'अहो ! इन गोपियोंकी चरणरजको सेवन करनेवाली वृन्दावनमें उत्पन्न हुई गुल्म, लता और ओषधियोंमेंसे मैं कुछ भी हो जाऊँ (जिससे इन महाभागाओंकी चरणरज मुझे भी प्राप्त हो)। क्योंकि इन गोपियोंने बहुत ही कठिनतासे त्याग किये जानेवाले स्वजनोंको और आर्यपथको त्यागकर भगवान् मुकुन्दके मार्गको पाया है, जिनको श्रुतियाँ अनादिकालसे खोज रही हैं। (परन्तु पाती नहीं)।'

यह 'आर्यपथत्याग' उन कृष्णमयी गोपिकाओंके द्वारा ही हो सकता है, जो घर संसारकी दुस्त्यज ममताको सर्वथा छोड़-कर, समस्त मोहके परदोंको फाड़कर अनन्यरूपसे सर्वथा-सर्वदा और सर्वत्र मुरलीमनोहर श्रीकृष्णमें ही रमण करती थीं। जिनके जीवनका प्रत्येक क्षण भगवान्में रमण करनेके लिये ही सुरक्षित था, उन नित्य परमात्मयोगमें अखण्ड रूपसे स्थित श्रीगोपीजनोंकी दिव्य लीलाओंकी नकल करनेवाले विषयी मनुष्य तो गहरे पतनके समुद्रमें गिरकर डूबते ही हैं !

गुप्त सन्त और उनके कार्य

अधिकांश सच्चे सन्त प्रायः अपनेको लोगोंमें प्रकट न करके ही जगत्‌में विचरण किया करते हैं। सन्त-परम्पराके परम

गोस्वामी प्रभृति अर्वाचीन अनेक सन्तोंके दर्शन आज भी उनके अन्तरङ्ग भक्तोंको होते हैं। इसमें कोई आश्चर्यकी बात भी नहीं है। यह तो सिद्ध सन्तमण्डलकी बात रही। अस्तु,

इन सन्तोंके सिवा छिपे हुए ऐसे अनेक सन्त हैं—जो विविध स्थानोंमें कार्य करते हुए हमलोगोंमें रह रहे हैं—जो अज्ञातरूपसे इस मण्डलकी दृष्टि और शासनसूत्रमें बँधे रहनेपर भी विभिन्न स्थानोंमें अप्रकटरूपसे साधन कर रहे हैं। अतएव यह नहीं समझना चाहिये कि जितने और जो हमलोगोंकी जानकारी में हैं, वे और उतने ही सन्त हैं। सन्तोंके लिये यह कोई आवश्यक बात नहीं है कि वे संसारमें प्रसिद्ध हों ही। वरं प्रसिद्ध उनमेंसे बहुत थोड़े ही होते हैं और साथ ही यह भी याद रखना चाहिये कि सन्तकी प्रसिद्धि पाये हुए अनेक पुरुष वस्तुत. सन्त होते भी नहीं। उनका केवल सन्तका ऊपरी बानामात्र होता है। मन असन्त तथा विषयी ही होता है। ऐसे लोगोंसे संसारकी बहुत बुराई होती है। ये धर्मसञ्चालनके कार्यमें अयोग्य होते हुए भी जब उसमें अनधिकार प्रवेश कर बैठते हैं, तब अपने हृदयके विकारों और व्याधियोंको ही जगत्में फैलाते हैं, और अपने सम्पर्कमें आनेवाले नर-नारियोंके जीवनोंको पापमय, फलतः दुःख और अशान्तिपूर्ण बनानेमें सहायक होते है। सच्चे सन्त अधिकांश अप्रकट ही रहते है, उनकी कोई ख्याति या प्रसिद्धि नहीं होती। ऐसे सच्चे सन्तोंको पाने और उन्हें पहचानने के लिये सन्त-साधनाका आश्रय करना परम आवश्यक है। सन्तोचित साधनोंका—उपर्युक्त गीतोक्त चालीस साधनोंका अभ्यास करनेसे—ज्यों-ज्यों हमारे अन्दर उन गुणोंका

कृपापर विश्वास करके तन-मन-धनसे उनके शरणापन्न हो जाता है। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि वह सब क्रियाओंको त्यागकर चुपचाप हाथ-पर-हाथ रखकर बैठ जाता है या आलसीकी भाँति तानकर सोता है। वह पुरुषार्थ नहीं करता—इसका अर्थ यही है कि वह पुरुषार्थका अभिमान अपने अन्दर नहीं उत्पन्न होने देता, परन्तु अपने तन-मन-धन—सबको भगवान्‌का समझकर अनवरत उनकी सेवामें तो लगा ही रहता है, क्षणभर भी स्वच्छन्द विश्राम नहीं लेता। वस्तुतः वही परम पुरुषार्थी होता है, जो अपनेको भगवान्‌के परतन्त्र मानकर यन्त्रवत् उनकी सेवामें लगा रहता है। जो मनुष्य यह कहता है कि मैं भगवान्‌के शरणापन्न हूँ, मुझे तो उन्हींकी कृपाका भरोसा है, परन्तु जो भगवान्‌के आज्ञानुसार सेवा नहीं करता, वह या तो स्वयं धोखेमें है या दूसरोंको धोखा दे रहा है। शरणागतिमें साधनका या पुरुषार्थका अथवा यों कहें कि अभिमानयुक्त कर्मका सर्वथा अभाव है; क्योंकि शरणागतिके साधकको साधन या पुरुषार्थका आश्रय नहीं होता। परन्तु उसमें भगवत्सेवारूप कर्मका कभी अभाव नहीं होता। भगवत्सेवाके लिये तो उसका सब कुछ समर्पित ही है। परन्तु ऐसे भक्तको भी ज्ञानकी आवश्यकता है, ज्ञानकी सुदृढ़ नींवपर ही भक्तिकी विशाल और मनोहर अट्टालिका खड़ी हो सकती है और ज्ञानमें प्रेम तो है ही। अतएव यद्यपि इन दोनोंका समन्वय है, तथापि एककी प्रधानतामें दूसरा छिपा-सा रहता है। इससे वह स्पष्ट व्यक्त नहीं होता।

गीतोक्त निष्कामकर्मयोग तो अहैतुकी सक्रिय भक्तिका ही एक रूपान्तरमात्र है। निष्कामकर्मयोगी कर्ममें आसक्ति और

यद्यपि सबके लिये एक-से ही साधन समानरूपसे उपयोगी नहीं हो सकते, तथापि नीचे कुछ ऐसे उपाय लिखे जाते हैं, जिनके साधन करनेसे सन्तभावकी प्राप्तिमें बहुत कुछ सहायता मिल सकती है।

१–शुद्ध सत्य कमाईका परिमित और नियमित लघु भोजन करना।

२–मीठी सत्य वाणी बोलना।

३–सबकी यथायोग्य सेवा करना, परन्तु मनमें ममत्व और अभिमान न आने देना।

४–शिष्य न बनाना।

५–पूजा-प्रतिष्ठा और ख्यातिसे यथासाध्य बचना।

६–तर्क-वितर्क, वाद-विवाद, खण्डन-मण्डन और कलह न करना।

७–अपने इष्ट और साधनको ही सर्वोपरि मानना, परन्तु दूसरेके इष्ट और साधनको न नीचा समझना, न उनकी निन्दा करना।

८–शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिको सदा शुद्ध आध्यात्मिक वायुमण्डलमें रखनेकी चेष्टा करना। यथासाध्य इनको भगवत्सम्बन्धी कार्योंमें ही लगाये रखना।

९–भगवान्‌को सर्वत्र, सर्वदा विराजित देखना।

१०–प्रतिदिन कम-से-कम दो घण्टे एकान्तमें भगवान्‌का ध्यान करना, भगवान्‌से भगवद्भावको पानेकी सच्ची प्रार्थना करना और ऐसा अनुभव करना मानों भगवान्‌की पवित्र शक्ति मेरे अन्दर प्रवेश कर रही है और मेरा हृदय पवित्रसे और

आदेश देते रहना चाहिये। पूर्वाभ्यासवश आत्मासे अनुमति पानेकी इनकी चेष्टा एक-ही-दो बारके आदेशसे नष्ट नहीं हो जायगी। परन्तु जब-जब ये अनुमति माँगें, तभी तब इनसे स्पष्टतया कह देना चाहिये कि 'तुम हमारे अधीन हो—तुम्हें हमारे आज्ञानुसार चलना ही होगा।' और इन्हें बड़ी सावधानीसे निरन्तर भगवान्में लगाये रखना चाहिये।

१३–अपने इष्ट-मन्त्रका या भगवन्नामका स्मरण-चिन्तन जितना अधिक-से-अधिक हो सके, श्रद्धा और विश्वासपूर्वक करना चाहिये।

१४–जहाँतक हो सके, स्त्रियोंसे मिलना-जुलना बन्द कर देना चाहिये। सन्तभावको चाहनेवाली स्त्रियाँ भी पुरुषोंसे अनावश्यक और अधिक न मिलें।

१५–यथासाध्य सांसारिक वस्तुओंका संग्रह कम-से-कम करना चाहिये और संगृहीत वस्तुओंपर एकमात्र परमात्माका ही अधिकार मानना चाहिये।

सन्तभावकी प्राप्तिमें विघ्न

सन्तभावकी प्राप्तिमें प्रधान विघ्न है—कीर्तिकी कामना। स्त्री-पुत्र, घर-द्वार, धन-ऐश्वर्य और मान-सम्मानका त्याग कर चुकनेवाला पुरुष भी कीर्तिकी मोहिनीमें फँस जाता है। कीर्तिकी कामनाका त्याग तो दूर रहा, स्थूल मान-प्रतिष्ठाका त्याग भी बहुत कठिन होता है। जिस मनुष्यकी साधनधारा चुपचाप चलती है, उसको इतना डर नहीं है; परन्तु जिसके साधक होनेका लोगोंको पता चल जाता है, उसको क्रमशः

और उनकी पूजा करना शिष्यका परम कर्तव्य है और उसके लिये लाभदायक भी है; परन्तु उनकी सच्ची पूजा उसी कार्यमें है जो उनके लिये हानिकर नहीं है और जो आध्यात्मिक उन्नतिमें सहायक होनेके कारण हृदयसे उनका इच्छित है। जो मान-सम्मान और पूजा-प्रतिष्ठाके लिये ही सन्तका बाना धारण करता है, वह तो सन्त ही नहीं है। इसलिये सच्चे साधक सन्त मान-सम्मान और पूजा-प्रतिष्ठाकी इच्छा क्यों करने लगे। यदि भ्रमवश करते है तो वह उनके साधनमें विघ्नरूप होनेके कारण उनके लिये महान् हानिकर है। अतएव भक्त और शिष्योंको सन्त और गुरुके लिये विलास-सामग्री जुटानेमें आत्म-संयमसे काम लेना चाहिये; क्योंकि विलास-सामग्रीसे सन्तका यथार्थ सम्मान कभी नही होता। बल्कि त्यागी महात्माको भोग-पदार्थ देना या भोगपदार्थके लिये उनके मनमें लालच उत्पन्न करनेकी चेष्टा करना तो उनका अपमान या तिरस्कार ही करना है। शरशय्यापर पड़े हुए वीरशिरोमणि भीष्मके लटकते हुए मस्तकके लिये रूईका तकिया नहीं शोभा देता, उसके लिये तो अर्जुनके तीक्ष्ण बाणोंका तकिया ही प्रशस्त और योग्य है। इसी प्रकार सन्त-महात्माओंका यथार्थ सम्मान उनके आज्ञा-पालनमें, उनके आदर्श चरित्रके अनुकरणमें और उनके वेषके अनुरूप ही उनकी सेवा करनेमें है। पहुँचे हुए सन्त-महात्मा पुरुष कभी भक्तोंका अत्यन्त आग्रह देखकर उनकी प्रसन्नताके लिये किसी वैध भोग-सामग्रीको स्वीकार कर लेते है, जो निषिद्ध न होनेपर भी उनके स्वरूपके अनुरूप शोभा देनेवाली नहीं है, तो इससे उनका अवश्य ही कुछ भी बनता-बिगड़ता नही; वे

५–शास्त्रार्थ करना ।

६–अपनेको सन्त समझना और दूसरोंको असन्त ।

७–दूसरोंके दोष देखना और उन्हें प्रकट करना ।

८–किसी भी मनुष्यका अपमान करना और किसीकी निन्दा करना ।

९–परचर्चा ।

१०–नाटक-सिनेमा आदि देखना—असत् साहित्य पढ़ना ।

११–अशास्त्रीय कार्यमें रुचि ।

१२–बड़ोंका असम्मान ।

१३–किसी भी जीवसे घृणा करना ।

१४—विपत्तिमें घबराकर और सम्पत्तिमें हर्षसे फूलकर कर्तव्यको भूल जाना ।

१५—जगत्के विषयोंकी प्राप्तिमें जीवनकी सफलता समझना और इस सफलतामें भगवान्की कृपाका या किसी साधन-सिद्धिका अनुभव करना ।

१६—किसी कारणवश किसी कार्यके अकस्मात् सिद्ध हो जानेपर या किसी बातके सत्य हो जानेपर अपनेको सिद्ध मानना और लोगोंको चमत्कार दिखलानेकी इच्छा करना ।

सन्तसे जगत्का उपकार और सन्त-महिमा

सन्तका जीवन ही जगत्के कल्याणके लिये होता है; अतएव उनका जगत्पर जितना उपकार है, उतना और किसीका भी नहीं है । उनका लोकसेवाव्रत और उनका यथार्थ विश्वप्रेम जगत्में जिस कल्याणकी सुधाधारा बहाता रहता है, व~ धारा

आत्मस्वरूप अनुकूलताका स्वाभाविक अनुभव करते हुए ही, जगत्‌के प्राणियोंकी दुःखदायिनी प्रतिकूलताको अनुकूलतामें परिणत करनेके लिये प्रयत्नवान् रहते हैं, उनकी वाणीसे अमर ज्ञानामृत झरता है, उनके नेत्रोंसे प्रेमकी शीतल सुखद ज्योति निकलती है, उनके मस्तिष्कसे जगत्‌का कल्याण प्रसूत होता है, उनके हृदयसे आनन्दकी धारा बहती है। जो उनके सम्पर्कमें आ जाता है, वह पाप-तापसे मुक्त होकर महात्मा बन जाता है। वे जिस देश में रहते हैं, वह देश पुण्यतीर्थ बन जाता है; वे जो उपदेश करते हैं, वह पावन शास्त्र हो जाता है; वे जिन कर्मोंको करते हैं, वे ही कर्म सत्कर्म समझे जाते हैं।

तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि, सुकर्मीकुर्वन्ति कर्माणि, सच्छास्त्रीकुर्वन्ति शास्त्राणि।

(नारदभक्तिसूत्र ६९)

वह देश धन्य है, जहाँ ये रहते हैं, वह माता धन्य है, जिसकी कोखसे ये प्रकट होते हैं, वह मनुष्य धन्य है, जो इनके सम्पर्कमे आता है; वह वाणी धन्य है, जो इनका स्तवन करती है और वे कान धन्य हैं, जिनको इनके उपदेशामृत पान करनेका अवसर मिलता है।

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था
वसुन्धरा पुण्यवती च तेन।
अपारसंवित्सुखसागरेऽस्मिं-
ल्लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः॥

(स्कन्दपुरा

है। फिर उसे किसी वस्तुकी कमीका कभी बोध होता ही नहीं। वह सभीमें सर्वत्र, सर्वथा और सर्वदा एकमात्र परमात्माको देखता है और अपनेको उनसे अभिन्न पाता है। उसकी यह पूर्णता उसकी स्वरूपभूता होती है, इसीका नाम मुक्ति है। दूसरी वह स्थिति है, जिसमें वह अपनेको सदा-सर्वदा भगवान्‌के संरक्षणमें पाता है, जहाँ भगवान् अनन्त हाथों और अनन्त शक्तियोंसे उसकी कमीको पूरा करनेके लिये सदा प्रस्तुत रहते हैं परन्तु उसे भगवान्‌को पाकर किसी कमीका अनुभव होता ही नहीं, वह कृतार्थ हो जाता है—यहाँतक कि मुक्तिकी ओर भी उसकी दृष्टि भूलकर भी कभी नहीं जाती। वह इस बातको पहले ही जान चुकता है कि जगत्‌में जितने भी यज्ञ-तप किये जाते हैं, विभिन्न देवताओंके रूपमें एकमात्र भगवान् ही उन सबके भोक्ता है; अतएव देवोपासनारूप कर्ममें जिनको जो कुछ भी फल मिलता है, सब भगवान्‌के अपरिमित भण्डारसे ही आता है। भगवान् ही सब लोकोंके विभिन्न ईश्वरोंके एकमात्र महान् ईश्वर है और वे भगवान् जीवमात्रके परम सुहृद् होनेके कारण मेरे भी परम सुहृद् है। यह जानते ही उसे शान्ति मिल जाती है। उसे निश्चय हो जाता है कि अब मैं सब प्रकारसे सुरक्षित और पूर्णकाम हो गया; क्योंकि जिनमें समस्त सत्-कर्मोका फल निहित है, वे सब ईश्वरोंके ईश्वर सर्वशक्तिमान् भगवान् जब मेरे परम सुहृद् हैं, तब मुझे किसका डर और किस बातका अभाव रह गया। ऐसी अवस्थामें वह सब प्रकारसे भगवान्‌पर निर्भर करके निश्चिन्त और शान्तचित्त हो जाता है।

आकर जहाँ ले जाना होता है, अपने मुँहसे उठाकर उसे वहाँ ले जाती है और अपना दूध पिलाकर सन्तुष्ट करती है। इसी प्रकार जो मनुष्य किसी भी कामकी सिद्धिके लिये श्रद्धा-विश्वास-पूर्वक भगवत्कृपाकी प्रतीक्षा करते हुए भगवान्‌पर निर्भर करते हैं, उनके कामको भगवान् स्वयं पधारकर पूरा कर देते हैं। नरसी मेहता आदि अनेक भक्तोंके उदाहरण इसमें प्रमाण हैं। परन्तु जहाँतक ऐसा सकामभाव है, वहाँतक भगवान्‌पर निर्भरता आंशिक ही है।

इसके बाद यह होता है कि मनुष्य कुछ चाहता तो है, उसे अभावका अनुभव तो होता है; परन्तु उस अभावकी पूर्ति किस वस्तुसे होगी, इसको वह नहीं जानता। उसे विश्वास होता है कि जिस वस्तुसे मेरे अभावकी पूर्ति होगी, उसको भगवान् जानते हैं और इसलिये वह उस अज्ञात वस्तुके लिये भगवान्‌पर निर्भर करता है। जैसे छोटा शिशु बिस्तरपर पड़ा रोता है, उसे कोई कष्ट है—जाड़ा लग रहा है, मच्छर काट रहे हैं, या और कोई पीड़ा है। वह यह नहीं जानता कि किस वस्तुकी प्राप्ति होनेपर मेरा सङ्कट दूर होगा—वह केवल माँको जानता है और रोकर माँको बुलाता है। माँ आकर स्वयं पता लगाती है कि बच्चा क्यों रो रहा है और पता लगाकर स्वयं उसके कष्ट निवारणका उपाय करती है। इसी प्रकार इस अवस्थामें भक्त अपने लिये उपयोगी अज्ञात फलके लिये भगवान्‌पर निर्भर करता है और उन्हींकी कृपासे कल्याणकारी फलको प्राप्त करके सन्तुष्ट होता है। इसमें फलरूप वस्तुका निर्णय भगवान् करते

भार स्वयं भगवान् अपने ऊपर ले लेते हैं। संसारमें हम देखते हैं कि अल्पज्ञ और अल्पशक्तिवाले होनेपर भी जिनपर हमारा विश्वास होता है, वे वैद्य-डाक्टर जब हमारे इलाजका भार ले लेते हैं, तब हम निश्चिन्त होकर उनपर निर्भर करने लगते हैं। अपना जीवन उन्हें सौंप देते हैं, विश्वासपूर्वक उनकी दी हुई दवा लेते हैं—चाहे वह जहर ही क्यों न हो—और उनके आज्ञानुसार पथ्य भी करते हैं। हमारी असमर्थतामें कोई श्रेष्ठ पुरुष जिनकी शक्ति और हितैषितापर हमारा विश्वास होता है, हमारे जीवन-निर्वाहका भार ले लेते हैं, तब हम निश्चिन्त होकर उनपर अपनेको छोड़ देते हैं। केवटके विश्वासपर नौकामें बैठ जाते हैं, चलानेवालेपर निर्भर करके मोटर और हवाईजहाजमें बैठ जाते हैं और मनमें कोई चिन्ता नहीं करते। तब स्वयं अपने मुँहसे हमारे सुहृद् होनेकी घोषणा करनेवाले सर्वसमर्थ सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ सर्वलोकमहेश्वर भगवान्पर निर्भर करनेमें तो हमारा कल्याण-ही-कल्याण है। वे हमारे परम सुहृद् हैं, इसलिये कभी अकल्याण नहीं कर सकते, सर्वज्ञ हैं, इसलिये हमारा कल्याण किस बातमें है, इसको अच्छी तरह जानते हैं, वे कभी भूल नहीं कर सकते। और सर्वशक्तिमान् हैं, इसलिये हमारा कल्याण अनायास ही कर सकते हैं। और वे यहाँतक जिम्मा लेनेको तैयार हैं कि तुम्हारे लिये जो आवश्यक अप्राप्त वस्तु है, उसकी प्राप्ति मैं करा दूँगा और जो आवश्यक वस्तु प्राप्त है, उसकी रक्षा मैं करूँगा। इतनेपर भी हम यदि उनपर निर्भर करके उनके चिन्तनपरायण नहीं होते, तो फिर हमारे समान मन्दबुद्धि और मन्दभाग्य और कौन होगा।

और न अनन्यचित्तसे चिन्तन ही करता है। बात तो यथार्थमें यह है कि ऐसे निर्भर और अनन्य भक्तके मनमें भगवान्के सिवा और कुछ होता ही नहीं; वह भगवान्पर निर्भर रहकर भगवान्का चिन्तन करनेके लिये ही भगवान्पर निर्भर करके भगवान्का चिन्तन करता है। उसके मनमें लौकिककी तो बात ही क्या, पारमार्थिक 'योगक्षेम' की चिन्ताके लिये भी गुञ्जाइश नहीं होती। वह इस बातको भी नहीं जानता कि 'मुझे किस साधनपथसे चलना चाहिये, और मैं कब अपने लक्ष्यको प्राप्त करूँगा।' उसके लिये कौन-सा साधन उत्तम है, किस बातमें उसका कल्याण है—इस बातको भगवान् ही सोचते हैं। उसके कल्याणका स्वयं अपने (भगवान्के) मनसे निश्चित किया हुआ साधन भगवान् ही उससे करवाते हैं, भगवान् ही उसके द्वारा प्राप्त साधन-सम्पत्तिकी रक्षा करते हैं और भगवान् ही उसके साधनके लक्ष्यको स्वयं वहन करके उसके समीप पहुँचा देते हैं। साधन और सिद्धि दोनोंका भार भगवान् अपने ऊपर ले लेते हैं। इसीसे ऐसा कहा जाता है कि भगवान्पर निर्भर करनेवाला भक्त जिस प्रकार अनायास अतिशीघ्र भगवान्को प्राप्त करता है, उस प्रकार दूसरा कोई भी प्राप्त नहीं कर सकता। इसमें एक विशेषता और है—वह यह कि ऐसा निर्भर भक्त सच्चिदानन्दघन, निष्कल, निष्क्रिय, निर्विकार, निरञ्जन, निर्गुण, सनातन, अव्यक्त और सर्वव्यापी, सर्वाधार, सर्वाश्रय, सर्वेश्वर, सर्वगुणसम्पन्न, सर्वैश्वर्यशाली भगवान्को अपने परम प्रेमास्पद नित्य जीवन-सहचर और परम आत्मीय सुहृद्के रूपमें प्राप्त करता है। परन्तु इस प्रकार निर्भर करनेसे भगवत्-प्राप्ति शीघ्र

भाँति निक्षेप) करके आशा-ममताको छोड़कर और सन्तापसे मुक्त होकर युद्ध करो।' 'न्यास' का अर्थ है निक्षेप यानी डाल देना। कोई वस्तु—कोई काम, किसी दूसरी वस्तुपर या किसी दूसरे पुरुषपर छोड़ देनेका नाम न्यास है। न्यास निक्षेपका ही पर्याय है। 'निक्षेपापरपर्यायो न्यासः।' न्यासके साथ 'सं' उपसर्ग लगानेसे उसका अर्थ होता है—'भलीभाँति छोड देना।' भगवान् कहते हैं कि तुम न युद्धमें विजयी होनेकी आशा करो, न राज्यमें, न युद्धस्थलमें उपस्थित वन्धु-बान्धवोंमें और न अपने शरीरमें ही ममता रक्खो, और न वन्धुवध और पराजयरूप प्रतिकूल फल आदिके कारण मनस्तापको प्राप्त होओ। आसक्ति होगी तो विजयकी आशा रहेगी, अहंभाव होगा तो उसके फलस्वरूप ममता होगी और द्वेष होगा तो मनस्ताप होगा। तुम अहङ्कार और राग-द्वेषसे सर्वथा मुक्त होकर—यह समझकर कि मैं कुछ भी नहीं करता, मैं तो भगवान्‌के शरण हूँ, वे यन्त्री भगवान् ही मुझसे यन्त्रवत् जो कुछ कराना चाहते हैं, वही किया जाता है, इस प्रकार मुझमें सब कर्मोंका भलीभाँति त्याग करके युद्ध करो। तुम्हारे अन्दर न अज्ञान रहे और न अज्ञानके कार्यरूप अहङ्कार, राग, द्वेष, ममता, आशा और सन्ताप आदि ही रहे। तुम बस, मेरे हाथकी कठपुतली बनकर मेरे इशारेपर मैं जो कराऊँ, सो करते रहो!' यह 'न्यासयोग' ही आगे चलकर निर्भरा भक्ति हो जाता है। इसमें भक्तका समस्त भार उसके भगवान्‌पर रहता है; परन्तु भक्त भी इतना परतन्त्र हो जाता है कि वह कर्म या कर्मफलकी तो बात ही क्या, अपने अस्तित्वतकके लिये भी भगवान्‌पर ही निर्भर करता है। जैसे दिनका अस्तित्व सूर्यपर,

कराते हैं, वह उसीको करता है; चाहे वह कर्मका ग्रहण हो या त्याग, क्रूर कर्म हो या सौम्य कर्म, सृजन हो या संहार। जब भगवान् खूब कर्म कराते है, तब वह खूब करता है, जब थोड़ा कराते हैं, तब थोड़ा करता है और जब बिल्कुल नहीं कराते, तब बिल्कुल नहीं करता। उसे न तो करनेसे मतलब है और न नहीं करनेसे ही। वह दोनों ही अवस्थामें अपनी स्थितिमें अविचल स्थित रहता है।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि ऐसे भक्तका सासारिक योग-क्षेम कैसे चलता है। इसका सीधा उत्तर यही है कि भगवान् चलाते है। वैसे ही चलता है। इसमें कोई खास नियम नही है कि ऐसा भक्त लौकिक दृष्टिसे वर्णाश्रमानुसार धन, जन, मान, यश आदिसे सम्पन्न हो, या इनसे सर्वथा हीन हो। दोनों ही तरहके उदाहरण मिलते हैं। इतनी बात अवश्य है कि उसका सारा भार भगवान्पर चला जानेसे न तो उससे कोई निषिद्ध कर्म हो सकता है और न उसे कोई अकल्याणकारी भोग्य-पदार्थ ही वस्तुतः मिल सकता है। जिसका 'योगक्षेम' भगवान् स्वयं देखते हों, उसके लिये ऐसी कोई स्थिति तो हो ही नही सकती कि जिसमें उसके लिये परिणाममें किसी अमङ्गलकी जरा भी सम्भावना हो। हाँ, रहस्यको न समझनेवाले लोग मूर्खतावश मङ्गलमें अमङ्गलकी कल्पना कर सकते हैं। बच्चा साँप पकड़ने दौड़ता है, जलती आगमें हाथ डालना चाहता है, माँ लपककर उसे रोक देती है, नहीं मानता तो स्नेहवश उसे डाँट भी देती है; बच्चेको मनचाही वस्तु न मिलनेसे दुःख होता है, वह समझता है कि मेरा बड़ा अमङ्गल हो गया, मुझे मनचाही चीज

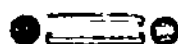
कराते हैं, वह उसीको करता है; चाहे वह कर्मका ग्रहण हो या त्याग, क्रूर कर्म हो या सौम्य कर्म, सृजन हो या संहार। जब भगवान् खूब कर्म कराते है, तब वह खूब करता है, जब थोड़ा कराते हैं, तब थोडा करता है और जब बिल्कुल नहीं कराते, तब बिल्कुल नही करता। उसे न तो करनेसे मतलब है और न नही करनेसे ही। वह दोनों ही अवस्थामे अपनी स्थितिमें अविचल स्थित रहता है।

. यहाँ यह प्रश्न होता है कि ऐसे भक्तका सासारिक योग-क्षेम कैसे चलता है। इसका सीधा उत्तर यही है कि भगवान् चलाते हैं। वैसे ही चलता है। इसमे कोई खास नियम नहीं है कि ऐसा भक्त लौकिक दृष्टिसे वर्णाश्रमानुसार धन, जन, मान, यश आदिसे सम्पन्न हो, या इनसे सर्वथा हीन हो। दोनों ही तरहके उदाहरण मिलते हैं। इतनी बात अवश्य है कि उसका सारा भार भगवान्पर चला जानेसे न तो उससे कोई निषिद्ध कर्म हो सकता है और न उसे कोई अकल्याणकारी भोग्य-पदार्थ ही वस्तुतः मिल सकता है। जिसका 'योगक्षेम' भगवान् स्वयं देखते हों, उसके लिये ऐसी कोई स्थिति तो हो ही नही सकती कि जिसमें उसके लिये परिणाममें किसी अमङ्गलकी जरा भी सम्भावना हो। हां, रहस्यको न समझनेवाले लोग मूर्खतावश मङ्गलमें अमङ्गलकी कल्पना कर सकते हैं। बच्चा साँप पकड़ने दौड़ता है, जलती आगमें हाथ डालना चाहता है, माँ लपककर उसे रोक देती है, नहीं मानता तो स्नेहवश उसे डाँट भी देती है; बच्चेको मनचाही वस्तु न मिलनेसे दुःख होता है, वह समझता है कि मेरा बड़ा अमङ्गल हो गया, मुझे मनचाही चीज

चिन्तन ! भक्त वृत्रासुरके इन शब्दोंके अनुसार भगवान्‌से सदा प्रार्थना कीजिये—

अहं हरे तव पादैकमूल-
दासानुदासो भवितास्मि भूयः।
मनः स्मरेतासुपतेर्गुणांस्ते
गृणीत वाक्कर्म करोतु कायः॥
न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे॥
अजातपक्षा इव मातरं खगाः
स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा
मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥

'हे भगवन् ! तुम्हारे चरण ही जिनका मुख्य आश्रय हैं, मैं पुनः तुम्हारे उन दासोंका भी दास बनना चाहता हूँ। मेरा मन सदा तुम प्राणाधारके गुणोंका स्मरण करे, मेरी वाणी तुम्हारा नामगुणकीर्तन करे और शरीर सदा तुम्हारी सेवारूपी कर्ममें लगा रहे। तुम प्रियतमको छोड़कर मुझको स्वर्ग, ब्रह्माका पद, सार्वभौम साम्राज्य, पातालका राज्य, योगकी दुर्लभ सिद्धियाँ और कैवल्य-मोक्ष भी नहीं चाहिये। हे कमलनयन ! जिनके पाँख नहीं उगे हैं, ऐसे पक्षियोंके बच्चे जैसी अदम्य उत्सुकतासे माँकी बाट देखा करते हैं, भूखे बछड़े जैसे वनमें गयी हुई गायका स्तनपान करनेके लिये छटपटाते हैं और परदेश गये हुए स्वामीकी प्रियतमा पत्नी जैसे पतिको आँखोंसे देखनेके लिये व्याकुल रहती है, वैसे ही मैं भी तुमको देखनेके लिये व्याकुल हो रहा हूँ!'



दो विभाग किये गये—एक वर्णधर्म और दूसरा आश्रमधर्म। वर्णधर्म समाज-जीवनका सुन्दर सङ्गठन करके उसकी भलीभाँति रक्षा करता है और आश्रमधर्म व्यक्तिगत जीवनको धर्मके पवित्र आदर्शपर प्रतिष्ठित करके उसकी सुव्यवस्था करता है और उसको सामाजिक सङ्गठनमें एवं पारिवारिक सुव्यवस्थामें सहायक बनाकर अर्थात् लौकिक अभ्युदयमें स्वाभाविक ही अग्रसर करता हुआ क्रमशः चरम लक्ष्य निःश्रेयस—परब्रह्मकी ओर ले जाता है। इन दोनों धर्मोका परस्पर अङ्गाङ्गिभावसे घनिष्ठ सम्बन्ध होनेके कारण ही इनका एकनाम 'वर्णाश्रमधर्म' है। हिन्दूधर्मका तत्त्व समझनेके लिये वर्णाश्रमधर्मका तत्त्व समझना आवश्यक है। वास्तवमें यह वर्णाश्रमधर्म ही हिन्दूधर्म है। हिन्दूका व्यक्तिगत व्यवहार, उसकी समाजनीति, उसकी अर्थनीति, उसकी राजनीति, उसकी परमार्थनीति—सभी इसी वर्णाश्रमधर्मपर प्रतिष्ठित हैं। सच पूछा जाय तो शताब्दियोंसे लगातार आक्रमण-पर-आक्रमण सहकर भी आज जो हिन्दूजाति जीवित है, इसका प्रधान कारण यह वर्णाश्रमका सुदृढ़ दुर्ग ही है। इस बातको याद रखना चाहिये कि इस वर्णाश्रमधर्मकी रक्षा ही हिन्दूधर्मकी रक्षा है, और वर्णाश्रमधर्मका विनाश ही हिन्दूधर्मका विनाश है।

अँगरेजीके 'रिलिजन' (Religion) शब्दसे हमारे इस व्यापक धर्मका बोध नहीं होता। 'रिलिजन' का अर्थ सामाजिक और व्यक्तिगत कुछ खास-खास विश्वासों और उपासनापद्धतियोंतक ही सीमित है। परन्तु वर्णधर्म तो व्यष्टि और समष्टिरूपमें समस्त मनुष्यजीवनके प्रत्येक क्षणको और उसकी प्रत्येक चेष्टाको

कल्याणके साथ गूँथकर उत्तरोत्तर अभ्युदय और निःश्रेयस—भगवत्प्राप्तिकी ओर ले जाता है। 'रिलिजन' इस व्यापक वर्णाश्रमरूप महान् शरीरका एक अङ्गमात्र है।

वर्णाश्रम

आश्रमधर्मका मूल वर्णधर्म है, और यह वर्णधर्म भगवान्के द्वारा रचित है। स्वयं भगवान्ने कहा है—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।

'गुण और कर्मोंके विभागसे चारों वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) मेरे ही द्वारा रचे हुए हैं।' भारतके दिव्य-दृष्टिप्राप्त त्रिकालज्ञ महर्षियोंने इस सत्यको प्रत्यक्षरूपसे प्राप्त किया और इसी सत्यपर समाजका निर्माण करके उसे सुव्यवस्थित, शान्ति-शीलमय, सुखी, कर्मप्रवण, स्वार्थदृष्टिशून्य और सुरक्षित बना दिया। सामाजिक सुव्यवस्थाके लिये मनुष्योंके चार विभागकी सभी देशों और सभी कालोंमें आवश्यकता हुई है, और सभीमें चार विभाग रहे और रहते भी हैं; परन्तु इस ऋषियोंके देशमें वे जिस सुव्यवस्थितरूपसे रहे, वैसे कहीं नहीं रहे।

अब इन चार विभागोंकी उपयोगितापर थोड़ा विचार कीजिये। समाजमें धर्मकी स्थापना और रक्षाके लिये और समाज-जीवनको सुखी बनाये रखनेके लिये, जहाँ समाजकी जीवन-पद्धतिमें कोई बाधा उपस्थित हो, वहाँ प्रयत्नके द्वारा उस बाधाको दूर करनेके लिये, कर्मप्रवाहके भँवरको मिटानेके लिये, उलझनोंको सुलझानेके लिये और धर्मसङ्कट उपस्थित होनेपर समुचित व्यवस्था देनेके लिये परिष्कृत और निर्मल मस्तिष्ककी

आवश्यकता है। धर्मकी और धर्ममें स्थित समाजकी भौतिक आक्रमणोंसे रक्षा करनेके लिये बाहुबलकी आवश्यकता है। मस्तिष्क और बाहुका यथायोग्य रीतिसे पोषण करनेके लिये धनकी और अन्नकी आवश्यकता है। और उपर्युक्त कर्मोंको यथायोग्य सम्पन्न करानेके लिये शारीरिक परिश्रमकी आवश्यकता है।

इसीलिये मनुष्य-समाज-जीवनका मस्तिष्क 'ब्राह्मण' है, बाहु क्षत्रिय है, ऊरु वैश्य है और चरण शूद्र है। ये चारों एक-ही समाज-शरीरके चार अत्यावश्यक अङ्ग हैं और एक दूसरेकी सहायतापर सुरक्षित और जीवित हैं। घृणा या अपमानकी तो बात ही क्या है, इनमेंसे किसीकी तनिक भी अवहेलना नहीं की जा सकती। न इनमें नीच-ऊँचकी ही कल्पना करनी चाहिये। अपने-अपने स्थान और कार्यके अनुसार चारों ही बड़े हैं। ब्राह्मण ज्ञानबलसे, क्षत्रिय बाहुबलसे, वैश्य धनबलसे और शूद्र जनबलसे बड़ा है—और चारोंकी ही पूर्ण उपयोगिता है। इनकी उत्पत्ति भी एक ही भगवान्‌के शरीरसे हुई है। ब्राह्मणकी उत्पत्ति भगवान्‌के श्रीमुखसे, क्षत्रियकी बाहुसे, वैश्यकी ऊरुसे और शूद्रकी चरणोंसे हुई है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत॥

परन्तु इनका यह अपना-अपना बल न तो स्वार्थसिद्धिके लिये है और न किसी दूसरेको दबाकर स्वयं ऊँचा बननेके लिये ही है। समाज-शरीरके आवश्यक अङ्गोंके रूपमें इनका योग्यतानुसार कर्मविभाग है। और यह है केवल धर्मके पालने-पलवानेके लिये ही। ऊँच-नीचका भाव न होकर यथायोग्य कर्मके

करता है। न शासनपर उसका कोई अधिकार है और न उसे आवश्यकता ही है; क्योंकि ब्राह्मण और क्षत्रिय उसके वाणिज्यमें कभी कोई हस्तक्षेप नहीं करते, स्वार्थवश उसका धन कभी नहीं लेते, वरं उसकी रक्षा करते हैं और अपने ज्ञानबल और बाहुबलसे ऐसी सुव्यवस्था करते हैं कि जिससे वह अपना व्यापार सुचारुरूपसे निर्विघ्न चला सकता है। इससे उसके मनमें कोई असन्तोष नहीं है और वह प्रसन्नताके साथ ब्राह्मण और क्षत्रियका प्राधान्य मानकर चलता है और मानना आवश्यक भी समझता है; क्योंकि इसीमें उसका हित है। वह खुशीसे राजाको कर देता है, ब्राह्मणकी सेवा करता है और विधिवत् आदरपूर्वक शूद्रको भरपूर अन्न-वस्त्रादि देता है।

शूद्र

अब रहा शूद्र। शूद्र स्वाभाविक ही जनसंख्यामें अधिक है। शूद्रमें शारीरिक शक्ति प्रबल है, परन्तु मानसिक शक्ति कुछ कम है। अतएव शारीरिक श्रम ही उसके हिस्सेमें रक्खा गया है। और समाजके लिये शारीरिक शक्तिकी बड़ी आवश्यकता भी है। परन्तु उसकी शारीरिक शक्तिका मूल्य किसीसे कम नहीं है। शूद्रके जनबलके ऊपर ही तीनों वर्णोंकी प्रतिष्ठा है। यही आधार है। पैरके बलपर ही शरीर चलता है। अतएव शूद्रको तीनों वर्ण अपना प्रिय अङ्ग मानते हैं। उसके श्रमके बदलेमें वैश्य प्रचुर धन देता है, क्षत्रिय उसके धन-जनकी रक्षा करता है और ब्राह्मण उसको धर्मका—भगवत्प्राप्तिका मार्ग दिखाता है; न तो स्वार्थसिद्धिके लिये कोई वर्ण शूद्रकी वृत्ति हरण करता है, न

स्वार्थवश उसे कम वेतन देता है और न उसे अपनेसे नीचा मान कर किसी प्रकारका दुर्व्यवहार ही करता है। सब अपनी उन्नतिके साथ उसकी उन्नति करते हैं और उसकी उन्नतिमें अपनी उन्नति और अवनतिमें अपनी अवनति समझते हैं। ऐसी अवस्था में धनबलयुक्त शूद्र सन्तुष्ट रहता है।

परस्पर सहयोग

चारोंमें कोई किसीसे ठगा नहीं जाता, कोई किसीसे अपमानित नहीं होता। एक ही घरके चार भाइयोंकी तरह एक ही घरकी सम्मिलित उन्नतिके लिये चारों भाई अपने-अपने पृथक्-पृथक् आवश्यक कर्तव्यपालनमें लगे रहते हैं। यों चारों वर्ण परस्पर—ब्राह्मण धर्मस्थापनके द्वारा, क्षत्रिय बाहुबलके द्वारा, वैश्य धनबलके द्वारा और शूद्र शारीरिक श्रमबलके द्वारा एक दूसरेकी सेवा करते हुए समाजकी शक्ति बढ़ाते हैं। न तो सब एक-सा कर्म करना चाहते हैं और न अलग-अलग कर्म करनेमें कोई ऊँच-नीच भाव ही मनमें लाते हैं। इसीसे उनका शक्ति-सामञ्जस्य (Balance of Power) रहता है और धर्म उत्तरोत्तर बलवान् और पुष्ट होता है। यह है वर्णधर्मका स्वरूप।

जन्म और कर्मसे वर्ण

इस प्रकार गुण और कर्मके विभागसे ही वर्णविभाग बनता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि मनमाने कर्मसे वर्ण बदल जाता है। वर्णका मूल जन्म है और कर्म उसके स्वरूपकी रक्षामें प्रधान कारण है। इस प्रकार जन्म और कर्म दोनों ही वर्णमें

आवश्यक हैं । केवल कर्मसे वर्णको माननेवाले वस्तुतः वर्णको मानते ही नहीं । वर्ण यदि कर्मपर ही माना जाय, तब तो एक दिनमें एक ही मनुष्यको न मालूम कितनी वार वर्ण वदलना पड़ेगा । फिर तो समाजमें कोई शृङ्खला या नियम ही नहीं रहेगा । सर्वथा अव्यवस्था फैल जायगी । परन्तु भारतीय वर्ण-धर्ममें ऐसी वात नहीं है । यदि केवल कर्मसे वर्ण माना जाता तो महाभारत-युद्धके समय ब्राह्मणोचित कर्म करनेको तैयार हुए अर्जुनको क्षत्रियधर्मका उपदेश गीतामें भगवान् नहीं करते। मनुष्यके पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार ही उसका विभिन्न वर्णोंमें जन्म हुआ करता है ।

स्वधर्म

जिसका जिस वर्णमें जन्म होता है, उसको उसी वर्णके निर्दिष्ट कर्मोंका आचरण करना चाहिये; क्योंकि वही उसका 'स्वधर्म' है । और स्वधर्मका पालन करते-करते मर जाना भगवान् श्रीकृष्णने कल्याणकारक वतलाया है—'स्वधर्मे निधनं श्रेयः ।' साथ ही परधर्मको 'भयावह' भी वतलाया है । यह ठीक ही है, क्योंकि सव वर्णोंके स्वधर्मपालनसे ही सामाजिक शक्ति-सामञ्जस्य रहता है और तभी समाज-धर्मकी रक्षा और उन्नति होती है । स्वधर्मका त्याग और परधर्मका ग्रहण व्यक्ति और समाज दोनोंके लिये ही हानिकर है । खेदकी वात है कि आजकल वर्णधर्मके प्रति हमलोगोंकी आस्था कम हो रही है और हमलोग मनमाना आचरण करनेमें जरा भी नहीं हिचकते । इसका बुरा परिणाम भी हाथों-हाथ प्रत्यक्ष हो रहा है । इस

बुराईसे वचनेके लिये हमें वर्णधर्मके पालनकी अत्यन्त आवश्यकता है।

ब्राह्मणका महत्त्व

वर्णधर्ममें शीर्ष-स्थानीय है ब्राह्मण। दुःखका विषय है कि आज ब्राह्मणके विनाशके लिये भी चारों ओर परोक्ष और अपरोक्षरूपसे चेष्टा हो रही है!! शास्त्रोंने ब्राह्मणकी बड़ी ही महिमा गायी है। शास्त्र कहते हैं कि ब्राह्मणकी उत्पत्ति विराट् पुरुषके या भगवान् श्रीकृष्णके मुखसे हुई है। मनु महाराजका कहना है—

उत्तमाङ्गोद्भवाज्ज्यैष्ठ्याद् ब्रह्मणश्चैव धारणात्।
सर्वस्यैवास्य सर्गस्य धर्मतो ब्राह्मणः प्रभुः॥
तं हि स्वयंभूः स्वादास्यात्तपस्तप्त्वाऽऽदितोऽसृजत्।
हव्यकव्याभिवाह्याय सर्वस्यास्य च गुप्तये॥
यस्यास्येन सदाश्नन्ति हव्यानि त्रिदिवौकसः।
कव्यानि चैव पितरः किं भूतमधिक ततः॥
भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः।
बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः॥
ब्राह्मणेषु च विद्वांसो विद्वत्सु कृतबुद्धयः।
कृतबुद्धिषु कर्त्तारः कर्तृषु ब्रह्मवेदिनः॥
उत्पत्तिरेव विप्रस्य मूर्तिर्धर्मस्य शाश्वती।
सा हि धर्मार्थमुत्पन्नो ब्रह्मभूयाय कल्पते।
ब्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्यामधिजायते।
ईश्वरः सर्वभूतानां धर्मकोशस्य गुप्तये॥
सर्वस्वं ब्राह्मणस्येदं यत् किञ्चिज्जगतीगतम्।
श्रैष्ठ्येनाभिजनेनेदं सर्वं वै ब्राह्मणोऽर्हति॥

(मनुस्मृति १। ९३-१००)

परमात्माके सब अङ्गोंमें उत्तम अङ्ग मुखसे ब्राह्मण उत्पन्न हुआ है, सबसे पहले जन्मा है, वेदको धारण करता है। इसलिये धर्मका अनुशासन करनेमें ब्राह्मण ही सारी सृष्टिका प्रभु है। देवताओंको हव्य और पितरोंको कव्यकी प्राप्ति होगी और उससे सम्पूर्ण जगत्की रक्षा होगी, इस उद्देश्यसे स्वयम्भू ब्रह्माने तप करके सबसे पहले अपने मुखसे ब्राह्मणकी सृष्टि की। जिनके मुखसे देवता सदा हव्य (हवनीय सामग्री) तथा पितर कव्य (श्राद्धादिमें दिये हुए अन्नादि) ग्रहण करते हैं—खाते हैं, उन ब्राह्मणोंसे बढ़कर श्रेष्ठ, भला और कौन हो सकता है? सृष्ट पदार्थोंमें स्थावरोंकी अपेक्षा प्राणधारी श्रेष्ठ हैं, प्राणियोंमें बुद्धिपूर्वक जीवन चलानेवाले श्रेष्ठ हैं, बुद्धिजीवियोंमें मनुष्य श्रेष्ठ हैं और मनुष्योंमें ब्राह्मण सबसे श्रेष्ठ हैं। ब्राह्मणोंमें विद्वान्, विद्वानोंमें शास्त्रानुसार कर्मोंको जाननेवाले और जाननेवालोंमें करनेवाले श्रेष्ठ हैं। इनसे भी वे श्रेष्ठ हैं, जो ब्रह्मको जानते हैं। ब्राह्मणके शरीरकी उत्पत्ति ही धर्मकी सनातन मूर्तिमान् अवस्था है। वह धर्मके आचरण और मोक्षकी प्राप्तिके लिये ही उत्पन्न होता है। ब्राह्मण धर्मके खजानेकी रक्षाके लिये जन्मसे ही पृथ्वीमें सबके ऊपर स्वामी होकर उत्पन्न होता है और सब प्राणियोंका प्रभु माना जाता है। तीनों लोकोंमें जो कुछ भी सम्पत्ति है, वह सब ब्राह्मणकी है। परमात्माके मुखसे जन्म ग्रहण करने तथा सबसे श्रेष्ठ होनेके कारण ब्राह्मण ही सब पदार्थोंको ग्रहण करने योग्य है।

भीष्मपितामह धर्मराज युधिष्ठिरसे कहते हैं—

पितृणां देवतानां च मनुष्योरगरक्षसाम् ।
पुराप्येते महाभागा ब्राह्मणा वै जनाधिप ॥
(महा० अनु० ३३ । १५)

हे राजन् ! महाभाग ब्राह्मण पूर्वकालमें ही पितरोंके, देवताओंके, मनुष्योंके, सर्पोंके और राक्षसोंके पूज्य हैं।

परिवादं च ये कुर्युर्ब्राह्मणानामचेतसः ।
सत्यं ब्रवीमि ते राजन् विनश्येयुर्न संशयः ॥
(महा० अनु० ३३ । १८)

हे राजन् ! जो मूर्ख मनुष्य ब्राह्मणोंकी निन्दा करते हैं, मैं सत्य कहता हूँ कि वे नष्ट हो जाते हैं, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।

श्रेयान् पराजयस्तेभ्यो न जयो जयतां वर ॥
(म० अ० ३३ । २३)

हे महाविजयी ! ब्राह्मणोंसे हार जाना अच्छा है, परन्तु उनको हराना अच्छा नहीं है।

परिवादो द्विजातीनां न श्रोतव्यः कथञ्चन ।
आसीताधोमुखस्तूष्णीं समुत्थाय व्रजेच्च वा ॥
न स जातो जनिष्यद्वा पृथिव्यामिह कश्चन ।
यो ब्राह्मणविरोधेन सुखं जीवितमुत्सहेत् ॥
(म० अ० ३३ । २५-२६)

ब्राह्मणोंकी निन्दा कभी नहीं सुननी चाहिये । यदि कहीं ब्राह्मणनिन्दा होती हो तो वहां या तो नीचा सिर करके चुपचाप बैठा रहे अथवा वहांसे उठकर चला जाय । इस पृथ्वीपर ऐसा कोई भी मनुष्य नहीं जन्मा है और न जन्मेगा ही, जो ब्राह्मणोंसे विरोध करके सुखसे जीवन बितानेका उत्साह कर सके।

ब्राह्मणप्रतिपूजायामायुः कीर्तिर्यशो बलम् ।
लोके लोकेश्वराश्चैव सर्वे ब्राह्मणपूजकाः ॥
त्रिवर्गे चापवर्गे च यशः श्रीरोगशान्तिषु ।
देवतापितृपूजासु संतोष्याश्चैव नो द्विजाः ॥
(महा० अनु० १५६ । ६-१०)

ब्राह्मणोंकी पूजा करनेसे आयु, कीर्ति, यश और बल बढ़ते हैं। इसीसे लोक और लोकेश्वर सभी ब्राह्मणोंकी पूजा करते हैं। धर्म, अर्थ, काम—इस त्रिवर्गको और मोक्षको प्राप्त करनेमें, यश, लक्ष्मीकी प्राप्ति और रोग-शान्तिमें तथा देवता और पितरोंकी पूजामें ब्राह्मणोंको सन्तुष्ट करना चाहिये।

ब्राह्मण प्रसन्न होकर जो भी आशीर्वाद देते हैं, वही पूर्ण स्वस्त्ययन है। श्रीयशोदाजी महर्षि गर्गसे कहती हैं—

आशिषं कर्तुमर्हन्ति प्रसन्नमनसा शिशुम् ।
पूर्णं स्वस्त्ययनं सद्यो विप्राशीर्वचनं ध्रुवम् ॥
(ब्रह्मवैवर्त० श्रीकृष्ण-जन्मखण्ड अध्याय १३)

हे भगवन्! आप प्रसन्न मनसे इस बालक (कृष्ण) को आशीर्वाद दीजिये। ब्राह्मणोंका आशीर्वाद निश्चय ही पूर्ण स्वस्त्ययनरूप तत्काल फल देनेवाला है। पूर्ण आध्यात्मिक ग्रन्थ गीताने भी ब्राह्मणपूजाको तप बतलाया है।

इस प्रकार ब्राह्मणोंके माहात्म्यसे शास्त्र भरे हैं, कितने वचन उद्धृत किये जायँ। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि इनका यह महत्त्व बनावटी नहीं है। ब्राह्मणका स्वरूप ही महत्त्वपूर्ण है। उसका जीवन तपस्वी जीवन है। उसका जन्म केवल धर्म तथा मोक्षके लिये होता है। सांसारिक सुख और भोगोंकी ओर तो ब्राह्मण देखता ही नहीं।

इन्द्रियोंकी आसक्ति शीघ्र होती है, ऐसे कर्मोंमें और शास्त्रविरुद्ध कर्मोंमें कभी न लगना चाहिये। धन होनेपर या न होनेपर भी धनसञ्चयकी चेष्टा ब्राह्मण कभी न करे। इच्छापूर्वक किसी भी इन्द्रियके विषयमें आसक्त न हो; इन्द्रिय स्वभावसे ही किसी विषयमें आसक्त हो जायँ तो उनको वहाँसे हटा ले। वेदके विरुद्ध कुछ भी उपार्जन न करे। नित्य सावधानीके साथ वेदोक्त धर्मका आचरण करे। ब्राह्मणको गाने-बजाने आदिसे अथवा शास्त्रविरुद्ध कर्मोंसे तथा सङ्कटकी दशामें भी बहुत-सा धन मिलता हो, तो भी वैसा धन पानेकी चेष्टा न करे। स्वाध्यायके विरोधी सभी कर्मोंका त्याग कर दे। गृहस्थ ब्राह्मण अपनी आयु, कर्म, धन, विद्या और कुलके अनुकूल ही वेष, वाणी और बुद्धिसे काम लेता हुआ जगत्‌में विचरे। नित्य पञ्चमहायज्ञ करे। (मनुस्मृति)। प्रतिदिन नियमानुसार सन्ध्या-वन्दनादि नित्यकर्म अवश्य ही करे। यदि कोई ब्राह्मण मोहवश सन्ध्या-वन्दनादि नहीं करता तो देवता तथा पितर उसके द्वारा की हुई पूजा या श्राद्धादिको ग्रहण नहीं करते। ब्राह्मण जबतक जिये, नित्य सन्ध्या करता ही रहे। जो ब्राह्मण ऐसा करता है, वे सूर्यके समान तेजस्वी होते हैं। उनके चरणकमलोंसे पृथ्वी पवित्र होती है, वे स्वयं शुद्ध होते हैं और पाप धुल जाते हैं। (ब्रह्मवैवर्त)। ब्राह्मणको नित्य स्वाध्याय तप करना चाहिये। स्वाध्याय ब्राह्मणोंका जीवन है।

ब्राह्मणका कठोर तपोमय जीवन

ब्राह्मणकी जीविकाके साधनोंमें प्रधान छः हैं—वेद पढ़ना-पढ़ाना, यज्ञ करना-कराना और दान देना तथा लेना—ये

स्यहैहिक और केवल आजभरके निर्वाहके लिये संग्रह करनेवाला अश्वस्तनिक कहलाता है। इन चारों प्रकारके संग्रही ब्राह्मणोंमें पहलेकी अपेक्षा अगला उत्तरोत्तर श्रेष्ठ है; अश्वस्तनिक सर्वश्रेष्ठ है।

इस वर्णनसे पता चलता है कि ब्राह्मणोंका जीवन कितना तपःपूर्ण और कठोर साधनामय है। ऐसे क्लेशसहिष्णु ब्राह्मणोंकी जितनी महिमा गायी जाय, उतनी ही थोड़ी है। शास्त्रोंमें ब्राह्मणोंके लिये और भी अनेक वैध और निषिद्ध कर्मोंका तथा आचरणोंका उल्लेख है। वस्तुतः ब्राह्मणधर्म इतना कठोर दायित्वपूर्ण है कि उसके पालनमें पद-पदपर सावधानीकी आवश्यकता होती है। यह असिधाराव्रत है। एक ओर जहाँ ब्राह्मण सबका प्रभु और नियन्त्रणकर्ता है, दूसरी ओर वह स्वाभाविक ही सबके हितमें रत है और इस सर्वभूतहितकी इच्छासे ही अपने ही बनाये नियमोंके कठोर बन्धनमें वह इतना बँधा है कि जरा-सी भूलमें ही अपने स्वरूपसे च्युत हो जाता है। इसीसे उसकी इतनी महिमा है।

यह स्मरण रखना चाहिये कि धर्म ही हिन्दूजातिका प्राण है, और उस धर्मके सञ्चालनका समस्त भार ब्राह्मणके कन्धोंपर है और हमें यह मुक्तकण्ठसे स्वीकार करना चाहिये कि ब्राह्मणने इस भारको बड़ी ही जिम्मेवारीके साथ वहन किया है। तपोमूर्ति स्वार्थशून्य ब्राह्मणका ऋण केवल हिन्दूसमाजपर ही नही है, सारे संसारपर है; क्योंकि उसके उपार्जित ज्ञानसे समस्त संसार ने लाभ उठाया है। वस्तुतः जगत्‌को ज्ञानका प्रकाश देनेवाला यह त्याग और तपकी मूर्ति ब्राह्मण ही है।

कन्दराओंमें जा छिपे हैं; परन्तु गम्भीरतासे ध्यान देनेपर ज्ञात होगा कि अन्य वर्णोंकी अपेक्षा आज भी ब्राह्मणोंमें त्याग और तप अधिक है। यदि हम इस बचे-खुचे त्याग-तपको बचाकर बढ़ा सकेंगे तो कङ्कालमें पुनः प्राण आ जायँगे और हम उसकी शक्तिमयी और तेजोमयी मूर्तिको देखकर पुनः अपनेको सुरक्षित पायेंगे। ब्राह्मण मरा नहीं है, मरेगा भी नहीं। वह छिपा है, दबा है, उसे साधना करके प्रकाशमें लाना होगा। इसका उपाय है ब्राह्मणत्वका सम्मान, ब्राह्मणत्वको पुनः स्वरूपप्रतिष्ठित करनेका आयोजन। ब्राह्मणोंको चाहिये कि धन, वैभव, विलासिता और फैशनका मोह छोड़कर अपने स्वरूपको सम्भाले। उनका गौरव त्यागपूर्ण ब्राह्मणत्वमें है न कि जमींदारों या धनी व्यवसायियोंका अनुकरण करके अधिक खर्चीला और भड़कीला परन्तु दुःख तथा अशान्तिपूर्ण जीवन बनानेमें। उनका आदर्श त्याग है, न कि भोग। प्रभुत्व है, न कि दासत्व। भोगी मनुष्य इन्द्रियविषयोंका दास होता है, यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है।

ब्राह्मणत्वकी रक्षा कर्तव्य

अन्यान्य तीनों वर्णोंको ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि जिससे ब्राह्मणोंके ब्राह्मणत्वकी रक्षा हो, ब्राह्मणोंमें ब्राह्मणत्वके प्रति ममता उत्पन्न हो, वे ब्राह्मण कहलानेमें गौरव समझें और ब्राह्मणके नाते ही उनकी आजीविका सुखपूर्वक चल जाय। यह कभी न सोचें कि पूर्वकालके ब्राह्मण पूज्य थे, आजके नहीं हैं। हम पूछते हैं कि यदि ब्राह्मण गिरे हैं तो क्या क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र धर्मपथपर अग्रसर हुए हैं? दूसरे-दूसरेके धर्मकी ओर

करते हैं, उतना सीधे-सादे संस्कृतज्ञ पण्डितका नहीं करते। जिसमें धन और मान दोनोंकी कमी नजर आती हो, उससे चिपटे रहना भला, कौन पसन्द करेगा ? (यद्यपि आजकल अंगरेजीके बी० ए०, एम्० ए० पास वेकारोंकी संख्या भी बहुत जोरसे बढ़ रही है।) इसीसे आज शास्त्रज्ञ ब्राह्मणोंकी संख्या क्रमशः घट रही है। अतएव तीनों वर्णोंको चाहिये कि सच्चे मनमें ब्राह्मणोंका आदर-सम्मान करें। उनके अभावोंकी पूर्ति और उनकी आजीविकाके लिये प्रयत्न करें। कुछ काल पूर्वतक देवताओंके अनुष्ठान, यज्ञादि कर्म, श्रीहरिकथा तथा पर्वोपर दान तथा ब्राह्मण-भोजनादिकी प्रथा थी, जिससे धर्म-साधनके साथ-ही-साथ ब्राह्मणोंकी आजीविका चलती थी। राजसभाओंमें पण्डित ब्राह्मणोंका सम्मान था। लोग हृदयसे ब्राह्मणोंको पूजते थे। इसीसे उस समय ब्राह्मण बने रहनेमें उनको सुख मालूम होता था। अब क्रमशः उन प्रथाओंका ह्रास हो रहा है। परन्तु इसका फल उत्तम नहीं होगा। देवताओंके सकाम अनुष्ठानोंसे हमारी संस्कृतिकी बड़ी रक्षा होती है, श्रद्धा बढ़ती है और शास्त्रोंका अनुसरण होता है; अतएव सब लोगोंको ब्राह्मणोंके द्वारा पाठ या मन्त्रादिके द्वारा देवताओंकी यथायोग्य पूजा-उपासना अवश्य करवानी चाहिये। जगह-जगह विद्वान् ब्राह्मणोंके द्वारा श्रीहरिकथाकी व्यवस्था करवानी चाहिये, ब्राह्मण-भोजनका आयोजन करना चाहिये और सच्चे मनसे ब्राह्मणधर्मपर आरूढ़ रहनेवाले ब्राह्मणोंका खूब ही सम्मान करना चाहिये। यह याद रखना चाहिये कि बड़े-से-बड़े धनी, व्यवसायी, जज, वकील,

डाक्टर ब्राह्मणकी अपेक्षा धर्मकी दृष्टिसे ब्राह्मणधर्मपर आरूढ़ भिक्षाजीवी ब्राह्मण बहुत ही उत्तम और सर्वथा पूज्य है। अत-एव ब्राह्मणोंको नीची दृष्टिसे न देखकर उनका हृदयसे सम्मान करना चाहिये। उनके त्यागकी—उनकी वृत्तिकी खूब प्रशंस करनी चाहिये। ब्राह्मणोंकी सेवामें जिसका तन, मन, धन ल उसको अपना अहोभाग्य मानना चाहिये—यह याद रखना चाहि

अविद्वांश्चैव विद्वांश्च ब्राह्मणो दैवतं महत्।
प्रणीतश्चाप्रणीतश्च यथाग्निर्दैवतं महत्॥
श्मशानेष्वपि तेजस्वी पावको नैव दुष्यति।
हूयमानश्च यज्ञेषु भूय एवाभिवर्धते॥
एव यद्यप्यनिष्टेषु वर्तन्ते सर्वकर्मसु।
सर्वथा ब्राह्मणाः पूज्याः परमं दैवतं हि तत्॥
(मनु० ९। ३

अग्निको चाहे वेदमन्त्रोंसे प्रकट किया हो चाहे दूस वह जैसे महान् देवता है, वैसे ही ब्राह्मण विद्वान् हो च वह महान् देवता है। तेजस्वी अग्नि श्मशानमें भी होता तथा यज्ञोंमें हवन करनेपर फिर बढ़ जाता ब्राह्मण सब प्रकारके छोटे काम करनेपर भी न क्योंकि वे परम देवता हैं।

ब्राह्मणसे प्रार्थना

अन्तमें ब्राह्मणके चरणोंमें विनम्र प्रार्थन सनातनधर्मकी रक्षाका भार भगवान्ने तुम्हे इसे सँभाले रहो। दूसरोंके प्रमादको दे

करो। तुम क्षमा और त्यागकी मूर्ति हो, अपने स्वरूपको स्मरण करो और साधना करके उसपर प्रतिष्ठित हो जाओ। यह मत समझो कि तुम वकील, बैरिस्टर, मैजिस्ट्रेट या सेठ नहीं हो तो तुम्हारा दर्जा नीचा है; तुम भिक्षाजीवी हो तो धनियोंसे नीचे हो। तुम्हारा त्याग सदा ऊँचा है और ऊँचा रहेगा। अपने धर्ममें, अपनी संस्कृतिमें और अपनी वृत्तिमें गौरव-बुद्धि करो। लोभका अवश्य त्याग करो, दुष्ट प्रतिग्रहसे जरूर बचो; पर शुद्ध दान या दक्षिणा ग्रहण करनेमें अपना अपमान कभी न समझो। उसे तो तुम यजमान और दाताके कल्याणके लिये ग्रहण करते हो। ब्राह्मणत्वके निदर्शक आचार-व्यवहार, वेश-भूषा और कार्यकलापमें अपनेको धन्य समझो। जो लोग तुम्हारी वृत्तिको नीचा समझते हैं, वे स्वयं नीचे हैं। तुम्हारे स्वरूपका उन्हें ज्ञान नहीं है। उनकी भड़कीली पोशाकों, उनके खर्चीले जीवन और उनके राजसी-तामसी ठाटकी माया-मरीचिकासे मोहित मत हो। तुम्हारे त्यागमें ही तुम्हारी महिमा है। भौतिक धन-रत्न तुम्हारे त्यागरूपी परम धनके सामने सर्वथा तुच्छ है, नगण्य हैं। वह समय याद करो, जब बड़े-बड़े सम्राटोंके रत्नमणिमय मुकुट तुम्हारी चरणधूलिसे अभिषिक्त होनेमें अपना गौरव समझते थे। लोग चाहते थे तुम कुछ ग्रहण करके उनके धनको धन्य करो, सेवा स्वीकार करके उनके जीवनको सफल करो; परन्तु तुम उनके धनकी तथा सेवाकी ओर ताकते [illegible] थे। यही तुम्हारी महानता थी! इसपर पुनः प्रतिष्ठित होओ। तुम सबके पथप्रदर्शक हो, तुम जगद्गुरु हो। भगवान् मनु कहते हैं—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥ (२।२०)

इस देशमें उत्पन्न ब्राह्मणसे पृथ्वीके सब मनुष्य अपने-अपने सदाचारको सीखें ।

अपने इस स्वरूपका स्मरण करो, हिन्दू-सनातनधर्मकी अपने तपोबलसे पुनः सुप्रतिष्ठा कर दो, भारतवर्षके लुप्त गौरवको पुनः प्राप्त करा दो और अपने ज्योतिर्मय ज्ञानालोकसे जगत्के समस्त अन्धकारको दूर कर दो । हे पवित्र ब्राह्मण, तुम्हारे पुनीत चरणोंमें यही सादर विनय है ।



वर्णाश्रम-धर्म

चारों वर्णों के धर्म

भगवान् श्रीकृष्ण भक्तवर उद्धवजीसे कहते हैं—

शम, दम, तप, शौच, सन्तोष, क्षमा, कोमलता, मेरी भक्ति, दया और सत्य—ये ब्राह्मण-वर्णके स्वभाव हैं। तेज, बल, धैर्य, शूरवीरता, सहनशीलता, उदारता, पुरुषार्थ, स्थिरता, ब्रह्मण्यता (ब्राह्मण-भक्ति) और ऐश्वर्य—ये क्षत्रिय-वर्णके स्वभाव हैं। आस्तिकता, दानशीलता, दम्भहीनता, विप्रपरायणता और लगातार धन-सञ्चय करते रहना—ये वैश्य-वर्णके स्वभाव हैं। ब्राह्मण, गौ और देवताओंकी निष्कपट भावसे सेवा करना और उसीसे जो कुछ मिल जाय, उसमें संतुष्ट रहना—ये शूद्र-वर्णके स्वभाव है। × × × × अहिंसा, सत्य, अस्तेय, काम, क्रोध और लोभसे रहित होना और प्राणियोंकी प्रिय-हितकारिणी चेष्टामें तत्पर रहना—ये सभी वर्णोंके धर्म है।

ब्रह्मचारी के धर्म

अब चारो आश्रमोंमें पहले ब्रह्मचारीके धर्म बतलाते है—

जातकर्म आदि संस्कारोके क्रमसे उपनयन-संस्कारद्वारा दूसरा जन्म पाकर द्विज-कुमार (ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य-वर्णका बालक) इन्द्रियदमनपूर्वक गुरुगृहमें वास करता हुआ गुरुद्वारा बुलाये जानेपर वेदका अध्ययन करे। ऐसेब्रह्मचारीको चाहिये कि मूंजकी मेखला, मृगचर्म, दण्ड, रुद्राक्ष, ब्रह्मसूत्र, कमण्डलु

समर्पण कर दे। उस ब्रह्मवर्चस्वी निष्पाप बाल-ब्रह्मचारीको चाहिये कि अग्नि, गुरु, आत्मा और समस्त प्राणियोंमें अभिन्न भावसे मेरी उपासना करे। गृहस्थाश्रममें न जानेवाला ब्रह्मचारी स्त्रियोंका दर्शन, स्पर्श, उनसे वार्तालाप तथा हँसी-मसखरी आदि कभी न करे तथा न किसी भी नर-मादा प्राणियोंको विषय-रत होते दूरसे भी देखे। हे यदुकुलनन्दन ! शौच, आचमन, स्नान, सन्ध्योपासन, सरलता, तीर्थसेवन, जप; अस्पृश्य, अभक्ष्य और अवाच्यका त्याग; समस्त प्राणियोंमें मुझे देखना तथा मन, वाणी और शरीर-संयम—ये धर्म सभी आश्रमोंके हैं। इस प्रकार नैष्ठिक ब्रह्मचर्यका पालन करनेवाला अग्निके समान तेजस्वी होता है; तीव्र तपके द्वारा उसकी कर्म-वासना दग्ध हो जानेके कारण चित्त निर्मल हो जानेसे वह मेरा भक्त हो जाता है और अन्तमें मेरे परमपदको प्राप्त होता है। यदि अपने इच्छित शास्त्रोंका अध्ययन समाप्त कर चुकनेपर गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेकी इच्छा हो तो गुरुको दक्षिणा देकर उनकी अनुमतिसे स्नान आदि करे अर्थात् समावर्तन-संस्कार करके ब्रह्मचर्य-आश्रमको छोड़ दे। श्रेष्ठ ब्रह्मचारीको चाहिये कि ब्रह्मचर्य-आश्रमके उपरान्त गृहस्थ अथवा वानप्रस्थ-आश्रममें प्रवेश करे अथवा यदि विरक्त हो तो सन्यास ले ले। इस प्रकार एक आश्रमको छोड़कर अन्य आश्रमका अवश्य ग्रहण करे; मेरा भक्त होकर अन्यथा आचरण कभी न करे अर्थात् निराश्रम रहकर स्वच्छन्द व्यवहारमें प्रवृत्त न हो।

गृहस्थके धर्म

जो गृहस्थाश्रममें प्रवेश करना चाहे, वह अपने अनुरूप

ापत्तिसे रक्षा करे जिस प्रकार कि यूथपति गजराज अपने
ूथके अन्य हाथियों और स्वयं अपने आपको भी (अपनी ही
द्धि और बल-विक्रमसे) विपत्तियोंसे बचाता है। ऐसा धर्म-
रायण नरपति इस लोकमें सम्पूर्ण दोषोंसे मुक्त होकर अन्त
ामयमें सूर्य-सदृश प्रकाशमान विमानपर बैठकर स्वर्गलोकको
ाता है और वहाँ इन्द्रके साथ सुख-भोग करता है।

जिस ब्राह्मणको अधिक अर्थकष्ट हो, वह या तो
ाणिक्वृत्तिके द्वारा व्यापार आदिसे उसको पार करे अथवा
खड्गधारणपूर्वक क्षत्रिय-वृत्तिका अवलम्बन करे; लेकिन
किसी भी दशामें नीच-सेवा रूप श्ववृत्तिका आश्रय न ले।
क्षत्रियको यदि दारिद्र्यसे कष्ट हो तो या तो वैश्यवृत्ति या
मृगया (शिकार) और या ब्राह्मणवृत्ति (पढ़ाने) में कालयापन
करे किन्तु नीच-सेवाका आश्रय कभी न ले। इसी प्रकार आपत्ति-
ग्रस्त वैश्य शूद्रवृत्तिरूप सेवाका और शूद्र प्रतिलोम (उच्च-
वर्णकी स्त्रीमें नीचवर्णके पुरुषसे उत्पन्न) जातिके काष्ठ (घुना)
आदिकी चटाई आदि बुननेकी वृत्तिका आश्रय ले। (ये सब
विधान आपत्कालके लिये ही हैं।) आपत्तिसे मुक्त होनेपर
लोभपूर्वक नीचवृत्तिका अवलम्बन कोई न करे।

गृहस्थ पुरुषको चाहिये कि वेदाध्ययन, स्वधा (पितृ-यज्ञ),
स्वाहा (देव-यज्ञ), बलिवैश्वदेव तथा अन्न-दानादिके द्वारा मेरे
ही रूप देव, ऋषि, पितर और अन्य समस्त प्राणियोंकी यथा-
शक्ति पूजा करता रहे। स्वयं प्राप्त अथवा शुद्धवृत्तिके द्वारा
उपार्जित धनसे तथा अपने द्वारा जिनका भरण-पोषण होता
हो, उन लोगोंको कष्ट न पहुँचाकर न्यायपूर्वक यज्ञादि शुभ

तीसरे भागको वनमें रहकर ही बिताये। वह वनके शुद्ध कन्द, मूल और फलोंसे ही शरीर-निर्वाह करे, वस्त्रके स्थानपर वल्कल धारण करे अथवा तृण, पर्ण और मृग-चर्मादिसे काम निकाल ले। केश, रोम, नख, श्मश्रु (मूछ-दाढ़ी) और शरीरके मैल*आदिको बढ़ने दे, दन्तधावन न करे, जलमें घुसकर नित्य त्रिकाल स्नान करे और पृथ्वीपर सोये। ग्रीष्ममें पञ्चाग्नि तपे, वर्षामें खुले मैदानमें रहकर अभ्रावकाश-व्रतका पालन करे तथा शिशिर-ऋतुमें कण्ठ-पर्यन्त जलमें डूबा रहे—इस प्रकार घोर तपस्या करे। अग्निसे पके हुए अन्नादि अथवा काल पाकर स्वयं पके हुए (फल आदि) से निर्वाह करे। उन्हें कूटनेकी आवश्यकता हो तो ओखलीमें अथवा पत्थरसे कूट ले या दाँतोंसे ही चबा-चबाकर खा ले। अपने उदर-पोषणके लिये कन्द-मूलादि स्वयं ही संग्रह करके ले आये; देश, काल और बलको भलीभाँति जाननेवाला मुनि दूसरेके लाये हुए पदार्थ ग्रहण न करे (अर्थात मुनि इस बातको जानकर कि अमुक पदार्थ कहाँसे लाना चाहिये, कितनी देरतकका खानेसे हानिकारक न होगा और कौन-कौन पदार्थ अपने अनुकूल हैं—स्वयं ही कन्द-मूल-फल आदिका सञ्चय करे, देश-कालादिसे अनभिज्ञ अन्य जनोंके लाये पदार्थोंके सेवनसे व्याधि आदिके कारण तपस्यामें विघ्न होनेकी आशङ्का है)। समयानुसार प्राप्त हुए वन्य कन्द-मूल आदिसे ही देवताओं और पितरोंके लिये चरु और पुरोडाश निकाले। वानप्रस्थ होकर वेद-विहित

* मैल बढ़ने देनेसे तात्पर्य यही है कि उबटन, तेल आदि न लगाये, साधारण मैल तो नित्य त्रिकाल स्नान करनेसे छूटता ही रहेगा। विशेष देहाध्याससे शरीर मले भी नहीं।

[...]ुओंद्वारा मेरा यजन न करे। हाँ, वेद-वेत्ताओंके आदेशानुसार [...]ग्निहोत्र, दर्श, पूर्णमास और चातुर्मास्यादिको पूर्ववत् करता रहे। इस प्रकार घोर तपस्याके कारण (मांस सूख जानेसे) कृश हुआ वह मुनि मुझ तपोमयकी आराधना करके ऋषि-लोकादिमें जाकर फिर वहाँसे कालान्तरमें मुझको प्राप्त कर लेता है। जो कोई इस अति कष्ट-साध्य मोक्ष-फलदायक तपको क्षुद्र फलों (स्वर्गलोक, ब्रह्मलोक आदि) की कामनासे करता है, उससे बढ़-कर मूर्ख और कौन होगा। जब यह नियमपालनमें असमर्थ हो जाय और बुढ़ापेसे शरीर काँपने लगे, तब अपने शरीरमें अग्नियों-को आरोपित करके, मुझमें चित्त लगाकर अर्थात् मेरा स्मरण करता हुआ उस (अपने शरीरसे ही प्रकट हुई) अग्निमें शरीरको भस्म कर दे। यदि पुण्य-कर्म-विपाकसे किसीको अति दुःखमय होनेके कारण नरक-तुल्य इन लोकोंसे पूर्ण वैराग्य हो जाय तो आहवनीयादि अग्नियोंको त्यागकर संन्यास ग्रहण कर ले। ऐ[...] विरक्त वानप्रस्थको चाहिये कि वेद-विधि के अनुसार (अष्टक[...] श्राद्ध और प्राजापात्य-यज्ञसे) यजन करके अपना सर्वस्व ऋत्वि[...] को दे दे और अग्नियोंको अपने प्राणमें लय करके निरपेक्ष ह[...] स्वच्छन्द विचरे। इस विचारसे कि 'यह हमारे लोकको लाँ[...] परमधामको जायगा' स्त्री आदिके रूपसे देवगण ब्रा[...] संन्यास लेते समय विघ्न किया करते हैं (अतः उस समय[...] धान रहना चाहिये)।

संन्यासीके धर्म

संन्यासीको यदि वस्त्र धारण करनेकी आवश्यक[...] [...] कौपीन और एक ऊपरसे ओढ़नेको—बस, इतन[...]

रक्खे और आपत्कालको छोड़कर दण्ड और कमण्डलुके अतिरिक्त और कोई वस्तु अपने पास न रक्खे। पहले देखकर पैर रखे, वस्त्रसे छानकर जल पिये, सत्यपूत वाणी बोले और मनसे भलीभाँति विचारकर कोई काम करे। मौनरूप वाणीका दण्ड, निष्क्रियतारूप शरीरका दण्ड और प्राणायामरूप मनका दण्ड—ये तीनों दण्ड जिसके पास नहीं है, वह केवल बाँसका दण्ड ले लेनेमात्रसे (त्रिदण्डी) संन्यासी थोड़े ही हो जायगा। जातिच्युत अथवा गोघातक आदि पतित लोगोंको छोड़कर चारों वर्णोंकी भिक्षा करे। अनिश्चित सात घरोंसे माँगे, उनसे जो कुछ मिल जाय, उसीसे सन्तुष्ट रहे। बस्तीके बाहर जलाशयपर जाकर जल छिड़ककर स्थल-शुद्धि करे और समयपर यदि कोई और भी आ जाय तो उसको भी भाग देकर बचे हुये सम्पूर्ण अन्नको चुपचाप खा ले (आगेके लिये बचाकर न रक्खे)। जितेन्द्रिय, अनासक्त, आत्माराम, आत्मप्रेमी, आत्मनिष्ठ और समदर्शी होकर अकेला ही पृथ्वीतल पर विचरे। मुनिको चाहिये कि निर्भय और निर्जन देशमें रहे और मेरी भक्तिसे निर्मल-चित्त होकर अपने आत्माका मेरे साथ अभेद-पूर्वक चिन्तन करे। ज्ञाननिष्ठ होकर अपने आत्माके बन्धन और मोक्षका इस प्रकार विचार करे कि इन्द्रिय-चाञ्चल्य ही बन्धन है तथा उनका संयम ही मोक्ष है। इसलिये मुनिको चाहिये कि छहों इन्द्रियों (मन एवं पाँच ज्ञानेन्द्रियों) को जीतकर समस्त क्षुद्र कामनाओंका परित्याग करके अन्तःकरणमें परमानन्दका अनुभव करे। निरन्तर मेरीही भावना करता हुआ स्वच्छन्द विचरे। केवल भिक्षाके लिये ही पुर, ग्राम, गोष्ठ और यात्रियोंमें जाता हुआ

पात्रोंमें अनेक प्रतिविम्व पड़ते हैं, उसी प्रकार सभी प्राणियोंमें एक ही आत्मा है ।

कभी समयपर भिक्षा न मिले तो दुःख न माने और मिल जाय तो प्रसन्न न हो; क्योंकि दोनों ही अवस्थाएँ दैवाधीन हैं । प्राण-रक्षा आवश्यक है, इसलिये आहारमात्रके लिये चेष्टा भी करे; क्योंकि प्राण रहेंगे तो तत्त्व-चिन्तन होगा और उसके द्वारा आत्मस्वरूपको जान लेनेसे मोक्षकी प्राप्ति होगी । विरक्त मुनि-को उचित है कि दैववशात् जैसा आहार मिल जाय—वढ़िया या मामूली, उसीको खा ले; इसी प्रकार वस्त्र और विछौना भी जैसा मिले, उसीसे काम चला ले । ज्ञाननिष्ठ परमहंस शौच, आचमन, स्नान तथा अन्य नियमोंको भी शास्त्र-विधिकी प्रेरणा से न करे, वल्कि मुझ ईश्वरके समान केवल लीलापूर्वक करता रहे । उसके लिये यह विकल्परूप* प्रपञ्च नहीं रहता, वह तो मेरे साक्षात्कारसे नष्ट हो चुका; प्रारब्धवश जवतक देह है, तव-तक उसकी प्रतीति होती है । उसके पतन होनेपर तो वह मुझमें ही मिल जाता है ।

(अवतक सिद्ध ज्ञानीके धर्म कहे, अव जिज्ञासुके कर्तव्य वताते हैं—) जिस विचारवान्‌को इन अत्यन्त दुःखमय विषय-वासनाओंसे वैराग्य हो गया है और मेरे भागवत-धर्मोंसे जो

* भगवान् पतञ्जलिने योगदर्शनमें विकल्पका यह लक्षण किया है—'शब्द-ज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः' अर्थात् जिसमें केवल शब्द-ज्ञान ही हो, शब्दकी अर्थरूप वस्तुका सर्वथा अभाव हो, वह विकल्प है । यह संसार भी—जैसा कि श्रुति भी कहती है—'वाचारम्भणमात्र' अर्थात् शब्दजालरूप ही है, वस्तुतः कुछ नहीं है; इसलिये इसे भी विकल्प कहा है ।

अनभिज्ञ है, वह किन्हीं 'विरक्त' मुनिवरको गुरु मानकर उनकी शरणमें जाय। उन गुरुदेवको मेरा ही रूप जानकर वह अति आदरपूर्वक भक्ति और श्रद्धासे तबतक उनकी सेवा-शुश्रूषामें लगा रहे जबतक कि उसको ब्रह्मज्ञान न हो जाय; तथा उनकी कभी किसीसे निन्दा न करे। जिसने काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य—इन छः शत्रुओंको नहीं जीता, जिसके इन्द्रिय-रूपी घोड़े अति प्रचण्ड हो रहे हैं, तथा जो ज्ञान और वैराग्यसे शून्य है, तथापि दण्ड-कमण्डलुसे पेट पालता है, वह यतिधर्मका घातक है और अपनी इन्द्रियोंके अधिष्ठाता देवताओंको, अपने-को और अपने अन्तःकरणमें स्थित मुझको ठगता है; वासनाके वशीभूत हुआ वह इस लोक और परलोक दोनों ओरसे मारा जाता है।

सबके धर्म

शान्ति और अहिंसा यति (संन्यासी) के मुख्य धर्म हैं, तप और ईश्वर-चिन्तन वानप्रस्थके धर्म हैं, प्राणियोंकी रक्षा और यज्ञ करना गृहस्थके मुख्य धर्म हैं तथा गुरु-सेवा ही ब्रह्मचारीका परम धर्म है। ऋतुगामी गृहस्थके लिये भी ब्रह्म-चर्य, तप, शौच, सन्तोष तथा भूत-दया—ये आवश्यक धर्म हैं और मेरी उपासना करना तो मनुष्यमात्रका परम धर्म है। इस प्रकार स्वधर्म-पालनके द्वारा जो सम्पूर्ण प्राणियोंमें मेरी भावना रखता हुआ अनन्यभावसे मेरा भजन करता है, वह शीघ्र ही मेरी विशुद्ध भक्ति पाता है। हे उद्धव! मेरी अनपायिनी (जिसका कभी ह्रास नहीं होता, ऐसी) भक्तिके द्वारा वह

ालाक होते है, जो जीवनभर दम्भको निभा देते हैं। अत्यन्त ही निकृष्ट जीव हैं और बडे ही मूर्ख हैं। ये वनको व्यर्थ ही नही खोते वर बहुत बडा पापका बोझा जाते हैं। दम्भी-लोग ईश्वरसे नही डरते; वे स्वेच्छाचारी र दुनियाको ठगनेके लिये निरङ्कुश होकर नाना प्रकारके ल वेष धारण करते है। ऐसे लोग असली ईश्वर- जरूरत समझते ही नहीं। ये नास्तिकोमे भी गये-बीते ईश्वरको न माननेवाले ईमानदार नास्तिक तो समझमें ईश्वरको स्वीकार भी कर सकते है, क्योंकि वे सच्चे परन्तु दम्भी मनुष्यके लिये समझनेका और स्वीकार कोई प्रश्न ही नही रहता।

छ लोग ऐसे होते हैं, जो विषयोंके साथ ही भगवान्में प्रेम रखते है। वे समय और सुभीता मिलनेपर सत्सङ्ग, न, पुण्य, नित्यकर्म, स्वाध्याय, भजन आदि भी करते ु भगवान्का महत्त्व बहुत कम समझनेके कारण इनकी क्ति कम नही होती, इससे इनके द्वारा न तो भजन ही और न उसमें शुद्ध निष्कामभाव और अनन्यभाव ही । अवश्य ही ये ईश्वर और पापसे डरते हैं और यथा- पसे बचनेकी कोशिश करते हैं; ऐसे पुण्यकर्मा विषया- विपरीत करनेवाले या कुछ भी न करनेवाले मनुष्योंकी हुत ही अच्छे हैं।

ोड़े ही लोग ऐसे हैं, जिनके मनमें भगवत्प्राप्तिकी इच्छा ई और वे उसके लिये साधनामें लगते हैं; परन्तु उनमें भी थोड़े ऐसे होते हैं, जो ध्येयकी प्राप्तितक साध

बड़े ही चालाक होते हैं, जो जीवनभर दम्भको निभा देते हैं। ये वस्तुतः अत्यन्त ही निकृष्ट जीव हैं और बड़े ही मूर्ख हैं। ये मनुष्य-जीवनको व्यर्थ ही नहीं खोते वर बहुत बड़ा पापका बोझा बाँधकर ले जाते हैं। दम्भी-लोग ईश्वरसे नहीं डरते; वे स्वेच्छाचारी होते हैं और दुनियाको ठगनेके लिये निरङ्कुश होकर नाना प्रकारके समयानुकूल वेष धारण करते हैं। ऐसे लोग असली ईश्वर-भजनकी जरूरत समझते ही नहीं। ये नास्तिकोंसे भी गये-बीते होते हैं। ईश्वरको न माननेवाले ईमानदार नास्तिक तो समझमें आनेपर ईश्वरको स्वीकार भी कर सकते हैं, क्योंकि वे सच्चे होते हैं; परन्तु दम्भी मनुष्यके लिये समझनेका और स्वीकार करनेका कोई प्रश्न ही नहीं रहता।

कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो विषयोंके साथ ही भगवान्में भी कुछ प्रेम रखते हैं। वे समय और सुभीता मिलनेपर सत्सङ्ग, सेवा, दान, पुण्य, नित्यकर्म, स्वाध्याय, भजन आदि भी करते हैं; परन्तु भगवान्का महत्त्व बहुत कम समझनेके कारण इनकी विषयासक्ति कम नहीं होती, इससे इनके द्वारा न तो भजन ही बढ़ता है और न उसमें शुद्ध निष्कामभाव और अनन्यभाव ही आता है। अवश्य ही ये ईश्वर और पापसे डरते हैं और यथा-साध्य पापसे बचनेकी कोशिश करते हैं; ऐसे पुण्यकर्मा विषया-सक्त लोग विपरीत करनेवाले या कुछ भी न करनेवाले मनुष्योंकी अपेक्षा बहुत ही अच्छे हैं।

थोड़े ही लोग ऐसे हैं, जिनके मनमें भगवत्प्राप्तिकी इच्छा जागती है और वे उसके लिये साधनामें लगते हैं; परन्तु उनमें भी बहुत ही थोड़े ऐसे होते हैं, जो ध्येयकी प्राप्तितक साधनामें

बातका बहुत ही दृढ़रूपसे निश्चय कर लें । इस लक्ष्यसे कभी डिगें नहीं । संसारके सुख-दुःख, हानि-लाभ, नाना प्रकारके प्रलोभन किसी तरह भी मनको इस लक्ष्यसे च्युत न कर सकें—इस तरहका निश्चित लक्ष्य बना लें और केवल उसी ओर दृष्टि रखते हुए मार्गके विघ्नोंको वीरता-धीरतापूर्वक हटाते हुए तेज चालसे आगे बढ़ते रहें ।

२—लक्ष्यकी सिद्धिके लिये साधना स्थिर करे । साधना सबके लिये एक-सी नहीं होती । लक्ष्य वह स्थान है, जहाँ सबको पहुँचना है और साधना उसके मार्ग हैं । यदि सब लोग यह कहें कि हम तो एक ही रास्तेसे और एक ही चालसे वहाँ जायँगे तो उनका यह कहना भ्रमयुक्त है; भिन्न-भिन्न दिशाओंमें रहनेवाले भिन्न-भिन्न स्थितियोंके मनुष्योंका एक रास्ते और एक चालसे चलना सम्भव नहीं है । आसाम, कराची, मद्रास और बद्रिकाश्रम—इन चार स्थानोंके चार पुरुष काशी जाना चाहते हैं । परन्तु वे यदि कहें कि हम एक ही मार्गसे और एक ही चालसे जायँगे तो यह उनकी भूल है; क्योंकि वे चार भिन्न-भिन्न दिशाओंमें हैं, उनको अपने-अपने रास्तोंसे ही जाना पड़ेगा; और उन चारों स्थानोंकी दूरीमें, रास्तेकी बनावटमें और सवारियोंमें भी भेद है, ऐसी हालतमें वे एक चालसे भी नहीं चल सकते । हाँ, समीप पहुँचनेपर वे एक रास्तेपर आ सकते हैं । बस, यही बात साधनसंबंधमें है । जो लोग सबको एक मार्ग और एक चालसे चलाना चाहते हैं, वे स्वयं न तो पहुँचे हुए हैं और न मार्गका ही उन्हें अनुभव है । अतएव अपने उपयुक्त साधनाकी जानकारीके लिये किसी जानकारकी शरण लेनी चाहिये । अपनी

है, वह साधना करता ही रहता है; इससे दबे दोषोंको सिर उठानेका अवसर ही नहीं मिलता और क्षीण होते-होते अन्तमें वे मर ही जाते हैं। यह सत्य है कि परमात्माकी प्राप्ति होनेके बाद कोई साधना नहीं करनी पड़ती। उसकी स्वाभाविक ही ऐसी स्थिति होती है, उसमें स्वाभाविक ही ऐसे सद्गुणोंका प्रादुर्भाव हो जाता है कि उसका सङ्ग करके, उसको देखकर, यहाँतक कि उसके गुण सुनकर ही दुराचारी पुरुष भी साधनमें लग जाते हैं। वह कुछ भी करनेकी इच्छा नहीं करता, उसके लिये कुछ भी करना शेष नहीं रह जाता; तथापि उस महापुरुषसे सम्बन्धित शरीर, मन-वाणीसे जो कुछ भी होता है, सब पवित्र और लोककल्याणकारी ही होता है। इसीलिये मुक्त पुरुषोंके लोकसंग्रहार्थ कर्म करनेकी बात कही गयी है।

वस्तुतः भगवत्प्राप्तिके बाद क्या होता है और क्या होना चाहिये—इसकी यथार्थ मीमांसा भगवत्प्राप्तिसे पूर्व कोई कर नहीं सकता और भगवत्प्राप्तिके बाद इसकी आवश्यकता रहती नहीं। परन्तु साधकका तो यही निश्चय होना चाहिये कि अपनेको साधनावस्था और सिद्धावस्था दोनोंमें ही साधनाको पकड़े रहना है। पहले प्राप्तिके लिये, और प्राप्ति होनेपर पूर्व अभ्यासके कारण अथवा लोकसंग्रहार्थ। उसका उसीमें कल्याण है। अतएव किसी भी अवस्थामें साधनाको छोड़ देना साधकके लिये हानिकारक है।

५—साधक तीन चीजोंको बड़ी सावधानीसे प्राप्ति और रक्षा करते रहें—

(१) उच्चभाव—भगवत्प्राप्तिके अतिरिक्त मनमें और कोई

भी कामना कभी न उठने पाये। भगवत्प्राप्तिकी भी कामना न रहकर केवल भजनकी ही कामना हो तो और भी उत्तम है। भगवत्प्राप्ति या मोक्षकी कामना यद्यपि समस्त कामनाओंका सर्वथा नाश करनेवाली होनेसे कामना नहीं है, तथापि विशुद्ध प्रेम, अनन्य शरणागति अथवा तत्त्वज्ञानके सिद्धान्तोंकी उच्चता देखते तो कोई भी कामना—भले ही वह कितनी ही विशुद्ध अथवा उच्च हो—नहीं होनी चाहिये। परन्तु ऐसा न हो तो भी आपत्ति नहीं है। हाँ, भोग-कामना तो सर्वथा त्यागनी ही चाहिये। स्त्री, पुत्र, धन, शरीरका आराम, मान-बड़ाई, स्वर्गसुख आदि इस लोक और परलोकके किसी भी दुर्लभ-से-दुर्लभ माने जानेवाले पदार्थके लिये मनमें कामनाकी गन्ध भी कल्पनामें भी न रहने पाये। यही उच्च भाव है।

(२) **दैवी सम्पत्ति**—भगवत्प्राप्तिकी इच्छा तभी समझी जाती है, जब कि संसारके सारे भोगोंकी इच्छा सर्वथा नष्ट होकर एक भगवान्‌को पानेकी ही अमिट और अति उत्कट लालसा हृदयमें जाग उठे। इस महान् विशुद्ध इच्छाकी जागृति तभी होती है, जब आसुरी सम्पदाका नाश होकर चित्त दैवी सम्पदाका अटूट भण्डार हो जाता है। जबतक एक भी आसुरी सम्पदाकी वस्तु हमारे मनमें है, तबतक मोक्ष या भगवत्प्राप्तिकी कामना त्याग करनेकी बात तो दूर रही, मोक्षकी यथार्थ इच्छा ही नहीं हुई है। साधकको बड़ी ही सावधानीसे आसुरी सम्पदाको खोज-खोजकर उसका नाश कर देना चाहिये।

यह विश्वास रखना चाहिये कि हमारे द्वारा जो कुछ दुष्कर्म बनते हैं, या हमारे हृदयमें जो भी दुर्भाव रहते हैं, उसमें

भूलसे हो, प्रमादसे हो या कमजोरीसे हो, हमारी आत्माकी अनुमति अवश्य रहती है। यदि आत्मा बलपूर्वक मनसे कह दे कि 'आजसे एक भी पापवृत्तिको अपनेमें नहीं रख सकते।' और पापवृत्तियोंको ललकारकर कह दे कि, 'जाओ, निकल जाओ, यहाँसे तुरन्त, यहाँ रहे तो समूल नष्ट हो जाओगे।' तो मनकी हिम्मत नहीं कि एक भी दोषको अपनेमें स्थान दे सके और पापवृत्तियोंकी शक्ति नहीं कि क्षणभर भी वे हमारे अन्दर ठहर सकें। आत्माके समान बलवान् और कोई भी नहीं है। आत्माके ही बलको पाकर सब बलवान् हैं। आत्माकी शक्तिसे ही सबमें शक्ति है। शक्तिका मूल उद्गम स्थान और पूर्ण केन्द्र तो आत्मा ही है। यही सबका सचेतन शक्तिधाम है। भगवान्ने स्पष्ट शब्दोंमें कहा है—

> एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
> जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥
> (गीता ३।४३)

'इस प्रकार आत्माको बुद्धिसे भी परम शक्तिमान् और श्रेष्ठ जानकर अपने द्वारा इन सबको—बुद्धि, मन, इन्द्रिय, शरीरादिको वशमें करके हे महाबाहो! इस ज्ञानियोंके नित्य वैरी और सब पापोंके मूल दुर्जय कामरूपी शत्रुको मार डालो।'

भगवान्की इस वाणीमें यह निश्चय होता है और सन्तोंका ऐसा अनुभव भी है कि आसुरी सम्पदा और उसके प्रधान आधार काम, क्रोध, लोभादिका नाश करके दैवी सम्पदाका अर्जन करना भगवत्कृपासे हमारे लिये कोई बड़ी बात नहीं है, बस आत्मामें बलवती आज्ञाशक्तिका प्रकाश हो जाना चाहिये, जो उसका स्वरूप है, फिर आसुरी सम्पत्तिका विनाश और दै

सम्पत्तिका विकास होते देर नहीं लगती। आत्माकी जागृति होते ही आसुरी सम्पदाएँ भागने लगती हैं और दैवी सम्पदाओंका प्रवाह चारों ओरसे आने लगता है।

(३) अन्तर्मुखी वृत्ति–इन्द्रियोंकी और मनकी दृष्टि सदा बाहरकी ओर ही होती है। इसीसे स्वाभाविक ही चित्तवृत्ति बहिर्मुखी रहती है। साधक यदि विशेषरूपसे सावधान रहें तो उनको साधनाका लक्ष्य विचार-बुद्धिसे भगवान् होनेपर भी क्रियारूपमें विषय-भोग ही बना रह जाता है। वे अपनी प्रत्येक साधनाको बाहरी शक्तिसे शक्तिसम्पन्न बनाने और बाहर ही उसका विकास देखनेकी इच्छा करते हैं। सारी शक्ति भगवान्‌से, जो नित्य हमारे अन्दर आत्मारूपसे भी विराजित हैं, जाती हैं और सारी शक्तियोंसे उन्हींकी हमें पूजा करनी है। इस बातको साधक प्रायः भूल जाते हैं, इससे उनका चित्त बाहर-ही-बाहर भटकता है और इसी हेतुसे वे साधनाके फल स्वरूप अवश्य प्राप्त होनेवाली यथार्थ शान्तिको नहीं पाते। वृत्तिको बाहरसे हटाकर अन्दर लगानेके लिये, विषयरूप संसारसे हटाकर सच्चिदानन्दघन परमात्मामें जोड़नेके लिये यथावश्यक एकान्तवास, जप, स्वाध्याय आदि उपाय करने चाहिये। किसी भी तरहसे हो, चित्त आठों पहर भगवान्‌में ही लगा रहे—ऐसा प्रयत्न किये बिना साधकको सहज ही सफलता नहीं मिलती!

४–साधनाको निरुपद्रव और सफल बनानेके लिये शरीर, वाणी और मन—तीनोंके ही संयमकी आवश्यकता है। शरीरसे चोरी, मैथुन, हिंसा, दूसरेका अपमान, टेढ़ापन या ऐंठ, आरामतलबी, अपवित्रता, व्यर्थ क्रिया और कुसङ्गतिमें बैठना आदिका

त्याग करे। वाणीमें असत्य, अप्रिय, अहितकर वचन, चुगली, निन्दा, अधर्मयुक्त परचर्चा और व्यर्थ वचनोंका त्याग करे। मौन रहनेसे भी वाणीके बहुत दोषोंका नाश हो सकता है। मनसे शोक, निर्दयता, द्वेष, वैर, हिंसा, अशुद्ध विचार, भोग-कामना, परदोषचिन्तन और व्यर्थ चिन्तनका त्याग करना चाहिये। इस विषयमें विवेकयुक्त होकर विशेष सावधानी रखनी चाहिये। एक मनुष्य स्त्रियोंमें नहीं बैठता, परन्तु स्त्रियोंके चित्र देखता है, स्त्रीसम्बन्धी पुस्तकें पढ़ता है, तो वह स्त्रीसङ्ग करता ही है। एक मनुष्य कुसङ्गमें नहीं जाता, परन्तु बुरे-बुरे चित्र देखता है और पुस्तकों आदिमें लिखी गन्दी बातें पढ़ता है, वह भी कुसङ्ग ही करता है। बल्कि मनमें स्त्रीचिन्तन और कुविचार जबतक है, तबतक यही समझना चाहिये कि इनका यथार्थ त्याग हुआ ही नहीं। परन्तु इतना ध्यान रहे कि जिस दोषका जिस किसी प्रकारसे जितने भी अंशमें त्याग हो, उतना ही लाभकारी है। मनमें संयम नहीं होनेपर भी वाणी और शरीरका संयम तो करना ही चाहिये। यह मनके संयममें बहुत सहायक होता है।

साधक यह न समझे कि हम साधन करते ही हैं, फिर इस संयमकी हमें क्या आवश्यकता है। उन्हें याद रखना चाहिये कि जबतक भगवत्प्राप्ति नहीं होती, तबतक हमारे अन्दर रहनेवाले अज्ञानजनित दोषों और विकारोंका सर्वथा नाश नहीं होता, वे संयम, सत्सङ्ग और साधनाके कारण छिपते हैं, दबते हैं और क्षीणबल होते हैं। यदि संयमयुक्त सत्सङ्ग और साधना चलती रहे तो क्षीण होते-होते वे भगवत्प्राप्ति होनेके साथ ही नष्ट हो जाते हैं; परन्तु यदि संयम न रहे तो अनुकूल वाता-

है, वही उत्तम है; क्योंकि उन्हींकी दृष्टि निर्दोष एवं सत्य है। मनुष्यके द्वारा उत्तम कहलानेसे कुछ भी नहीं बनता। भीतरकी न जाननेवाली जनता तो दम्भीकी भी प्रशंसा कर सकती है।

८—साधकको यह दृढ़ और अटूट विश्वास रखना चाहिये कि भगवान्‌के शरणागत, साधनमें लगे हुए सच्चे पुरुषके लिये भगवत्कृपाके बलसे लक्ष्यको प्राप्त करना जरा भी कठिन नहीं है। निराशाकी तो बात ही क्या, उसे कठिनता भी नहीं होती। भगवान्‌पर विश्वास करना सब सफलताओंकी एक कुञ्जी है। भगवान् या आत्माकी शक्ति अप्रतिहत और अमोघ है। जो इस शक्तिका आश्रय लेता है, वह सभी क्षेत्रोंमें निश्चय ही सफल होता है। कोई भी विघ्न ऐसा नहीं, जिसपर विजय पाना इसके लिये असम्भव हो।

हाँ, साधकको यह अवश्य ध्यानमें रखना चाहिये कि भ्रमसे, प्रमादसे और असावधानीसे कहीं वे भगवान्‌की इस अमोघ शक्तिके बदले शरीर और विषयजन्य आसुरी शक्तिका तो आश्रय नहीं ले रहे हैं। उनका मन उन्हें धोखेमें रखकर कहीं दुनियावी पदार्थों, मनुष्यों, साधनों और विचारोंका तो अवलम्बन नहीं पकड़ रहा है।

९—साधनामें सफलता प्राप्त करनेके लिये प्रतिदिन नियमित समयपर सर्वशक्तिमान् परम दयामय भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये। प्रार्थना अपनी भाषामें अपने भावोंके अनुसार की जा सकती है। प्रार्थनाका कैसा रूप होना चाहिये, इस विषयमें नमूनेके तौरपर पाठक-पाठिकाएँ नीचे लिखी पंक्तियोंको ध्यानमें रख सकते हैं—

'हे प्रभो ! मैं सब कुछ भूलकर केवल तुम्हें याद रख सकूँ, सब कुछ खोकर केवल तुम्हें पानेका प्रयत्न करूँ, मुझे ऐसा मन और ऐसी बुद्धि दो ! हे अन्तर्यामी ! मेरे मन-समुद्रमें जो-जो तरङ्गें उठती हैं, तुमसे एक भी छिपी नहीं है; प्रभो ! इन सारी तरङ्गोंको मिटाकर इसे शान्त कर दो, इस समुद्रको क्षीरसागर बनाकर तुम स्वयं मेरी माता श्रीलक्ष्मीजीसहित इसमें विराजो, अथवा इसको बिलकुल सुखा ही दो।'

'हे महामहिम ! मैं बड़ा ही मूढ़ हूँ; इसीसे तुम्हारे चरणोंकी ओर न झुककर, तुम्हारी अलौकिक अनूप रूपसुधाके लिये न तरसकर बुद्धिमान् और अनुभवी पुरुष जिन भोगोंको दुःखप्रद, अशान्तिप्रद और नरकप्रद बतलाते हैं, उन्हींके पीछे पागल हो रहा हूँ। इसका कारण यही है कि मैं मूर्ख तुम्हारी महान् महिमाको, तुम्हारे अनन्त गुणोंको, तुम्हारे परम तत्त्वको, तुम्हारे गूढ़तम रहस्यको नहीं जानता; जानूँ भी कैसे । मैं तो मूढ़ हूँ ही, बड़े-बड़े विद्वान् तथा तपस्वी, ज्ञानी और योगी भी तुम्हारे यथार्थ स्वरूपको नहीं पहचानते । तुम्हें वही पहचान सकते हैं, वही जान सकते हैं, जिनको कृपापूर्वक तुम अपनी पहचान बता देते हो, अपनी जानकारी करा देते हो; तो प्रभो ! मुझपर भी कृपा करके अपनी पहचान मुझे करा दो न। तुम्हारी महान् महिमाके ज्ञानमें मेरी मूढ़ताको मिटते क्या देर लगेगी ।'

'सुना है तुम्हारी ओर आकर्षित हुए बिना, तुम्हें चाहे बिना तुम कृपा नहीं करते; तो क्या तुम्हारी कृपामें भी विषमता है ? नहीं, नहीं ! ऐसा नहीं हो सकता। तुम तो समता-

की मूर्ति हो, तुम्हारे लिये अपना-पराया कोई नहीं; फिर क्या बात है जो मैं तुम्हारी कृपासे वञ्चित हूँ ? महात्मालोग कहते हैं, प्रभुकी तो सभी जीवोंपर अपार कृपा है; परन्तु उस कृपाका लाभ उन्हींको होता है, जो उसे पहचानते हैं, उसका अनुभव करते हैं। ठीक है, यही बात होगी; पर मैं मूढ़ तुम्हारी उस अनन्त असीम सर्वत्रव्यापिनी कृपाको कैसे पहचानूं, कैसे अनुभव करूँ ? इसके लिये भी तुम्हींको कृपा करनी पड़ेगी, तुम्हीं अपनी इस महती कृपासे मुझे दर्शन करा दो; नहीं तो ऐसे अपने भक्त सन्तोंकी कृपा मुझे दिला दो, जो तुम्हारी परम कृपाको पहचान-जानकर उससे लाभ उठा रहे हैं। प्रभो ! मेरी नीचताकी ओर न देखकर अपने विरुदकी ओर देखो !'

'पर मैं मूढ़ सन्तोंको पाऊँ कहाँ ? उन्हें पहचानूं कैसे ? यह काम भी तुम्हारी कृपाको ही करना पड़ेगा। मुझे सच्चे सन्तसे मिला दो और उसका परिचय भी करा दो, जिसके अनुग्रहसे मैं तुम्हारी कृपाको पहचान सकूं, जिसके सङ्गसे मेरे हृदयसे अज्ञानका परदा दूर हो जाय, जिसके सेवनसे मेरी मोहकी गाँठें टूट जायँ और जिसका हाथ पकड़कर मैं तुम्हारे चरणोंतक पहुँचकर तुम्हारी पावन चरण-धूलि प्राप्तकर अपनेको धन्य कर सकूं।'

'दयामय ! मेरे नीच जीवनकी प्रत्येक बातका तुम्हें पता है; तुमसे क्योंकर छिपाऊँ, क्यों छिपाऊँ और क्या छिपाऊँ ? लोग मुझे अच्छा समझते हैं; परन्तु मैं कैसा हूँ, इसको तुम तो भलीभाँति जानते हो ! यह दम्भ तुम्हारे मिटाये ही मिटेगा और तुम्हीं इस नीच जीवनको पवित्र और दिव्य जीवन बना

सकोगे। मैं नीच, दम्भी होनेपर भी जब तुम्हारा कहाने लगा हूँ, तब तुम कृपा करके मेरे दम्भ-पाखण्ड और काम-क्रोधको सर्वथा मिटाकर अपना क्यों नही बना लेते, मेरे नाथ? सदा न सही, कभी-कभी तो मेरा हृदय सचमुच ही तुम्हें चाहता है, तुम्हारा ही बनना चाहता है; फिर तुम क्यों नही मुझे अपनाते? सम्भव है मेरी इस चाहमें भी सचाई न हो, पूर्णता न हो, मन धोखा देता हो; पर इसके लिये मैं क्या करूँ, मेरे स्वामी! चाहको भी तुम्हीं अपनी सहज कृपासे सच्ची, पूर्ण और अनन्य बना लो!'

'मनमोहन! मेरे मनको अपनी माधुरीसे मोह लो। मेरे मनमें जो मान, यश और विषय-सुखकी इच्छारूपी आग जल रही है, इसे तुम्हीं अपने कृपा-वारिसे बुझा दो। प्रभो! मैं केवल तुम्हींको चाहूँ, केवल तुम्हीको अपना सर्वस्व समझूँ, तुम्ही मेरे प्राणाधार और प्राण हो—तुम्ही मेरे आत्मा और परमात्मा हो, इस बातको जानकर मैं केवल तुम्हीसे प्रेम करूँ, तुम्हारे इस प्रेम-प्रवाहमें मेरा अपना माना हुआ धन-जन, मान-मोह, सब बह जाय। तुम्हारे प्रेमसागरमें सब कुछ डूब जाय। मैं केवल तुम्हारी ही झाँकी करता रहूँ—ऐसा सौभाग्य दे दो, मेरे प्रियतम!'

'फिर सारे जगत्‌में मुझको तुम्ही दिखायी पड़ने लगो, सारा जगत् तुम्हीं हो जाओ। मैं सबमें, सब ओर, सदा-सर्वदा तुम्हींको देखूँ, सब तुम्हारे ही स्वरूपमें परिणत हो जायँ। अहा! वह दिन कैसा सुदिन होगा, वह घड़ी कैसी शुभ घड़ी होगी, वह क्षण कैसा मधुर क्षण होगा और वह स्थिति कैसी आनन्दमयी होगी, जब ऐसा हो जायगा। तब इस जगत्‌में मेरे लिये

कोई पराया नहीं रहेगा; तब मेरे मनके राग-द्वेष, वैर-विरोध, सुख-दु:ख आदि सारे द्वन्द्व मिट जायँगे और मुझे सब ओर विशुद्ध प्रेम, सब ओर अपार आनन्द, सब ओर अनन्त शान्ति और सब ओर सौन्दर्य-माधुर्यभरी तुम्हारी मनमोहिनी मूर्ति दिखायी देगी। मेरी साधना सफल हो जायगी, मैं निहाल हो जाऊँगा; क्योंकि उस समय मैं और तुम—बस, हम दो ही रह जायँगे। मैं तुम्हारी मनमानी सेवा करूँगा और तुम उस सेवाको स्वीकारकर मेरी सेवा करोगे! सभी बातें मेरे मनकी होंगी। नहीं, तब मेरा मन भी तो मेरा नहीं रहेगा, वह तो तुम्हारे ही मनकी छाया बन जायगा; अत: सब तुम्हारे ही मनकी होंगी। तुम जबतक अपने महान् सङ्कल्पसे मुझे यों अलग रख-कर मुझसे खेलोगे, तबतक मैं परम धन्य और परम सुखी बना तुम्हारे साथ तुम्हारी रुचिके अनुसार खेलता रहूँगा और तुम जिस क्षण अपने सङ्कल्पको छोड़कर अपने उस खेलको समेटकर मुझे आलिङ्गन करना चाहोगे, उसी क्षण मैं तुम्हारे विशाल हृदयमें समा जाऊँगा। यह खेल भी कैसा मधुर होगा, मेरे मधुरिमामय मोहन! मेरा यह सुख-स्वप्न सच्चा कर दो, मेरे सनातन स्वामी!'

'जबतक ऐसा न हो, तबतक इतना तो हो ही जाय—

(१) मैं एक क्षण भी तुम्हारे पवित्र स्वरूप और मधुर नामको न भूलूँ।

(२) जगत्में किसी भी प्राणीका मेरेद्वारा किसी भी रूपमें अहित न हो, मैं सभीका हित चाहूँ और हित करूँ।

(३) विषय-सुख, धन-सम्पत्ति, मान-यशकी इच्छा कभी मनमें न पैदा हो।

(४) जीवनका प्रत्येक क्षण तुम्हारे स्मरणसहित तुम्हारी सेवामें बीते, जगत्‌के सभी जीवोंकी मैं तुम्हारे नाते सदा विनम्र भावसे सेवा करता रहूँ।

(५) मेरा तन-मन सदा पवित्र रहे, एक भी बुरा कार्य शरीरसे न हो, एक भी बुरा विचार मनमें न आने पाये।

(६) जीवनका लक्ष्य केवल तुम्हींको पाना हो।

(७) तुम्हारे प्रत्येक विधानमें मुझे सन्तोष रहे और सांसारिक दृष्टिमें मैं भयानक-से-भयानक दुःखमयी स्थितिमें भी कृतज्ञ हृदयसे तुम्हारा स्मरण करूँ और अपार आनन्दका अनुभव करूँ।

(८) तुम्हारे लिये मैं बड़े ही सुखसे, अपार उल्लाससे मान और प्राणोंका त्याग करनेको तैयार रहूँ और करूँ।

(९) इन्द्रियाँ और मन पूर्णरूपसे संयत रहें और उनसे सदा तुम्हारी सेवा होती रहे।

(१०) मेरी अपनी वासना, कामना, इच्छा—कुछ भी न रहे। मोक्षकी भी नहीं। मैं तो बस, तुम खिलाड़ीके हाथका खिलौना बना रहूँ। यन्त्रकी पुतलीकी भाँति तुम्हारे नचाये नाचूँ, उठाये उठूँ, बैठाये बैठूँ, सुलाये सोऊँ, रुलाये रोऊँ, हँसाये हँसूँ, जिलाये जीऊँ और मारे मर जाऊँ। मैं अपने मनसे कुछ भी न करूँ, मेरा अपना मन ही न रहे। तुम जो कुछ कराना चाहो, वही मेरे-द्वारा बिना बाधा और बिना सङ्कोच होता दिखलायी दे। मेरे लिये सुख-दुःख, मानापमान, हानि-लाभ—सब समान हो जायँ।

(११) परन्तु हे मेरे परम सुहृद् ! मैं जो प्रार्थना करके तुमसे कुछ चाहता हूँ, यह भी तो मेरी मूढ़ता ही है। तुम तो सब जानते ही हो और परम सुहृद् होनेके कारण मेरे बिना ही कहे तुम सदा मेरा अशेष कल्याण ही करते हो। मेरे कल्याणकी जितनी चिन्ता तुमको है, उतनी मुझको तो कभी हो ही नहीं सकती। मैं इस बातको यथार्थत: जान लेता तो फिर क्यों तुमसे कुछ माँगकर अपना अविश्वास प्रकट करता ? फिर तो मैं तुम्हारा प्रेमपूर्वक अनन्यचिन्तन ही करता; तुम कल्याणमय जो कुछ भी करते, उसमें मेरा परम कल्याण ही तो होता। अनुभवी भक्त कहा करते हैं कि तुम्हारी अपार अहैतुकी नित्य दयाका रहस्य न जाननेके कारण ही मनुष्य तुमसे दयाकी भीख माँगता है—तुम्हारे सहज कल्याणकारी परम सुहृद्-स्वरूपपर विश्वास न होनेके कारण वह तुमसे भोग-सुख और मुक्तिके आनन्दकी कामना करता है। तुम्हारे प्रति पूरा भरोसा न होनेके कारण ही साधक अपनी पारमार्थिक माँग तुम्हारे सामने रखता है। हे प्रभो ! मेरे इस अज्ञान और अविश्वासका, मेरी इस अश्रद्धा और अनास्थाका नाश कर दो—जिससे मैं केवल तुम्हारे चिन्तनपरायण ही हो रहूँ। तुम्हारे चिन्तनको छोड़कर मुझे अन्य किसी वस्तुकी आवश्यकता ही न हो—स्मृति ही न हो !'

इन भावोंकी प्रार्थना साधकको सच्चे हृदयसे श्रद्धा-विश्वासके साथ प्रतिदिन एकान्तमें करनी चाहिये।

१०—साधकको सदा आत्मनिरीक्षण करते रहना चाहिये। चित्तमें बुरे और अपवित्र विचारोंका अभाव और विषयचिन्तनमें

क्रमशः कमी होने लगे; भगवान्में अहैतुकी प्रीति, निष्कामभाव, शान्ति, एकाग्रता, आनन्द, सन्तोष, समता, प्रेम आदि गुणोंका प्रादुर्भाव होने लगे तो समझना चाहिये कि उन्नति हो रही है। जबतक ऐसा न हो, तबतक यही मानना चाहिये कि अभी यथार्थ साधनाके सत्य पथपर चलना आरम्भ नहीं हुआ है। यह याद रखना चाहिये कि असत् विचार ही पारमार्थिक अवनतिका और सत् विचार ही पारमार्थिक उन्नतिका प्रधान कारण है। पुराने असत् विचार नष्ट हों, नये न पैदा हों—इसके लिये सावधानीके साथ असत्-सङ्गका सब प्रकारसे त्याग करना चाहिये, और सत् विचारोंकी जागृति, उत्पत्ति और वृद्धिके लिये सत्सङ्ग, सत्-ग्रन्थोंका स्वाध्याय, सत्-चर्चा, सदाचारका पालन, सत्-कर्म आदि उपाय करने चाहिये। असत् विचारोंके और असत् कर्मोंके बढ़नेमें प्रधान कारण विषयचिन्तन है। अतएव जहाँतक बन सके, विषयचिन्तनको चित्तसे हटानेकी साधकको भरपूर चेष्टा करनी चाहिये। चित्त जितना-जितना ही विषयचिन्तनसे रहित होगा और भगवच्चिन्तनमें लगेगा, उतना-उतना ही साधक परमार्थके पावन पथपर अग्रसर होता रहेगा।

११—चित्तको प्रशान्त और भगवदभिमुखी बनानेके लिये प्रतिदिन कुछ समयतक नियमपूर्वक भगवान्का ध्यान अवश्य करना चाहिये।

पहले ध्येय वस्तुका स्वरूप निश्चय कर लें, इसीको धारणा कहते हैं; फिर उस ध्येयस्वरूपमें चित्तको एकाग्र करके उसीमें चित्तनिरोध करनेकी चेष्टा करें।

(११) परन्तु हे मेरे परम सुहृद् ! मैं जो प्रार्थना करके तुमसे कुछ चाहता हूँ, यह भी तो मेरी मूढ़ता ही है। तुम तो सब जानते ही हो और परम सुहृद् होनेके कारण मेरे विना ही कहे तुम सदा मेरा अशेष कल्याण ही करते हो। मेरे कल्याणकी जितनी चिन्ता तुमको है, उतनी मुझको तो कभी हो ही नहीं सकती। मैं इस वातको यथार्थतः जान लेता तो फिर क्यों तुमसे कुछ माँगकर अपना अविश्वास प्रकट करता ? फिर तो मैं तुम्हारा प्रेमपूर्वक अनन्यचिन्तन ही करता; तुम कल्याणमय जो कुछ भी करते, उसमें मेरा परम कल्याण ही तो होता। अनुभवी भक्त कहा करते हैं कि तुम्हारी अपार अहैतुकी नित्य दयाका रहस्य न जाननेके कारण ही मनुष्य तुमसे दयाकी भीख माँगता है—तुम्हारे सहज कल्याणकारी परम सुहृद्-स्वरूपपर विश्वास न होनेके कारण वह तुमसे भोग-सुख और मुक्तिके आनन्दकी कामना करता है। तुम्हारे प्रति पूरा भरोसा न होनेके कारण ही साधक अपनी पारमार्थिक माँग तुम्हारे सामने रखता है। हे प्रभो ! मेरे इस अज्ञान और अविश्वासका, मेरी इस अश्रद्धा और अनास्थाका नाश कर दो—जिससे मैं केवल तुम्हारे चिन्तनपरायण ही हो रहूँ। तुम्हारे चिन्तनको छोड़कर मुझे अन्य किसी वस्तुकी आवश्यकता ही न हो—स्मृति ही न हो !'

इन भावोंकी प्रार्थना साधकको सच्चे हृदयसे श्रद्धा-विश्वासके साथ प्रतिदिन एकान्तमें करनी चाहिये।

१०—साधकको सदा आत्मनिरीक्षण करते रहना चाहिये। चित्तमें वुरे और अपवित्र विचारोंका अभाव और विषयचिन्तनमें

क्रमशः कमी होने लगे; भगवान्‌में अहैतुकी प्रीति, निष्कामभाव, शान्ति, एकाग्रता, आनन्द, सन्तोष, समता, प्रेम आदि गुणोंका प्रादुर्भाव होने लगे तो समझना चाहिये कि उन्नति हो रही है। जबतक ऐसा न हो, तबतक यही मानना चाहिये कि अभी यथार्थ साधनाके सत्य पथपर चलना आरम्भ नहीं हुआ है। यह याद रखना चाहिये कि असत् विचार ही पारमार्थिक अवनतिका और सत् विचार ही पारमार्थिक उन्नतिका प्रधान कारण है। पुराने असत् विचार नष्ट हों, नये न पैदा हों—इसके लिये सावधानीके साथ असत्-सङ्गका सब प्रकारसे त्याग करना चाहिये, और सत् विचारोंकी जागृति, उत्पत्ति और वृद्धिके लिये सत्सङ्ग, सत्-ग्रन्थोंका स्वाध्याय, सत्-चर्चा, सदाचारका पालन, सत्-कर्म आदि उपाय करने चाहियें। असत् विचारोंके और असत् कर्मोंके बढ़नेमें प्रधान कारण विषयचिन्तन है। अतएव जहाँतक बन सके, विषयचिन्तनको चित्तसे हटानेकी साधकको भरपूर चेष्टा करनी चाहिये। चित्त जितना-जितना ही विषयचिन्तनसे रहित होगा और भगवच्चिन्तनमें लगेगा, उतना-उतना ही साधक परमार्थके पावन पथपर अग्रसर होता रहेगा।

११—चित्तको प्रशान्त और भगवदभिमुखी बनानेके लिये प्रतिदिन कुछ समयतक नियमपूर्वक भगवान्‌का ध्यान अवश्य करना चाहिये।

पहले ध्येय वस्तुका स्वरूप निश्चय कर लें, इसीको धारणा कहते हैं; फिर उस ध्येयस्वरूपमें चित्तको एकाग्र करके उसीमें चित्तनिरोध करनेकी चेष्टा करें।

ध्येयस्वरूप अपनी-अपनी रुचिके अनुसार भिन्न-भिन्न
ारके हो सकते हैं। यहाँ ध्यानकी सुगमताके लिये कुछ
यस्वरूप लिखे जाते हैं। वस्तुतः ध्येयस्वरूप एक ही परमात्माके
। एक ही परमात्माके अनेक लीलास्वरूप हैं। इनमें छोटे-
ड़े या शुद्ध-अशुद्धकी कल्पना अपना अपराध है। अपनी-अपनी
रुचिके अनुसार जिनका मन जिस स्वरूपमें लगे, उनको उसी
स्वरूपका ध्यान करना चाहिये।

(१) एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही समस्त विश्वमें
व्याप्त हैं, यह सारा विश्व भी उन्हींमें है—यह निश्चय करके
विचारके द्वारा अपने 'अहं' को इस व्यष्टि शरीरसे अलग करके
विश्वात्मा समष्टिमें उसकी स्थापना कर दे। और फिर विचार-
के द्वारा समष्टिकी व्यापक दृष्टिसे देखे कि समस्त विश्व एक
मुझमें ही वसा हुआ है; जितने भी जड-चेतन जीव हैं, सव मुझमें
हैं और मैं समानरूपसे उन सवमें व्याप्त हूँ। जगत् मुझमें
कल्पित है, केवल यह द्रष्टा आत्मा ही सत्य है। कल्पना कीजिये
कि जैसे एक छोटे कमरेका आकाश जव सर्वव्यापी महान्
आकाशके साथ अपनी अभिन्नताका अनुभव करता है, तव उ
यह मालूम होता है कि सव कमरे ही नहीं, समस्त देश एक मुझ
ही वसे हुए हैं और सव कमरोंमें—छोटी-से-छोटी कोठरीमें भी
ही व्याप्त हूँ। वैसे ही समस्त जगत्में एकमात्र अपने आत्म
ही विस्तार देखे। यद्यपि आकाशका उदाहरण सच्चिदानन्द
परमात्माके लिये ठीक वैठता नहीं; क्योंकि आकाश
महाभूतोंमें एक भूत है; वह प्रकृतिका कार्य है, परिच्छि
सीमित है, जड है और विनाशी है। परमात्मा सभी

आकाशसे अत्यन्त विलक्षण हैं। परन्तु पाञ्चभौतिक सृष्टिमें सबकी अपेक्षा अधिक विस्तृत और महान् आकाश ही है, अतएव समझनेके लिये आकाश का ही उदाहरण ठीक माना जाता है।

फिर द्रष्टारूप इस समष्टि आत्मामें दीखनेवाले इस जगद्रूप कल्पित दृश्यका भी अभाव कर दे। एक परमात्माके अतिरिक्त और कुछ है ही नही; जगत् नही, जगत्को विषय करनेवाली इन्द्रियाँ नहीं, मन नहीं, चित्त नही, बुद्धि नहीं, अहङ्कार नहीं, वस, एकमात्र परमात्मा ही हैं। उन परमात्माका वोध भी परमात्माको ही है। वे परमात्मा सत्स्वरूप हैं, चेतनस्वरूप हैं, आनन्दस्वरूप हैं। वे सत्, चित् और आनन्दसे अभिन्न हैं और उनकी इतनी घनता है कि अन्य किसीके लिये वहाँ तनिक भी गुञ्जाइश ही नही है। इस प्रकार करते-करते मन-बुद्धि आदि सहित समस्त दृश्योंको और दृश्योंके साथ ही इन दृश्योंके देखनेवाले द्रष्टाकी कल्पनाको भी छोड़ दे; क्योंकि द्रष्टा पुरुषकी सिद्धि वही होती है, जहाँ अभावरूप या भावरूप कोई दृश्य होता है; जहाँ दृश्यका सर्वथा अभाव है, वहाँ पुरुष द्रष्टा नहीं है। वहाँ जो कुछ है, वह अचिन्त्य है, अनिर्वचनीय है। इस प्रकार जवतक वृत्ति इस सच्चिदानन्दघन अचिन्त्य ब्रह्ममें (शून्यमें नही) तदाकार हुई रहे, तवतक अचिन्त्यका ध्यान करें; जव इससे वृत्ति हटे, तव फिर द्रष्टा—समष्टि सच्चिदानन्दघन वन जाय। इस प्रकार निराकार व्यापक परमात्माका और अचिन्त्य ब्रह्मका ध्यान किया जा सकता है।

(२) सारा संसार परमात्मासे भरा है, यहाँ जो कुछ भी

दीखता है, सब परमात्माका ही विस्तार है—इस प्रकारकी भावना इस जगत्‌के तीनों लोकोंके पदार्थोंमें करे। जो कुछ भी वस्तु देखने-सुननेमें आती है, वह परमात्माका स्वाँग है; परमात्मा ही उन वस्तुओंके रूपमें प्रकाशित है। जैसे एक ही स्वर्ण भिन्न-भिन्न गहनोंके रूपमें प्रकट है, जैसे एक ही मिट्टी नाना प्रकारके वर्तनोंके रूपमें व्यक्त हो रही है, वैसे ही सारा संसार एक ही परमात्मासे पूर्ण है। सोना और मिट्टी तो केवल उपादानकारण हैं, उनके गहने और वर्तन बनानेवाले सुनार और कुम्हाररूप निमित्तकारण दूसरे हैं; परन्तु परमात्मा तो जगत्‌के अभिन्न-निमित्तोपादानकारण हैं। स्वयं ही बने हैं और अपने-आपसे ही बने हैं। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥

(गीता ७।७)

'हे धनञ्जय ! मेरे सिवा जगत्‌में और कुछ भी नहीं है, यह सारा जगत् सूतमें सूतके मणियोंकी भाँति मुझमें गुँथा हुआ है।'

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत् स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥

(गीता १०।३९)

'हे अर्जुन ! सब भूतोंकी उत्पत्तिका मूल कारण (वीज) भी मैं ही हूँ। ऐसा कोई भी चराचर प्राणी नहीं है, जो मेरे विनाका हो। तात्पर्य यह कि सब मेरा ही स्वरूप है।'

योगीश्वर महात्मा कविने कहा है—

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन् ।

सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत् किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः ॥
(श्रीमद्भा० ११ । २ । ४१)

'वे (प्रेमी भक्तगण) आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, नक्षत्र, चराचर जीव, दिशाएँ, वृक्ष-लतादि, नदियाँ, समुद्र—यहाँतक कि प्राणिमात्रको भगवान् हरिका शरीर समझकर सबको प्रणाम करते हैं। वे श्रीहरिसे भिन्न कुछ भी नहीं देखते।'

इस प्रकार समस्त चराचरमें भगवान्‌को देखे। जिधर जिस वस्तुमें मन जाय, वहीं वह वस्तु भगवान् ही हैं–ऐसी निश्चित दृढ़ धारणासे विश्वरूप भगवान्‌का ध्यान किया जा सकता है।

भगवान् विष्णुका ध्यान

(१)

प्रातःकालका समय है। सुन्दर, सुरम्य गङ्गाजीका पवित्र तट है। भगवान् श्रीविष्णु आकाशमें भूमिसे लगभग तीन हाथ ऊपर खिले हुए सहस्रदल लाल कमलपर खड़े हैं। उनके चारों ओर करोड़ों सूर्यों का प्रकाश छा रहा है; परन्तु साथ ही वह करोड़ों चन्द्रमाओंके समान शीतल और शान्तिप्रद है। भगवान्‌का रूप परम शान्त और अत्यन्त दर्शनीय है। भगवान्‌की किशोर अवस्था है। भगवान्‌का नीलकमलके समान दिव्य श्याम शरीर है। भगवान्‌के चरणतलोंमें ऐश्वर्यसूचक वज्र, अंकुश, ध्वजा, कमल आदिके चिह्न हैं। भगवान्‌के चरणोंकी मनोहर अँगुलियोंमें स्थित उभरे हुए उज्ज्वल अरुणवर्ण परम शोभायमान दसों नखरूपी चन्द्रमाओंकी दिव्य कान्ति भक्तोंके हृदयका अज्ञानान्धकार दूर कर रही है। जिनके धोवनके जलसे बनी

हुई परम पवित्र पतितपावनी गङ्गाजीको सिरपर धारणकर श्रीशिवजी परम कल्याणरूप—यथार्थ शिव हो गये और जो ध्यान करनेवालोंके पापरूपी पहाड़ोंको विदीर्ण करनेके लिये वज्रके समान हैं, वे कमलपत्र-जैसे कोमल और प्रकाशमान भगवान्‌के चरणकमल बड़े ही मनोहर हैं। भगवान्‌के चरणोंमें सुन्दर नूपुर सुशोभित हो रहे हैं। कमलनयना श्रीलक्ष्मीजी सदा अपनी ऊरुओं पर धारण करके अपने कोमल करकमलोंसे जिनका लालन करती हैं, जन्म-मरणके भयका नाश करनेवाले भगवान्‌के वे दोनों जानु (घुटने) परम सुन्दर हैं। भक्तराज गरुड़जी जिनको बड़े आदर और यत्नसे अपने कन्धोंपर धारण करनेमें अपना परम सौभाग्य मानते हैं, वे अलसीके पुष्पोंके समान सुहावनी श्यामवर्ण, नीलमणिके समान चमकदार और नीलकमलके समान कोमल भगवान्‌की जङ्घाएं परम मनोहर हैं, जो स्वाभाविक ही कमरमें कसे हुए कमलपुष्पके परागके समान पीतवर्णके दिव्य रेशमी वस्त्रसे ढकी हुई हैं। वह पीतपट अपनी उज्ज्वल आभाके साथ ही कटितट पर शोभायमान सुन्दर दिव्य रत्नजटित करधनीकी दिव्य प्रकाशमयी कान्तिसे विशेषरूपसे प्रकाशित हो रहा है। जिससे उत्पन्न हुए सर्वलोकमय कमलकोषसे आत्मयोनि श्रीब्रह्माजी प्रकट हुए और जो भुवनकोषके स्थान-स्वरूप भगवान्‌के दिव्य उदरमें स्थित है, वह भगवान्‌की गम्भीर घुमावसे युक्त नाभि अत्यन्त ही सुन्दर है। वह नाभि जब श्वासके चढ़ने-उतरनेसे फड़कती है, तब ऐसा लगता है मानों जो विश्व नाभिसे निकला, वह पुनः उसीमें समा रहा है। भगवान्‌का वक्षःस्थल बहुत चौड़ा और अत्यन्त चमकदार है,

जो दिव्य रत्नहारोंकी कान्तिमयी [illegible]
हो रहा है। भगवान्के हृदयपर परम [illegible]
विहार कर रहा है। लक्ष्मीजीकी [illegible]
आलोकित भगवान्का सुन्दर-स्थान [illegible]
पुरुषोंके मनको प्रसन्न और नयनोंको [illegible]
भगवान्का मनोहर कण्ठ [illegible]
सिंहके कन्धेपर रहनेवाली [illegible]
गलेमें तुलसी-मञ्जरीसे युक्त रमणीय [illegible]
लटक रही हैं, इन पुष्पमालाओंके [illegible]
चारों ओर फैलकर सबको मुग्ध [illegible]
मन्थन करनेवाली भगवान्की [illegible]
भुजाएँ हैं। उन भुजाओंमें [illegible]
और मणिमय कङ्कण सुशोभित हैं। [illegible]
उज्ज्वल प्रकाशकी नीलानायुक्त [illegible]
अरोंसे युक्त असह्यतेज सुदर्शन [illegible]
है; नीचेकी दाहिनी भुजामें [illegible]
है और बायींमें सुन्दर [illegible]
भगवान्का मुनिमन-मोहन [illegible]
है। कानोंमें हिलते हुए [illegible]
दिव्य स्वर्णवर्ण [illegible]
गोल कपोल परम [illegible]
सुन्दर नुकीली [illegible]
कुन्दकली-जैसे [illegible]
निकल रहा है [illegible]

अत्यन्त ही सुन्दर दिखायी दे रहा है। परम उदार
की मन्द-मन्द मुसकान जीवके अनादिकालीन शोकका
नाश करती है। कमलकुसुमके समान अरुणवर्ण दोनों
ानके समान सुशोभित हैं, जिनकी कोरोंसे दया, प्रेम,
और शान्तिका नित्य विकास हो रहा है। भगवा
ा हास्ययुक्त चितवन घोर त्रयतापको हरकर परमान
। भगवान्‌की टेढ़ी भ्रुकुटीकी सुन्दरता वरबस मनको
। भगवान्‌के विशाल ललाटपर दिव्यरक्त कुङ्कु
ड् शोभा पा रहा है। भगवान्‌के सिरपर काली-क
ी अलकोंकी अपूर्व शोभा है। सिरपर रत्नजटित प
ाय किरीट-मुकुट शोभा पा रहा है। भगवान्‌के
—रोम-रोमसे एक दिव्य तेज निकल रहा है
की परम अलौकिक अङ्ग-गन्धसे सारा आकाश भरा
के मुखमण्डलके चारों ओर एक विशेष तेजोमण्डल

(२)

क्षीरसागरके अन्दर एक ऐसा सुरम्य स्थान है—
चिये, आसपास तो क्षीर-जल है, बीचमें एक महान् प्र
हुआ है। वहाँ भगवान् शेषजी विराजमान हैं।
के मनोहर एक हजार सिर हैं, हजार फनोंके ऊपर ह
ा मुकुट हैं और उनके कमलनालके समान चिकने स
शरीरपर नील वस्त्र शोभित हो रहा है। ऐसे शेषजी
भगवान् विष्णु आधे लेटे हुए विराजमान हैं। अ
शेषजीके हजार फनोंका छत्र हो रहा है। भगवा
ा सुन्दर नील आभायुक्त श्याम वर्ण है। भगवान्‌के व

चरण-कमल किञ्चित् उन्नत हैं। चरणोंकी मनोहर अँगुलियाँ अरुणवर्णके नखोंकी किरण-कान्तिसे सुशोभित हो रही हैं। आपके चरणोंमें नूपुर है। आपके दोनों ऊरु हाथीकी सूँड-जैसे हैं, परन्तु अत्यन्त कोमल और उज्ज्वल हैं। दोनों जानु परम मनोहर हैं। सुन्दर कटितटपर स्वर्ण-रत्नजटित करधनी है। गम्भीर नाभि है, उदर त्रिवलीसे युक्त है और उसका आकार पीपलके पत्तेके समान है। विशाल वक्षःस्थलमें श्रीवत्स और प्रभाशाली कौस्तुभ विराजमान हैं। कण्ठ शङ्खके समान सुन्दर है। गलेमें दिव्य पुष्पमाला, मणिमय रत्नहार हैं। कन्धेपर ब्रह्मसूत्र है। भगवान्‌की चारों भुजाएँ घुटनोंतक लम्बी और विशाल हैं। चार भुजाओंमें शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म सुशोभित हैं; भुजाओंमें बाजूबन्द और कङ्कण सुशोभित हो रहे हैं। भगवान्‌के दोनों कन्धे ऊँचे हैं और वे कौस्तुभमणिकी प्रभासे प्रकाशित हो रहे हैं। भगवान्‌का प्रसन्न मुख परम सुन्दर है, भगवान्‌की हास्ययुक्त चितवन बड़ी ही मनोहर है। भौंहें ऊँची और सुन्दर हैं। भगवान्‌के सुन्दर गोल कपोल और अरुण अधर देखते ही योग्य हैं। भगवान्‌की दन्तपङ्क्तियाँ परम मनोहर और प्रकाशयुक्त हैं। भगवान्‌के कानोंमें मकराकृति सुन्दर कुण्डल हैं। भगवान्‌का ललाट परम प्रकाशमय और विशाल है। ललाटपर मनोहर तिलक है। भगवान्‌के घुँघराले बाल परम सुन्दर हैं। मस्तकपर मणिमण्डित किरीट है। निर्मल चित्तवाले सुनन्द, नन्द, सनक आदि पार्षद; ब्रह्मा, रुद्र आदि देव; मरीचि आदि ऋषि; प्रह्लाद, नारद, भीष्म आदि भक्तजन स्तुतियाँ कर रहे हैं। श्री, पुष्टि, वाणी, कान्ति, कीर्ति,

ष्टि, इला, ऊर्जा, विद्या आदि शक्तियाँ भगवान्की सेवा कर रही हैं। श्रीलक्ष्मीजी भगवान्के चरण दवा रही हैं। भगवान्की मूर्ति परम शान्त, परम तेजोमय और परम सुन्दर है।

ऊपर भगवान् विष्णुके दो स्वरूपोंके ध्यान लिखे गये हैं। और भी अनेक प्रकारके ध्येयस्वरूप हैं। साधकको उपर्युक्त ध्येयस्वरूप भगवान्के एक-एक अङ्गका ध्यान करके उनका विधिवत् मानस-पूजन करना चाहिये और ऐसा दृढ़ अनुभव करना चाहिये कि मानों श्रीभगवान् प्रसन्न होकर अपने चरणोंमें मुझे स्थान दे रहे हैं और भगवान्की कृपासे मैं समस्त पाप-तापोंसे मुक्त होकर परम कल्याणको प्राप्त हो गया हूँ।

भगवान् श्रीकृष्णका ध्यान

(१)

सन्ध्याका समय है, सूर्य देवता अस्ताचलको जा रहे हैं, गौ... और वछड़े वनसे लौट रहे हैं। भगवान्के लौटनेका समय जा... कर प्रेममूर्ति गोपियाँ अपने-अपने घरोंसे बाहर निकल... भगवान्की प्रतीक्षामें खड़ी हैं, दूरसे भगवान्की वंशी... सुनायी दे रही है, वड़ी ही आतुरताके साथ वे तन-मनकी... भूलकर व्याकुल हुई भगवान्के आनेकी वाट देख र... दर्शनकी लालसाने उनके नेत्रोंको पलकहीन, चित्तको... संसारी वासनाओंसे शून्य और हृदयको प्रेमसे परिपूर्ण क... है। इतनेमें ही भगवान् श्रीकृष्ण वछड़ोंके दलके सा... वजाते हुए पधारते हैं। भगवान् श्रीकृष्णके रोम-रोमसे... मनोहर प्रकाश निकल रहा है, उनके अङ्गकी दिव्य... ओर फैल रही है। भगवान्का कृष्ण आभायुक्त नी...

श्याम शरीर है; चरणोंसे लेकर शिखापर्यन्त प्रत्येक अङ्गसे सौन्दर्य-सूर्यकी मनोहर किरणें निकल रही हैं। जिस अङ्गकी ओर दृष्टि जाती है, नेत्र वहीं अटक जाते है। भगवान्‌की आयु लगभग सात वर्षकी है, परन्तु वे किशोर-अवस्थाके जान पड़ते हैं। उनके चरण-कमल बड़े ही सुन्दर हैं। भगवान् श्रीकृष्ण मधुर मुरली बजाते और सुन्दर तालके अनुसार थिरक-थिरककर नाचते हुए बड़ी मनोहर चालसे चले आ रहे हैं। नाचनेमें उनके जब चरण उठते है, तब चरणोंके मनोहर नीलश्यामवर्ण तेजःपुञ्जपर चरणतलोंका अरुणवर्ण प्रकाश पड़नेसे नील और अरुण प्रकाशोंका मिश्रण एक महान् रमणीय प्रकाशके रूपमें एक अनोखी छवि दिखला रहा है। उसपर चरण-नखोंकी अपूर्व श्वेतप्रकाशमयी अरुण आभा पड रही है। भगवान्‌के जानु परम सुन्दर हैं। कटितटपर पीताम्बरकी काछनी काछी है। चरणोंमें नूपुरका शब्द हो रहा है। भगवान्‌के गलेकी दिव्य वनमालाएँ, रत्नहार और गुञ्जाकी माला नाचनेमें इधर-उधर डुलकर परम शोभाको प्राप्त हो रही है। मनोहर गोल कपोलोंपर काली-काली अलकावली बिखर रही है। भगवान् एक हाथसे मुरलीको अधरोंपर लगाये, दूसरे हाथकी अँगुलियोंसे मुरलीके रन्ध्रोंमें सुर-भर रहे हैं। मुरलीके सुरोंके साथ भगवान्‌के नृत्यकी ताल बराबर मिल रही है। पृथ्वीपर टिके हुए चरणोंमे व्रजवीथिकी धूलिमें उनके वज्र, अंकुश, ध्वजा आदि चिह्न अङ्कित हो रहे हैं। भगवान्‌के नीलश्याम शरीरपर दिव्य सुवर्ण-वर्ण पीतपट ऐसा मालूम होता है मानों श्याम घन-घटामें इन्द्रधनुषका मण्डल शोभायमान हो; भगवान्‌के कानोंमें सुन्दर दिव्यकान्ति

रत्नोंके कुण्डल हैं, उनमें भगवान्‌ने रक्तकमलके छोटे-छोटे फूल खोंस रक्खे हैं। नाचनेमें जब कुण्डल हिलते हैं, तब उन कुण्डलोंका उज्ज्वल प्रकाश रक्तकमलोंपर पड़ता है, जिससे एक अपूर्व शोभा हो रही है। भगवान्‌के प्रकाशमय चपल नेत्रोंसे प्रेम और माधुर्यकी परम शान्तिमयी और आनन्दमयी ज्योति निकल रही है, जो मुनियोंके चित्तको भी बलात् आकर्षित कर लेती है। भगवान्‌की टेढ़ी भौंहें देखनेवालोंके चित्तको सदाके लिये हर लेती हैं। भगवान्‌का मुखमण्डल परम मनोहर है। अरुणवर्णके सुन्दर अधर और ओष्ठ हैं। मुरली बजाते हुए भगवान् जो मन्द-मन्द मधुर हँसी हँसते हैं, और उस दुर्लभ हास्यछटाके साथ जब नेत्रोंको प्रेम-कटाक्षमयी आकर्षणी शक्ति मिल जाती है, तब तो उसे देखकर बड़े-बड़े तपस्वियों, परम देवताओं और महान् संयमी ब्रह्मनिष्ठ ऋषियोंका चित्त भी चञ्चल हो उठता है। भगवान्‌का शङ्खके समान सुन्दर गला है। विचित्र-विचित्र धातुओंके विविध रङ्गों और कोमल नव-पल्लवोंसे सुसज्जित भगवान्‌का नटवर-वेश परम दर्शनीय है। भगवान्‌की भुजाओंमें स्वर्ण-रत्नमय बाजूबन्द और कङ्कण शोभायमान हैं। कटितटमें छोटी-छोटी स्वर्णघण्टियोंसे युक्त विद्युत-प्रभा-सी रत्नजटित करधनी है। भगवान्‌की नासिकाके अग्रभागमें सुन्दर गजमुक्ताकी लटकन अपूर्व कलासे नाच रही है। नयी बेंतका बना फूलोंसे गुँथा हुआ एक गोल चक्र भगवान्‌ने अपनी बायीं भुजामें डालकर कन्धेपर धारण कर रक्खा है। दाहिने कन्धेपर पीला प्रकाशमय दुपट्टा है, जिसके दोनों छोर आगे-पीछे दोनों ओरसे बायीं तरफको ले जाकर कमरके पास बाँधे हुए हैं।

भगवान्‌के विशाल उज्ज्वल ललाटपर गोरोचनका ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक है, उसमें छोटी-छोटी मणियाँ चिपकायी हुई हैं। सिरपर काले-काले घुँघराले केश हैं। भगवान् मोरपङ्खोंका सुन्दर मुकुट धारण किये हुए हैं, जिसपर मोरपङ्खोंका चँदवा लगा है और आगे सुन्दर कलँगी लगी है। भगवान् चारों ओरसे विचित्र वेशधारी ग्वालबालकोंसे घिरे हुए हैं। सभी बालक परमानन्दमें मग्न हुए उछलते और नाचते-कूदते हुए चले आ रहे हैं और गोपियाँ भगवान्‌की इस छटाको देखकर प्रेम और आनन्दके सागरमें डूब रही हैं।

(२)

यमुनाजीका तट है, मनोहर वृक्षलताओं और सुगन्धित पुष्पोंसे वनकी शोभा बढ़ रही है, गौ और बछड़े इधर-उधर बिखरे हुए हरी घास चर रहे हैं। एक सुन्दर कदम्बके वृक्षतले मनोहर स्फटिकशिलापर भगवान् श्रीकृष्ण त्रिभङ्गी छटासे खड़े हैं। बायें चरणपर दाहिने चरणको आँटी दिये हैं। दाहिना अरुण चरणतल वज्र, ध्वजा, अंकुश आदि चिह्नोंसे सुशोभित दिखायी दे रहा है। करोड़ों सूर्योंके समान भगवान्‌का तेजःपुञ्ज दिव्य शरीर है और वह प्रकाश करोड़ों चन्द्रमाओंके समान शीतल है; भगवान्‌का सुन्दर कृष्णाभायुक्त नील वर्ण है। भगवान्‌के मनोहर चरण हैं। चरणोंमें नूपुर शोभित हैं। भगवान्‌के दोनों जानु और जङ्घाओंकी शोभा अवर्णनीय है; भगवान्‌ने दिव्य रेशमी पीतवस्त्र धारण कर रखा है। कटितटमें सुन्दर रत्नोंकी करधनी है। भगवान्‌का त्रिवलीयुक्त परमोदार उदर और गम्भीर नाभि सुशोभित है, भगवान् कदम्बपुष्प और तुलसीसे युक्त दिव्य वनपुष्पोंकी माला

ण किये हैं। वक्षःस्थलपर रत्न और मुक्ताओंके हार हैं। में गुञ्जाकी माला है। भगवान्के गलेमें पीला दुपट्टा है, सके दोनों छोर सामनेकी तरफ दोनों ओरको फहरा रहे हैं। गवान्की नन्हीं-नन्हीं लम्वी भुजाओंमें वाजूवन्द और कड़े शोभित हैं। भगवान्का मुखकमल परम सुन्दर है। मन्द-मन्द मुस-कराते हुए भगवान् मुरली वजा रहे हैं। भगवान्के कानोंमें दिव्य पुष्पोंके कुण्डल हैं। मस्तकपर रत्नोंका किरीटमुकुट है, जिसमें मयूरपिच्छ खोंसा हुआ है। भगवान्के सुन्दर घुँघराले वाल हैं। चारों ओर गोपालवाल खड़े हैं और भगवान्की ओर टक-टकी लगाये देख रहे हैं, सभी प्रेममुग्ध और आनन्दमग्न हैं।

(२)

दिव्य द्वारकामें भगवान् श्रीकृष्ण किशोररूपमें सर्वरत्नोप-शोभित रमणीय स्वर्णसिंहासनपर विराजमान हैं, भगवान्का दिव्य कृष्णआभायुक्त नीलिमामय श्याम वर्ण है। पूर्णचन्द्रके समान मुखमण्डल है। मस्तकपर मयूरपिच्छयुक्त मुकुट सुशोभित है। वनमाला धारण किये हुए हैं। कानोंमें रत्नोंके कुण्डल भुजाओंमें वाजूवन्द और गलेमें रत्नहार है। वक्षःस्थलपर श्रीव और देदीप्यमान कौस्तुभमणि शोभित हैं। परम रमण लावण्ययुक्त कलेवर है, पीतवस्त्र धारण किये हैं, मन्द-मन्द म करा रहे हैं, अरुणवर्ण अधरोंपर वंशी विराज रही त्रिभुवनमोहिनी सर्ववेदमयी वेणुध्वनि हो रही है। भग चार भुजाएँ हैं, ऊपरके दोनों हाथोंमेंसे एकमें स्फटि अक्षमाला है और दूसरेसे अभयदान दे रहे हैं। नीचेके हाथोंसे मुरली वजा रहे हैं। कमल-सदृश सुन्दर औ

नेत्र हैं। अपने अद्वितीय सौन्दर्यसे विश्वको मोहित कर रहे हैं। स्वर्णकान्तिमयी कमला हाथोंमें मनोहर वीणा और कमल लिये भगवान्‌की बायीं ओर खड़ी उनके चरणोंमें दृष्टि जमाये हुए हैं। रुक्मिणी, सत्यभामा, कालिन्दी, जाम्बवती, नाग्नजिती, सुनन्दा, मित्रविन्दा, सुलक्षणा—पट्टरानियाँ भगवान्‌की सेवा कर रही हैं। सोलह हजार एक सौ रानियाँ भी भगवान्‌की सेवामें लगी हैं। भगवान्‌के मस्तकपर चन्द्रमण्डलसदृश श्वेतच्छत्र सुशोभित है। नारदादि मुनिगण तथा इन्द्रादि देवगण भगवान्‌को नमस्कार और उनका स्तवन कर रहे हैं।

(४)

परम दिव्य और रमणीय वृन्दावनमें सुन्दर कदम्ब-कानन-की पवित्र स्वर्णभूमिमें सर्वविध रत्नोंसे निर्मित विचित्र मण्डपमें रसराज भगवान् श्रीकृष्ण महाभाव-स्वरूपा श्रीमती राधिकाजीके साथ मनोहर रत्नसिंहासनपर विराजमान हैं। उनकी अङ्गप्रभा करोड़ों सूर्योंके समान अनुपम प्रकाशयुक्त और करोड़ों चन्द्रमाओं-के समान शीतल है। भगवान् श्रीकृष्णका सुन्दर नव-नील नीरदके समान श्याम वर्ण है और श्रीराधिकाजीका स्वर्णाभायुक्त गौर वर्ण है। भगवान् पीताम्बर धारण किये हैं और श्रीमतीजी नीलाम्बर। दोनोंके शरीर दिव्य आभूषणोंसे विभूषित हैं। भग-वान् श्रीकृष्णका दक्षिण चरणकमल रत्नपूर्ण रत्नघटपर अधिष्ठित है और दूसरा वाम चरणकमल दिव्य रक्तकमलपर। इस प्रकार श्रीराधिकाजीका दक्षिण चरणकमल मुक्तापूर्ण स्वर्णघटपर है और वाम चरणकमल नीलकमलपर। हजारों गोपियाँ नाना प्रकारसे दोनोंकी परिचर्या कर रही हैं। भगवान् श्रीकृष्णके

दक्षिण करकमलमें मुरली है और बायाँ करकमल श्रीराधिकाजीके कण्ठदेशपर स्थित है। श्रीराधिकाजीका दाहिना करकमल श्रीभगवान्‌के जानुपर रक्खा है और बायें हस्तकमलमें पुष्पोंका हार है। आस-पास रङ्ग-बिरङ्गी अनेक गौएँ खड़ी हैं, जो भगवान्‌के मुखमण्डलकी ओर मुग्धदृष्टिसे देख रही हैं।

(५)

कुरुक्षेत्रका रणक्षेत्र है। सेनाएँ सुसज्जित खड़ी हैं। कौरव-सेना पितामह भीष्मके सेनापतित्वमें व्यूहाकार खड़ी है और पाण्डवसेना धृष्टद्युम्नके सेनापतित्वमें व्यूहरचनायुक्त है। दोनों ओर बड़े-बड़े वीर हैं। पाण्डवोंकी सेनामें सबसे प्रमुख एक रथ है, रथके चार पहिये हैं, रथके अग्रभागमें एक लम्बी ध्वजा है, ध्वजापर श्रीहनुमान्‌जी विराज रहे हैं, रथमें सुन्दर चार सफेद घोड़े जुते हैं। अगले हिस्सेमें भगवान् चतुर्भुज श्रीकृष्ण बैठे हैं। उनके एक हाथमें घोड़ोंकी लगाम है, दूसरेमें सुन्दर चाबुक, तीसरेमें दिव्य पाञ्चजन्य शङ्ख है और चौथेसे अर्जुनको गीताका उपदेश करते हुए भाँति-भाँतिके सङ्केतोंसे समझा रहे हैं। भगवान्‌के तेजःपुञ्ज नीलश्याम अङ्गकी आभा कवचको भेदकर बाहर निकल रही है। रथके पिछले हिस्सेमें कवच-कुण्डलधारी रणसज्जासे सुसज्जित अर्जुन उदास बैठे हैं, गाण्डीव धनुष बगलमें पड़ा है। तरकसोंका भाथा पीछे कन्धेपर है। मुँह उदास है और बड़ी ही उत्सुकतासे भगवान्‌के मुखमण्डलकी ओर देखते हुए वे ध्यानसे भगवान्‌की वाणी सुन रहे हैं। भगवान् मुसकराते हुए नाना प्रकारकी मुखाकृतिसे और दिव्य वाणीसे तथा हाथके सङ्केतसे अर्जुनको उपदेश कर रहे हैं। भगवान्‌के श्रीअङ्गसे दिव्य

सुगन्ध निकल रही है। भगवान्‌के नयनकमलोंसे स्नेह, ज्ञान और प्रकाशको मिश्रित धारा निकल रही है। भगवान्‌के गलेमें दिव्य रत्नहार है। मस्तकपर किरीट-मुकुट है, कानोंमें मकराकृति कुण्डल हैं। सिरपर घुंघराले काले बाल हैं। भगवान्‌की लगभग सोलह वर्षकी किशोर अवस्था है और अनुपम सौन्दर्य उनके रोम-रोममें प्रस्फुटित हो रहा है।

उपर्युक्त पाँच प्रकारके श्रीकृष्णके ध्यानोंमेंसे अपनी-अपनी रुचिके अनुसार प्रेमपूर्वक भगवान्‌का नियमित ध्यान करके लाभ उठाना चाहिये।

भगवान् श्रीरामका ध्यान

(१)

अयोध्यापुरीमें महाराज दशरथजीका सुन्दर महल है, जो सोनेका बना हुआ है और बहुमूल्य मणियों तथा रत्नोंसे जड़ा है। उसके मनोहर चमकते हुए आँगनमें घुटनोंके बल चलनेवाले सच्चिदानन्दघन बालरूप श्रीरामजी विराजमान हैं। उनका नीलकमल, नीलमेघ और नीलकान्तमणिके समान सुन्दर, कोमल, सरस और प्रकाशमय श्यामवर्ण है, भगवान्‌का स्वरूप ऐसा सुन्दर है कि उनके एक-एक अङ्गपर करोड़ों कामदेवकी शोभा निछावर है। भगवान्‌के नेत्र नीलकमलके समान सुन्दर हैं, भगवान्‌की ठोडी और नासिका परम मनोहर है। लाल-लाल अधरोंके बीच सुन्दर दाँतोंकी पाँती अनुपम छवि दे रही है मानो अरुणकमलके बीच अत्यन्त शुभ्रवर्ण कुन्दकलीकी दो-दो पङ्क्तियाँ हों। हरित आभायुक्त नीलवर्णमें अरुण आभायुक्त

भगवान्‌के प्रकाशमय कपोल बड़े ही सुन्दर लगते हैं। सुन्दर कानोंमें स्वर्ण और रत्नोंके कुण्डल सुशोभित हैं, मस्तकपर सुन्दर तिलक है, काली घुँघराली अलकावली है। विशाल वक्षःस्थलपर मनोहर वनमाला और श्रीवत्स सुशोभित हैं। शङ्खके समान तीन रेखावाले गलेमें रत्नोंके तथा मोतियोंके हार शोभा पा रहे हैं। सुन्दर करकमलोंमें कङ्कण धारण किये हुए हैं। पीली झगुली पहने हुए हैं। भगवान्‌के लाल-लाल चरणोंमें अङ्कुश, ध्वजा, कमल और वज्रके मनोहर चिह्न हैं तथा अत्यन्त मनोहर ध्वनि करनेवाले नूपुर शोभायमान हैं। भगवान्‌की कमरमें सुन्दर करधनी है। भगवान् शोभाके समुद्र हैं। भाइयोंके साथ खेल रहे हैं और दर्पणमें अपने प्रतिबिम्बको देख-देखकर प्रसन्न होते और किलकारी मारते हैं।

(२)

अयोध्यापुरीके परम सुन्दर राजदरबारमें सुन्दर स्वर्ण-सिंहासन पर भगवान् श्रीरामचन्द्रजी विराजमान हैं। उनका नीलमणि और तमाल वृक्षके समान नेत्रोंको आनन्द देनेवाला सुन्दर श्याम वर्ण है। सुन्दरताकी सीमा हैं। करोड़ों कामदेवकी उपमा उनके सौन्दर्यसे नहीं दी जा सकती। भगवान् वाम चरणको सिंहासनपर मोड़े बैठे हैं और दाहिना चरण नीचे लटकता हुआ बहुत ही कोमल, स्निग्ध, गहरे लाल रङ्गके मखमली तकियेपर टिका है। भगवान्‌के अरुणाभ चरणतलके साथ मखमलके लाल रङ्गका अद्भुत मिश्रण हो रहा है। उसपर हरिताभ नीलवर्णकी मनहरनी प्रभा पड़ रही है। भगवान्‌के चरणतलमें वज्र, ध्वजा, अंकुश, कमल आदिके स्पष्ट चिह्न हैं। भगवान्‌के

चरणोंमें रत्नजटित दिव्य नूपुर हैं। भगवान्के घुटने और जङ्घाएँ परम सुन्दर हैं। भगवान् कटितटपर सुन्दर दिव्य पीताम्बर धारण किये हैं, जो ऐसा मालूम होता है मानों मरकतमणिके ऊपर बिजली अपने चञ्चल स्वभावको छोड़कर छा रही हो। पीत धोतीपर कटिमें पीत रङ्गका एक दुपट्टा कसा है, उसमें सुन्दर तरकस बँधा है। सुन्दर स्वर्णरत्नमयी करधनी है। भगवान्का उदार उदर तीन रेखाओंसे युक्त परम सुन्दर है। गम्भीर नाभि है। चौड़ी छातीपर भगवान् रत्नोंके और गज-मुक्ताओंके हार धारण किये हुए हैं। शङ्खके जैसा सुन्दर गला है। गलेमें मणियोंकी, दिव्य वन-पुष्पोंकी और नवीन तुलसीदलकी लम्बी मालाएँ सुशोभित हैं। भगवान्के सिंहके-से विशाल और ऊँचे कन्धे हैं। अतुलित बलवाली भुजाओंमें भाँति-भाँतिके ज्योतिर्मय कङ्कण पहने हैं। हाथोंमें मनोहर धनुष-बाण लिये हैं। जनेऊकी अपूर्व शोभा है। जरीकी किनारी और छोरोंसे सुशोभित दुपट्टा भगवान्के अङ्ग पर फहरा रहा है। भगवान्के मुख-मण्डलकी अपूर्व छटा है। परम सुन्दर ठुड्डी है। लाल-लाल अधर-ओष्ठ हैं। भगवान् जब मुसकराते हैं, तब उनके शुभ्र सुन्दर दाँत ऐसे शोभित होते हैं मानों किसी अरुणवर्ण कमल-कोशके भीतर बिजलीके रङ्गमें डुबोये हुए अति सुन्दर पद्मरागके शिखर विराजते हों। भगवान्के अरुणाभ गोल कपोल परम सुन्दर हैं, नासिकाकी नोक चित्तको चुरानेवाली है, नासाके बीचमें गजमुक्ताकी लटकन है। विशाल मनोहर कानोंमें स्वर्ण-रत्नमय मकराकृति कुण्डल हैं। भगवान्की बाँकी भृकुटि है; शोभाशील, प्रेम और आनन्दके भण्डार अरुण कमलदलके समान

नके मनोहर नेत्र हैं, जिनसे कृपा और सुन्दरताकी आह्लाद-
कारिणी और मोहिनी प्रकाशधारा वह रही है । भगवान्के
विशाल प्रकाशमय मस्तकपर ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक सुशोभित है ।
सिरपर अत्यन्त रमणीय स्वर्ण-रत्नोंसे निर्मित तेजःपुञ्ज परम
सुन्दर मुकुट है । उसके नीचे काले घुँघराले घने केश हैं, जो
कानोंतक विचित्र ढङ्गसे सँवारे हुए हैं । भगवान्के सारे शरीर-
पर चन्दनकी खोरी लगी है । भगवान्के अङ्ग-प्रत्यङ्गोंमें करोड़ों
कामदेवोंकी छवि छा रही है । अङ्गसे दिव्य सुगन्ध निकल रही
है । भगवान्के वाम भागमें जगज्जननी सीताजी विराजमान हैं,
जो नीलवस्त्र तथा सव अङ्गोंमें परम उज्ज्वल आभूषण धारण
किये हैं । श्रीलक्ष्मणजी, भरतजी और शत्रुघ्नजी चँवर, व्यजन
और छत्रको लिये भगवान्की सेवामें खड़े हैं । श्रीचरणोंमें बै
हुए महावीर हनुमान्जी भगवान्के नेत्रोंकी ओर अनिमेष दृष्टि
देख रहे हैं और भगवान्के दाहिने चरणको दवा रहे हैं त
मुनिमण्डली स्तुति कर रही है ।

(३)

प्रातःकालका सुहावना समय है, वन और उपवनोंमें
विरङ्गे पुष्प खिल रहे हैं, वड़ी अच्छी मौसिम है । अयोध्या
सरयूजीके पवित्र तटपर भगवान् श्रीरामजी अपने भाइयों
मित्रोंके साथ फाग खेल रहे हैं । भगवान् रामकी अनुप
देखकर सवके हृदयमें प्रेम उमड़ रहा है । भगवान्का शरी
तमाल या नीलमेघके समान श्यामवर्ण है । भगवान्के
अरुणवर्ण हैं । उनका ऊपरका हिस्सा श्यामवर्ण है ।
कान्ति करोड़ों चन्द्रमाओंके प्रकाशके समान है । भगवा

तलमें कमल, वज्र, ध्वजा और अंकुशादिकी रेखाएँ सुशोभित हैं। चरणोंमें मनोहर नूपुर हैं, जो अपनी सुमधुर ध्वनिसे मुनियोंका मन मोह लेते हैं। सुन्दर जानु हैं; उनकी जङ्घाएँ मरकतमणिके खम्भोंके समान सुन्दर और चिकनी हैं। कटिप्रदेशमें अति निर्मल पीताम्बर है। उसपर सोनेकी बनी हुई मणिजटित करधनी मनोहर शब्द कर रही है। प्रभुके उदर-प्रदेशमें मनोहर त्रिवली और अति सुन्दर गम्भीर नाभि है। भगवान् मनोहर रत्नोंके हार धारण किये हुए हैं; वक्षःस्थलमें भृगुलताका चिह्न उनकी ब्रह्मण्यता और क्षमाशीलताका परिचय दे रहा है। गलेमें सुगन्धित सुन्दर वनमाला है। विशाल भुजाओंमें कङ्कण और बाजूबन्द सुशोभित हैं। भुजाएँ स्थूल, जानुपर्यन्त लम्बी और अपार बलशालिनी हैं, जो सदा भक्तोंका भय-भञ्जन करनेके लिये तैयार रहती हैं। भगवान्‌की ठुड्डी बड़ी ही मनोहर है। मनोहर अरुण-वर्ण होठोंके बीचमें दाँतोंकी पङ्क्ति ऐसी जगमगा रही है मानों अरुण कमलके बीचमें गज-मुक्ताओंकी दो मनोहर पङ्क्तियाँ हों। भगवान्‌के कपोल बड़े सुन्दर हैं, कानोंमें रत्नजटित कुण्डल, मनोहर मस्तकपर तिलक और सिरपर किरीट सुशोभित है। भगवान्‌के कन्धेपर पीत जनेऊ शोभित हो रहा है। भगवान्‌की भृकुटि बाँकी है और चितवन भक्तोंपर कृपा करनेवाली और मुनियोंके भी मनको हरनेवाली है। भगवान्‌के समस्त शरीरसे तेजकी धाराएँ निकल रही हैं। मस्तकके चारों ओर शुभ्रवर्ण तेजोमण्डल है। भगवान्‌के अङ्ग-अङ्गमें अतुलित शोभा छा रही है। भगवान् हाथोंमें पिचकारी लिये फाग खेल रहे हैं; नगर-निवासीगण करताल, मृदङ्ग, झांझ, ढोल, डफ और नगाड़े

बजा रहे हैं, सुन्दर और सुहावनी शहनाइयाँ बज रही हैं। मनोहर गान गाये जा रहे हैं। वीणा और बाँसुरीकी सुमधुर ध्वनि हो रही है। आकाशमें देवताओंके विमान छाये हैं और सब बड़े हर्षसे दिव्य पुष्पोंकी वर्षा कर रहे हैं।

(४)

परम रमणीय अयोध्या नगरीमें रत्नोंका बना हुआ एक बहुत ही सुन्दर विशाल मण्डप है। उसके चारों ओर सुन्दर सुगन्धित पुष्पोंकी बन्दनवार बँधी है। दिव्य पुष्पों का बहुत सुन्दर विशाल चँदोवा है। उसमें पुष्पक विमान है और उस विमानपर एक दिव्य मनोहर सिंहासन है। सिंहासनपर भगवान् श्रीराम आदि शक्ति श्रीजानकीजीके साथ विराजमान हैं। देवता, असुर, वानर और मुनिगण सब अलग-अलग दल बनाये विमानमें खड़े भगवान्की स्तुति कर रहे हैं। लक्ष्मणसहित तीनों भाई और श्रीहनुमान्जी भगवान् श्रीरामजी और श्रीजानकीजी सेवामें लगे हैं। भगवान्का नीलमेघके समान श्याम शरीर है, जिसपर हरे प्रकाशकी आभा पड़ रही है। भगवान्के सारे शरीरपर शुभ्र चन्दन लगा है। मञ्जुल श्याम शरीरपर दिव्य पीताम्बर बड़ा ही सुन्दर जान पड़ता है मानों नील मेघपर चन्द्रमाकी चाँदनी देखकर बिजली छिपना छोड़कर स्थिररूपसे दमक रही हो। भगवान्का समस्त शरीर सुचिक्कण, सुगन्धमय और प्रकाशका पुञ्ज है। भगवान्के पद्मरागमणिके समान मनोहर और कोमल चरणतलोंमें ध्वजा, अंकुश, वज्र और कमल आदिके शुभ चिह्न हैं। भगवान्के चरणोंके अँगूठे और अंगुलियाँ परम सुन्दर हैं, उनपर अरुण वर्णके नखोंकी ज्योति जगमगा रही है। चरणोंमें

मनोहर नूपुर हैं। जङ्घाएँ कदली-खम्भको भी मात करनेवाली चिकनी, कोमल और स्थूल हैं, जो हाथीके बच्चेकी सूँड़का मान-मर्दन करती हैं। घुटने ऐसे सुन्दर हैं मानों कामदेवके तरकसका निचला भाग हो। कटितटमें सुवर्ण और मणियोंकी बनी हुई करधनी है और पीताम्बर कसा है, उसीमें तरकस बँधा है। उदरकी तीन रेखाएँ और गम्भीर नाभि परम सुन्दर हैं। हृदयमें मोतियोंकी मनोहर माला है। गलेमें वनमाला और पवित्र यज्ञोपवीत शोभायमान है। कन्धे सिंहोंके-से स्थूल है। शङ्ख-सदृश तीव्ररेखावाले गलेकी छवि बड़ी ही प्यारी लगती हैं। मुखकी मनोहरता अवर्णनीय है। उसे देखते ही अनुपम आनन्द होता है। वह छवि करोड़ों कामदेवोंकी छविको भी हरनेवाली है। प्रभुके लाल-लाल होठोंके बीचमें अनुपम दन्तावली सुशोभित है। मनोहर मुसकान मनको बरजोरीसे हर लेती है। सुन्दर ठोड़ी, मनोहर गोल कपोल और तोतेकी चोंच-सी सुन्दर नासिका बड़े ही मनोहर हैं। भगवान्‌के नेत्र कमलका मान मर्दन करनेवाले हैं तथा चितवन अति मनोहर अमृतकी वृष्टि करती है। कानोंमें सुन्दर कुण्डल हैं। सिरपर काले घुँघराले केश हैं। भगवान्‌की बाँकी भ्रुकुटि है। मस्तकपर कुंकुमके तिलक हैं। सिरपर हीरे और मणियोंके जड़े हुए सुवर्ण-मुकुटकी कान्ति सम्पूर्ण लोकोंको प्रकाशित कर रही है। भगवान्‌का कोटि-कोटि सूर्योंका-सा प्रकाश है और उनमें करोड़ों चन्द्रमाओंकी-सी सुशीलता है।

(५)

मन्दाकिनीजीके तीरपर मनोहर चित्रकूट पर्वतपर कल्प-वृक्षके नीचे सुन्दर स्फटिक-शिलापर भगवान् श्रीरामजी और

श्रीसीताजी विराजमान हैं। श्रीलक्ष्मणजी दूर खड़े पहरा दे रहे हैं। भगवान् नखसे शिखातक परम सुन्दर और दर्शनीय हैं। सुन्दर श्याम शरीर है। वक्षःस्थल और कन्धे विशाल हैं। गलेमें वनमाला है। वल्कल-वस्त्र पहने हैं, मुनियोंका-सा वेश है; नेत्र बड़े ही मनोहर और कृपाके समुद्र हैं। जटाओंका मुकुट अत्यन्त सुन्दर है। मनोहर मुखमण्डल करोड़ों चन्द्रमाओंकी छविको भी मलिन कर रहा है। करकमलोंमें सुन्दर धनुष-बाण और कटि-प्रदेशमें तरकस बँधा है! गौरवर्ण परम तेजस्वी श्रीलक्ष्मणजी भी इसी भाँति सुशोभित हैं।

और भी अनेक प्रकारके भगवान् श्रीरामजीके ध्यान करने योग्य स्वरूप हैं। उपर्युक्त पाँचोंमेंसे अपनी-अपनी रुचिके अनुसार साधक किसी भी स्वरूपका ध्यान कर सकते हैं।

भगवान् शिवका ध्यान

(१)

हिमालयमें गौरीशङ्कर पर्वतके ऊपर एकान्त तथा पुण्यमय पवित्र वनमें एक सुन्दर और विशाल देवदारु वृक्षके नीचे सुन्दर शिलामयी वेदिकापर बाघका चर्म बिछाये देव-देव श्रीमहादेव समाधिमग्न विराज रहे हैं। उनके चारों ओर प्रकाशका एक मण्डल छाया है। मुखमण्डल असाधारण तेजसे पूर्ण है। शरीर श्वेत कर्पूर-वर्ण है, परन्तु उसमें कुछ अरुणिमा छायी है। भगवान् पद्मासनसे बैठे हैं। शरीरका ऊपरी भाग अचल, सरल और समुन्नत है। दोनों कन्धे समानरूपसे स्थिर हैं। दोनों हाथोंको गोदमें रक्खे हुए हैं। दाहिने हाथ पर बायाँ हाथ है। हथेलियोंकी

सुन्दर लालिमा छिटक रही है। जान पड़ता है लाल कमल विकसित हो रहा है। वामे-कन्धेपर भूरे भालूका चर्म है; जिसका एक छोर दाहिने कटितटके पाससे नीचेकी ओर लटक रहा है; दूसरा छोर पीठपर है। भगवान्‌के गलेमें गजमुक्ताओंकी माला है। वक्षःस्थलपर वनमाला और एकमुखी रुद्राक्षोंकी माला है। नीलकण्ठकी अपूर्व शोभा है। भगवान्‌का मुखमण्डल परम सुन्दर है। नासिका परम मनोहर है। कानोंमें रुद्राक्षकी दुहरी माला सुशोभित है। तीनों नेत्र नासिकाके अग्रभागको लक्ष्य करके स्थिर हो रहे हैं। तीसरे नेत्रसे समुज्ज्वल ज्योति निकल रही है; जो नीचेकी ओर इधर-उधर छिटक रही है। गलेमें और हाथोंमें सर्पोंके आभूषण हैं, मस्तकपर भस्मका त्रिपुण्ड्र शोभित है और चन्द्रमाने अपनी निर्मल प्रभासे मस्तकको जगमगा दिया है। जटाजूट सर्पोंके द्वारा चूड़ाके समान समुन्नत भावसे बँधा हुआ है। सारे शरीरपर भस्मके तिलक है। सम्पूर्ण वायु सर्वतोभावसे देहके अन्दरसे ऊपर उठकर कपालदेशमें निरुद्ध है, जिससे वे वाडम्बरशून्य जलपूर्ण गम्भीर बादल, तरङ्गहीन महासागर या निर्वात देशमें स्थित कम्पनहीन-शिखाधारी समुज्ज्वल दीपकके समान स्थिर हैं। भगवान् शिवका परम दर्शनीय और सुन्दर स्वरूप अत्यन्त शोभा पा रहा है। भाग्यवान् नन्दी समाधिमग्न भगवान्‌की समाधि निर्विघ्न बनाये रखनेके लिये दूर खड़े पहरा दे रहे हैं।

(२)

परम रमणीय कैलास पर्वतपर एक बहुत ऊँचा विशाल वटका वृक्ष है, जो पद्मरागमणियों-जैसे फलोंसे समुज्ज्वल हो रहा

है। यह वृक्ष मरकतमणिमय विचित्र पत्तोंसे सुशोभित है। ऐसे वट वृक्षके नीचे भगवान् शङ्कर विराजमान हैं। उनका वर्ण सफेद फिटकरी या किञ्चित् लालिमायुक्त चाँदीके समान है। मृगचर्मका आसन है और भालूका काला चर्म लपेटे हुए हैं। हाथोंमें और गलेमें साँपोंके आभूषण हैं। चार सुन्दर हाथोंमें—एकमें सुन्दर जपमाला, दूसरेमें अमृतका कलश, तीसरे और चौथेमें विद्या तथा ज्ञानमुद्रा हैं। वक्षःस्थलपर नागका यज्ञोपवीत है और ललाटपर भस्मका त्रिपुण्ड्र तथा चन्द्रमा सुशोभित हैं। नाना प्रकारके आभूषण पहने हैं। तीन नेत्र हैं। परम शोभनीय स्वरूप है।

(३)

सुन्दर बहुत-से दलोंवाले विशाल किञ्चित् अरुण रङ्गके पवित्र कमलपर भगवान् शङ्कर पद्मासन लगाये बैठे हैं। भगवान्‌का शरीर सुन्दर स्फटिकमणिके समान है। शान्तमूर्ति हैं। पाँच मुख हैं। प्रत्येक मुखमें तीन नेत्र हैं। दस हाथ हैं। दाहिने पाँच हाथोंमें क्रमशः शूल, वज्र, खड्ग, परशु और अभयमुद्रा हैं। बायें पाँचों हाथोंमें नाग, पाश, घण्टा, प्रलयाग्नि और अंकुश सुशोभित हैं। व्याघ्रचर्म पहने हुए हैं। पैरों और हाथोंमें नाना प्रकारके आभूषण हैं। गलेमें मणियोंकी माला, रत्नोंके हार और नागमाला हैं। नागका यज्ञोपवीत पहने हैं। मस्तकपर भस्मका त्रिपुण्ड्र है। ललाटपर अर्धचन्द्र और सिरपर सुन्दर मुकुट है। परम मनोहर छवि है।

(४)

आशुतोष भगवान् शङ्कर रक्तदल पद्मपर विराजित हैं।

भवानी पार्वतीजी वाम भागमें विराजित हैं। सुन्दर चार भुजाओंमें जपमाला, शूल, नर-कपाल और खट्वाङ्ग सुशोभित है। सिरपर जटाजूट है। उसपर सर्पोंका बनाया हुआ मुकुट है, ललाटपर अर्धचन्द्र सुशोभित है। बाघम्बर पहने हैं। नीलकण्ठ हैं। पास ही नन्दी स्थित है। अत्यन्त सुन्दर मूर्ति है। करोड़ों बालसूर्योंके समान भगवान्‌के शरीरकी कान्ति है।

भगवान् शङ्करजीके अन्य बहुत-से ध्यान-स्वरूप हैं। उपर्युक्त चारोंमेंसे अपनी रुचि और प्रसन्नताके अनुसार किसी भी स्वरूपका ध्यान करना चाहिये।

किसी भी स्वरूपका ध्यान किया जाय, करना चाहिये बड़ी लगनके साथ नियमितरूपसे। ऐसा ध्यान होना चाहिये जिसमें अपने ध्येयस्वरूप भगवान्‌के सिवा संसारका और अपना कुछ भी ज्ञान न रह जाय। जब ऐसी स्थिति होगी, तब एक विलक्षण सुख और परम शान्तिका अनुभव होगा। इतना आनन्द उमड़ेगा कि फिर ध्यान छोड़ना दुःखजनक मालूम होगा और बार-बार ध्यान करनेके लिये चित्तमें लोभ बढ़ जायगा। ध्येय-स्वरूप निराकार हो या साकार, परमात्माके सिवा सम्पूर्ण दृश्य-प्रपञ्चका सर्वथा अभाव हो जानेपर ही ध्यानावस्थाकी पूर्णता समझी जा सकती है। इस अवस्थामें निराकारके ध्यानमें विशुद्ध चेतन और बोधस्वरूप आनन्दकी जागृति रहती है और साकारके ध्यानमें ध्येय-स्वरूप इष्टदेवका आनन्दमय परम शान्तिप्रद साक्षात्कार होता रहता है, इसलिये इस स्थितिमें लय या शून्य अवस्था नहीं होती। कुछ लोग लय या शून्य स्थितिको ही ध्यान मान लेते हैं परन्तु वह भूल है। ऐसी अवस्था तो प्रतिदिन क्रमः-

पूर्ण सुषुप्ति कालमें होती ही है, परन्तु वह ध्यान नहीं है। ध्यानका फल है—ध्येय-स्वरूप विज्ञानानन्दघन, सूक्ष्मातिसूक्ष्म, सर्वव्यापी, सर्वतश्चक्षु, सर्वाधार, सर्वरहित, अविद्यातीत, गुणातीत, सर्वसद्गुणालंकृत, सर्वगुणशून्य, परम प्रकाशरूप, ज्ञानमय, प्रेममय—आनन्दमय, अज, अविनाशी, सत्य, नित्य-निरञ्जन, निरामय, निष्कल, निर्गुण, अनिर्वचनीय और अचिन्त्य परमात्माकी प्राप्ति। उस परमात्माका इन विशेषणोंसे सङ्केत-मात्र होता है। वस्तुतः वह अपनी महिमासे आप ही महिमान्वित है। उसके स्वरूपका बोध उसीको है।



भगवान्‌का स्मरण कैसे करें ?

१-ऐसे करो, जैसे अफीमची अफीम न मिलनेपर अफीमका स्मरण करता है।

२-ऐसे करो, जैसे मुकद्दमेबाज मुकद्दमेका स्मरण करता है।

३-ऐसे करो, जैसे जुआरी जुएका स्मरण करता है।

४-ऐसे करो, जैसे लोभी धनका स्मरण करता है।

५-ऐसे करो, जैसे कामी कामिनीका स्मरण करता है।

६-ऐसे करो, जैसे शिकारी शिकारका स्मरण करता है।

७-ऐसे करो, जैसे निशानेबाज निशानेका स्मरण करता है।

८-ऐसे करो, जैसे किसान पके खेतका स्मरण करता है।

९-ऐसे करो, जैसे प्याससे व्याकुल मनुष्य जलका स्मरण करता है।

१०-ऐसे करो, जैसे भूखका सताया हुआ मनुष्य भोजनका स्मरण करता है।

११-ऐसे करो, जैसे घर भूला हुआ मनुष्य घरका स्मरण करता है।

१२-ऐसे करो, जैसे बहुत थका हुआ मनुष्य विश्रामका स्मरण करता है।

१३-ऐसे करो, जैसे भयसे कातर मनुष्य शरण देनेवालेका स्मरण करता है।

१४-ऐसे करो, जैसे डूबता हुआ मनुष्य जीवनरक्षाका स्मरण करता है।

१५–ऐसे करो, जैसे दम घुटनेपर मनुष्य वायुका स्मरण करता है।

१६–ऐसे करो, जैसे परीक्षार्थी परीक्षाके विषयका स्मरण करता है।

१७–ऐसे करो, जैसे ताजे पुत्रवियोगसे पीड़िता माता पुत्रका स्मरण करती है।

१८–ऐसे करो, जैसे नवीन विधवा अबला अपने मृत पतिका स्मरण करती है।

१९–ऐसे करो, जैसे घरमें रहनेवाली कुलटा स्त्री अपने जारका स्मरण करती है।

२०—ऐसे करो, जैसे मातृपरायण शिशु माताका स्मरण करता है।

२१—ऐसे करो, जैसे प्रेमी अपने प्रियतम प्रेमास्पदका स्मरण करता है।

२२—ऐसे करो, जैसे पतिव्रता स्त्री अपने पतिका स्मरण करती है।

२३—ऐसे करो, जैसे अन्धकारसे अकुलाये हुए प्राणी प्रकाशका स्मरण करते हैं।

२४—ऐसे करो, जैसे सर्दीसे काँपते हुए मनुष्य अग्निका स्मरण करते हैं।

२५—ऐसे करो, जैसे चकवा-चकवी सूर्यका स्मरण करते हैं।

२६—ऐसे करो, जैसे चातक मेघका स्मरण करता है।

२७—ऐसे करो, जैसे जलसे बिछुड़ी हुई मछली जलका स्मरण करती है।

२८—ऐसे करो, जैसे चकोर चन्द्रमाका स्मरण करता है।

२९—ऐसे करो, जैसे फलकामी पुरुष फलका स्मरण करता है।

३०—ऐसे करो, जैसे मुमुक्षु पुरुष आत्मा का स्मरण करता है।

३१—ऐसे करो, जैसे शुद्धहृदय मुमुक्षु पुरुष भगवान्‌का स्मरण करता है।

३२—ऐसे करो, जैसे योगी पुरुष चेतन ज्योतिका स्मरण करते हैं।

३३—ऐसे करो, जैसे ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मका स्मरण करता है।



परमार्थ-साधनके आठ विघ्न

भगवत्प्राप्तिके साधकको या परमार्थ-पथके पथिकको एक-एक पैर सँभालकर रखना चाहिये। इस मार्गमें अनेक विघ्न हैं। आज उनमेंसे आठ प्रधान विघ्नोंके सम्बन्धमें कुछ आलोचना करनी है—वे आठ ये हैं—आलस्य, विलासिता, प्रसिद्धि, मान-बड़ाई, गुरुपन, बाहरी दिखावा, पर-दोष-चिन्तन और सांसारिक कार्योंकी अत्यन्त अधिकता।

आलस्य—आलसी मनुष्यका जीवन तमोमय रहता है। वह किसी भी कामको प्रायः पूरा नहीं कर पाता। आज-कल करते-करते ही उसके जीवनके दिन पूरे हो जाते हैं। वह परमार्थकी बातें सुनता-सुनाता है, वे उसे अच्छी भी लगती हैं, परन्तु आलस्य उसे साधनमें तत्पर नहीं होने देता। श्रद्धावान् पुरुष भी आलस्यके कारण उद्देश्य-सिद्धितक नहीं पहुँच पाता। इसीलिये श्रद्धाके साथ 'तत्परता' की आवश्यकता भगवान्ने गीतामें बतलायी है। आलस्यसे तत्परताका विरोध है, आलस्य सदा यही भावना उत्पन्न करता रहता है कि 'क्या है, पीछे कर लेंगे।' जब कभी उसके मनमें कुछ करनेकी भावना होती है, तभी आलस्य प्रमाद, जम्हाई, तन्द्रा आदिके रूपमें आकर उसे घेर लेता है। अतएव आलस्यको साधन-मार्गका एक बहुत बड़ा शत्रु मानकर जिस किसी उपायसे भी उसका नाश करना चाहिये।

आपको भी पा लूं।' कहना नहीं होगा कि यह प्रार्थना भी उसकी क्षणभरके लिये ही होती है। ऐसे लोगोंको करोड़पतिसे कङ्गाल होते देखा जाता है और अर्थ-कष्टके साथ ही आदतसे प्रतिकूल स्थितिमें रहनेको वाध्य होनेका एक महान् कष्ट उन्हें विशेषरूपसे भोगना पड़ता है। जो मनुष्य भगवत्प्राप्ति तो चाहता है परन्तु वैराग्य नहीं चाहता और सादा जीवन बितानेमें सङ्कोचका अनुभव करता है, वह भगवत्प्राप्तिके मार्गपर अग्रसर नहीं हो सकता। अतः विलासिताके भावको मनमें आते ही उसे तुरन्त निकाल देना चाहिये। यह भाव तरह-तरहकी युक्तियाँ पेश करके पहले-पहले 'कर्तव्य' का वाना धारणकर आश्रय प्राप्तकर लेता है, फिर वढ़कर मनुष्यका सर्वनाश कर डालता है; अतएव इससे विशेष सावधान रहना चाहिये। विलासी पुरुषोंका सङ्ग करना या उनके आसपास रहना भी विलासिता में फँसानेवाला है। इसलिये विलासिताको परम शत्रु समझ इसका सर्वथा नाश करके सभी वातोंमें सादगीका आचरण करना चाहिये। विलासितामें अनेक हानियाँ हैं; विशेषतः निम्नलिखित, दस हानियाँ तो होती ही हैं—इस वातको याद रखना चाहिये।

१. धनका नाश, २. आरोग्यका नाश, ३. आयुका नाश, ४. सादगीके सुखका नाश, ५. देशके स्वार्थका नाश, ६. धर्मका नाश, ७. सत्यका नाश, ८. वैराग्यका नाश, ९. भक्तिका नाश, १०. ज्ञानका नाश।

प्रसिद्धि—संसारमें ख्याति साधन-मार्गका एक बड़ा विघ्न है। इसीसे सन्तोंने भगवत्प्रेमको वैसे ही गुप्त रखनेकी आज्ञा दी

है, जैसे भले घरकी कुलटा स्त्री जारके अनुरागको छिपाकर रखती है। साधककी प्रसिद्धि होते ही चारों ओरसे लोग उसे घेर लेते हैं। साधनके लिये उसे समय मिलना कठिन हो जाता है। उसका अधिक समय सैकड़ों-हजारों आदमियोंसे बातचीत करने और पत्र-व्यवहारमें बीतने लगता है। जीवनकी अन्तर्मुखी वृत्ति बहिर्मुखी बनने लगती है। होते-होते उसका जीवन सर्वथा बहिर्मुख हो जाता है। वह बाहरके कामोंमें ही लग जाता है और क्रमशः गिरने लगता है। परन्तु प्रसिद्धिमें प्रिय भाव उत्पन्न हो जानेके कारण उसे वह सदा बढ़ाना चाहता है और यों दिनों-दिन अधिकाधिक लोगोंसे परिचय प्राप्त कर लेता है। फिर उसका असली साधकका स्वरूप तो रहता नहीं, वरं प्रसिद्धि कायम रखनेके लिये वह दम्भ आरम्भ कर देता है और वैसे ही रात-दिन जलता और नये-नये ढोंग रचा करता है, जैसे निर्धन मनुष्य धनी कहानेपर अपने उस झूठे दिखाऊ धनीपनको कायम रखनेके लिये अन्दर-ही-अन्दर जलता और जाल रचता रहता है। उसका जीवन कपट, दुःख और सन्तापका घर बन जाता है। ऐसी अवस्थामें साधनका तो स्मरण ही नहीं रहता। अतएव इस अवस्थाकी प्राप्ति न हो, इससे पहले ही बढ़ती हुई प्रसिद्धिको रोकनेकी चेष्टा करनी चाहिये। यह बात याद रखनी चाहिये—'जिनकी प्रसिद्धि नहीं हुई और भजन होता है, वे पूरे भाग्यवान् हैं। जितनी प्रसिद्धि है, उससे ज्यादा भजन होता है, तो भी अधिक डर नहीं है। जितना भजन होता है, उतनी ही प्रसिद्धि है तो गिरनेका भय है। जितना भजन होता है, उससे कहीं ज्यादा प्रसिद्धि हुई तो वह गिरने लगा और

जहाँ कोई विना भजनके ही भजनानन्दी कहलाता है, वहाँ तो उसका पतन हो ही चुका।'

मान वड़ाई—यह वड़ी मीठी छुरी है या विषभरा सोनेका घड़ा है। देखनेमें वहुत ही मनोहर लगता है, परन्तु साधन-जीवनको नष्ट करते इसे देर नहीं लगती। संसारके वहुत वड़े-वड़े पुरुषोंके वहुत वड़े-वड़े कार्य मान-वड़ाईके मोलपर विक जाते हैं। असली फल उत्पन्न करनेके पहले ही वे सव मान-वड़ाईके प्रवाहमें वह जाते हैं। मानकी अपेक्षा भी वड़ाई अधिक प्रिय मालूम होती है। वड़ाई पानेके लिये मनुष्य मानका त्याग कर देता है; लोग प्रशंसा करें, इसके लिये मान छोड़कर सबसे नीचे वैठते और मानपत्र आदिका त्याग करते लोग देखे जाते हैं। वड़ाई मीठी लगी कि साधन-पथसे पतन हुआ। आगे चलकर तो उसके सभी काम वड़ाईके लिये ही होते हैं। जवतक साधनसे वड़ाई होती है, तवतक वह साधकका भेष रखता है। जहाँ किसी कारणसे परमार्थ-साधनमें रहनेवाले मनुष्योंकी निन्दा होने लगती है, वहीं वह उसे छोड़कर जिस कार्यमें वड़ाई होती है, उसीमें लग जाता है; क्योंकि अव उसे वड़ाईसे ही काम है, भगवान्‌से नहीं। अतएव मान-वड़ाईकी इच्छाका सर्वथा त्याग करना चाहिये। परन्तु सावधान, यह वासना वहुत ही छिपी रह जाती है, सहजमें इसके अस्तित्वका पता नहीं लगता। मालूम होता है, हम वड़ाईके लिये काम नहीं कर रहे हैं; परन्तु यदि निन्दा जरा भी अप्रिय लगती है और वड़ाई सुनते ही मनमें सन्तोष-सा प्रतीत होता है या आनन्दकी एक लहर-सी उठकर होठोंपर हँसीकी रेखा-सी

चमका देती है तो समझना चाहिये कि बड़ाईकी इच्छा अवश्य मनमें है। बहुत-से मनुष्य तो भोगोंतकका त्याग भी बड़ाई पानेके लिये ही करते हैं। यद्यपि न करनेवालोंकी अपेक्षा बड़ाई-के लिये किया जानेवाला त्याग या धार्मिक सत्कार्य बहुत ही उत्तम है, परन्तु परमार्थदृष्टिसे मान-बड़ाईकी इच्छा अत्यन्त हेय और निन्दनीय होनेके साथ ही साधनसे गिरानेवाली है।

गुरुपन—साधन-अवस्थामें मनुष्यके लिये गुरुभावको प्राप्त हो जाना बहुत ही हानिकारक है। ऐसी अवस्थामें, जब वह स्वयं ही सिद्धावस्थाको प्राप्त नहीं होता, जब उसीका साधन-पथ रुक जाता है, तब वह दूसरोंको तो कैसे पार पहुँचायेगा! ऐसे ही कच्चे गुरुओंके सम्बन्धमें यह कहा जाता है—जैसे अन्धा अन्धोंकी लकड़ी पकड़कर अपने सहित सबको गड्ढेमें डाल देता है, वैसी ही दशा इनकी होती है। परमार्थ-पथमें गुरु बननेका अधिकार उसीको है, जो सिद्धावस्थाको प्राप्त कर चुका हो। जो स्वयं लक्ष्यतक नहीं पहुँचा है, वह यदि दूसरोंको पहुँचानेका ठेका लेने जाता है तो उसका परिणाम प्रायः बुरा ही होता है। शिष्योंमेंसे कोई सेवा करता है तो उसपर उसका मोह हो जाता है। कोई प्रतिकूल होता है तो उसपर क्रोध आता है। सेवकके विरोधीसे द्वेष होता है। दलबन्दी हो जाती है। जीवन बहिर्मुख होकर भाँति-भाँतिके झंझटोंमें लग जाता है। साधन छूट जाता है। उपदेश और दीक्षा देना ही जीवनका व्यापार बन जाता है। राग-द्वेष बढ़ते रहते हैं और अन्तमें वह सर्वथा गिर जाता है। साधनपथमें दूसरोंको साथी बनाना, पिछड़े हुओंको साथ लेना, मित्रभावसे परस्पर सहायता करना, भूले हुओंको मार्ग बताना,

साथमें प्रकाश या भोजन हो तो दूसरोंको भी उससे लाभ उठाने देना, मार्गके बीमारोंकी सेवा करना, अशक्तोंको शक्तिभर साहस, शक्ति और धैर्य प्रदान करना तो साधकका परम कर्तव्य है। परन्तु गुरु बनकर उनसे सेवा कराना, पूजा प्राप्त करना, अपनेको ऊँचा मानकर उन्हें नीचा समझना, दीक्षा देना, सम्प्रदाय बनाना, अपने मतको आग्रहसे चलाना, दूसरोंकी निन्दा करना और बड़प्पन बघारना आदि बातें भूलकर भी नहीं करनी चाहिये।

बाहरी दिखावा—साधनमें 'दिखावे' की भावना बहुत बुरी है। वस्त्र, भोजन और आश्रम आदि बातोंमें मनुष्य पहले तो संयमके भावसे कार्य करता है; परन्तु पीछे उसमें प्रायः 'दिखावे' का भाव आ जाता है। इसके अतिरिक्त, 'ऐसा सुन्दर आश्रम बने, जिसे देखते ही लोगोंका मन मोहित हो जाय, भोजनमें इतनी सादगी हो कि देखते ही लोग आकर्षित हो जायँ, वस्त्र इस ढङ्गसे पहने जायँ कि लोगोंके मन उनको देखकर खिंच जायँ'—ऐसे भावोंसे भी ये कार्य होते हैं। यद्यपि यह दिखावटी भाव सुन्दर और असुन्दर दोनों ही प्रकारके चाल-चलन और वेष-भूषामें रह सकता है। बढ़िया कपड़े पहननेवालेमें स्वाभाविकता हो सकती है और मोटा खद्दर, या गेरुआ अथवा बिगाड़कर कपड़े पहननेवालेमें 'दिखावे' का भाव रह सकता है। इसका सम्बन्ध ऊपरकी क्रियासे नहीं है, मनसे है। तथापि अधिकतर सुन्दर दिखानेकी भावना ही रहती है। लोकमें जो फैशन सुन्दर समझी जाती है, उसीका अनुकरण करनेकी चेष्टा प्रायः हुआ करती है।

अन्दर सचाई होनेपर भी 'दिखावे' की चेष्टा साधकको गिरा ही देती है । अतएव इससे सदा बचना चाहिये ।

पर-दोष-चिन्तन—यह भी साधन-मार्गका एक भारी विघ्न है । जो मनुष्य दूसरेके दोषोंका चिन्तन करता है, वह भगवान्‌का चिन्तन नहीं कर सकता । उसके चित्तमें सदा द्वेषाग्नि जला करती है । उसकी जहाँ नजर जाती है, वहीं उसे दोष दिखायी देते हैं । दोषदर्शी सर्वत्र भगवान्‌को कैसे देखे ! इसी कारण वह जहाँ-तहाँ हर किसीकी निन्दा कर बैठता है । परदोष-दर्शन और परनिन्दा साधनपथके बहुत गहरे गड्ढे हैं । जो इनमें गिर पड़ता है, वह सहज ही नहीं उठ सकता । उसका सारा भजन-साधन छूट जाता है । अतएव साधकको अपने दोष देखने तथा अपनी सच्ची निन्दा करनी चाहिये । जगत्‌की ओरसे उदासीन रहना ही उसके लिये श्रेयस्कर है ।

सांसारिक कार्योंकी अधिकता—मनुष्यको घरके, संसारके, आजीविकाके—यहाँतक कि परोपकार तकके कार्य उसी हदतक करने चाहिये, जिसमें विश्राम करने तथा दूसरी आवश्यक बातें सोचनेके लिये पर्याप्त समय मिल जाय । जो मनुष्य सुबहसे लेकर रातको सोनेतक काममें ही लगे रहते हैं, उनको जब विश्राम करनेकी ही फुरसत नहीं मिलती, तब घण्टे दो घण्टे स्वाध्याय करने अथवा मन लगाकर भगवच्चिन्तन करनेको तो अवकाश मिलना सम्भव ही कैसे हो सकता है । उनका सारा दिन हाय-हाय करते बीतता है, मुश्किलसे नहाने-खानेको समय मिलता है । वे उन्हीं कामोंकी चिन्ता करते-करते सो जाते हैं,

जिससे स्वप्नमें भी उन्हें वैसी ही सृष्टिमें विचरण करना पड़ता है। असलमें तो सांसारिक पदार्थोंके अधिक संग्रह करनेकी इच्छा ही दूषित है। दानके तथा परोपकारके लिये भी धन-संग्रह करनेवालोंकी मानसिक दयनीय दुर्दशाके दृश्य प्रत्यक्ष देखे जाते हैं, फिर भोगके लिये अर्थसञ्चय करनेवालोंके दुःख भोगनेमें तो आश्चर्य ही क्या है। परन्तु धनसञ्चय किया भी जाय तो इतना काम तो कभी नहीं बढ़ाना चाहिये, जिसकी सँभाल और देखभाल करनेमें ही जीवनका अमूल्य समय रोज दो घड़ी स्वस्थचित्तसे भगवद्भजन किये बिना ही बीत जाय। जिन बेचारोंके पेट पूरे नहीं भरते, उनके लिये तो कदाचित् दिन-रात मजदूरीमें लगे रहना और अधिक-से-अधिक कार्यका विस्तार करना क्षम्य भी हो सकता है; परन्तु जो सीधे या प्रकारान्तर-से धनकी प्राप्तिके लिये ही कार्योंको बढ़ाते हैं, वे तो मेरी तुच्छ बुद्धिमें भूल ही करते हैं। निष्कामभावसे करनेकी इच्छा रखने-वाले पुरुष भी जब अधिक कार्योंमें व्यस्त हो जाते हैं, तब प्रायः निष्कामभाव चला जाता है और कहीं-कहीं तो ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है, जिसमें बाध्य होकर सकामभावका आश्रय लेना पड़ता है। अतएव जहाँतक बने, साधक पुरुषको सांसारिक कार्य उतने ही करने चाहिये, जितनेसे गृहस्थीका खर्च सादगी-से चल जाय, प्रतिदिन नियमित रूपसे भजन-साधनको समय मिल सके, चित्त न अशान्त हो और न निकम्मेपनके कारण प्रमाद या आलस्यको ही अवसर मिले, कर्तव्य-पालनकी तत्परता बनी रहे और मनुष्य-जीवनके मुख्य ध्येय 'भगवत्प्राप्ति'-का कभी भूलकर भी विस्मरण न हो।

विघ्न और भी बहुत-से हैं, पर प्रधान-प्रधान विघ्नोंमें ये आठ बड़े प्रबल हैं। साधकको चाहिये कि वह दयामय सच्चिदानन्दघन भगवान्‌की कृपापर विश्वास करके और उसीका आश्रय ग्रहण करके इन विघ्नोंका नाश कर दे। प्रभु-कृपाके बलसे असम्भव भी सम्भव हो जाता है। मनुष्य प्रभु-कृपापर जितना ही विश्वास करता है, उतना ही वह प्रभुकी सुखमय गोदकी ओर आगे बढ़ता है।

पाप विषयासक्तिसे होते हैं, प्रारब्धसे नहीं

प्रश्न—मनुष्यसे जो पापकर्म बनते हैं, उसमें प्रधान कारण क्या है ?

उत्तर—पापोंके होनेमें प्रधान कारण विषयोंकी आसक्ति ही है; आसक्तिसे कामना उत्पन्न होती है, कामनाकी पूर्तिसे लोभ, और कामनामें विघ्न पड़नेसे क्रोध उत्पन्न होता है। ये काम, क्रोध, लोभ ही सारे पापोंकी जड़ हैं। भगवान्‌ने स्पष्ट शब्दोंमें कहा है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥

(गीता १६ । २१)

काम, क्रोध और लोभ—ये तीन प्रकारके नरकके द्वार हैं; ये आत्माका नाश (अधःपतन) करनेवाले हैं, अतएव इन तीनोंको त्याग देना चाहिये।

प्रश्न—क्या विषयासक्तिका और काम, क्रोध, लोभक त्याग करना मनुष्यकी शक्तिमें है ?

उत्तर—अवश्य ही है; शक्तिमें न होता तो भगवान् त्या करनेकी आज्ञा ही कैसे देते तथा क्यों वेद-पुराण, स्मृति-शास्त्र निषिद्धके त्याग और विहितके ग्रहणकी व्यवस्था करते।

प्रश्न—बात तो ऐसी ही मालूम होती है, परन्तु एक सन्दे होता है। कुछ सज्जन कहते हैं कि इसमें जीव पराधीन है एक बार हरिद्वारमें गङ्गातटपर एक सिन्धी माईसे बातच

होने लगी। भाईको वेदान्तका बड़ा बोध मालूम होता था। उन्होंने मुझसे कहा कि 'पाप विषयासक्तिसे भी होते हैं और प्रारब्धसे भी। बल्कि कभी-कभी तो प्रारब्धका इतना प्रबल वेग होता है कि मनुष्यको बाध्य होकर बुरे-से-बुरे पापकर्म करने पड़ते हैं।' जब मैंने नहीं माना तो उन्होंने मुझे जगत्प्रसिद्ध श्रीविद्यारण्यस्वामिकृत 'पञ्चदशी' ग्रन्थसे निम्नलिखित श्लोकोंको पढ़कर सुनाया और उनका अर्थ करके यह समझानेकी चेष्टा की कि 'पाप प्रारब्धसे होते हैं, इनसे छूटनेकी कोशिश न करके ब्रह्मके बोधके लिये चेष्टा करनी चाहिये। ब्रह्मका बोध होनेपर पाप रह भी गये तो कोई हर्ज नहीं, क्योंकि पाप जिन काम-क्रोधादिसे होते हैं, वे तो अन्तःकरणके धर्म हैं। जबतक अन्तःकरण है, तबतक वे रहेंगे ही, और अन्तःकरण स्थूलशरीरके विनाशतक जरूर रहेगा, अतएव पापोंके लिये कोई चिन्ता नहीं करनी चाहिये।' पञ्चदशीके ये श्लोक थे—

अपथ्यसेविनश्चोरा राजदाररता अपि।
जानन्त एव स्वानर्थमिच्छन्त्यारब्धकर्मतः॥
न चाऽतद् वारयितुमीश्वरेणापि शक्यते।
यत ईश्वर एवाह गीतायामर्जुनं प्रति॥
सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥

इनका अर्थ समझाते हुए भाईजीने कहा—''कुपथ्यका सेवन करनेवाले, चोर और राजाकी स्त्रीके साथ रमण करनेवाले लोग अपने भविष्यमें होनेवाले अनर्थको जानते हुए भी प्रारब्ध कर्मके वशमें होकर ऐसे काम करनेकी इच्छा करते हैं। औ

पं० द० प्र० ७-१३—

उनकी इन प्रारब्धजनित इच्छाओंका रोकना ईश्वरके लिये भी शक्य नहीं है। इस विषयमें स्वयं ईश्वरने गीतामें अर्जुनके प्रति कहा है कि ज्ञानवान् पुरुष भी अपनी प्रकृतिके अनुसार चेष्टा करता है, सभी जीव अपनी प्रकृतिके वश रहते हैं; फिर मैं (ईश्वर) या और कोई उसका निग्रह क्या करेगा। यदि मनुष्य अवश्य होनेवाले दुःखोंको रोक सकता तो नल, राम तथा युधिष्ठिर-सरीखे प्रतापी और शक्तिमान् पुरुष कभी दुःखोंमें न फँसते। प्रारब्धका भोग तीन प्रकारसे होता है—स्वेच्छासे, अनिच्छासे और परेच्छासे। स्वेच्छासे दुःखका भोग देनेवाला प्रारब्ध यदि दुष्कर्मकी इच्छा उत्पन्न न करेगा तो भोग होगा ही कैसे। अतएव स्वेच्छा-प्रारब्धके अनुसार प्राप्त होनेवाले दुःखभोगोंमें मनुष्यके द्वारा पापादिका होना अनिवार्य है। अवश्य ही अज्ञानी इन पापोंमें मनसे फँसता है और ज्ञानी प्रारब्धकी प्रेरणासे बाध्य होकर; क्योंकि अवश्यम्भावीका प्रतीकार तो हो ही नहीं सकता। इसी प्रकार अनिच्छा-प्रारब्धमें बिना अपनी इच्छाके दुःख भोगकी प्राप्ति होती है। अनिच्छा-प्रारब्धकी प्रेरणासे रजोगुण बढ़ता है, उससे काम और क्रोध उत्पन्न हो जाते हैं। इन्हींके कारण मनुष्य पापमें प्रवृत्त हो जाता है। उसकी अपनी इच्छा न रहनेपर भी उसे बाध्य होकर पाप करना पड़ता है। यदि ऐसा न हो तो अनिच्छा-प्रारब्ध सिद्ध ही नहीं हो सकता। इसीलिये गीतामें श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें ऐसा आया है—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥

(३।३६-३७)

अर्जुन पूछता है—'श्रीकृष्ण ! यह पुरुष इच्छा न करनेपर भी किसकी प्रेरणामें पाप करता है ? मानों कोई जबरदस्ती उसे पापमें लगा रहा हो ।' इसके उत्तरमें श्रीकृष्ण कहते हैं-"जो इस पुरुषको पापमें प्रवृत्त करता है, वह रजोगुणसे उत्पन्न हुआ काम है; यह 'काम' ही क्रोधका रूप धारण कर लेता है, यह काम महाशन है अर्थात् कामनाकी कभी पूर्ति होती ही नहीं । अतएव इसी कामको तुम अपना वैरी जानो ।' परेच्छा-प्रारब्धका भोग दूसरेको प्रसन्न करनेके लिये होता है । अतएव इन पापोंको कौन टाल सकता है । इनसे घबरानेकी आवश्यकता नहीं ।"

माईजीके इस उपदेशका मर्म मैं ठीक-ठीक समझ नहीं सका । फिर एक बार एक जगह साधुओंकी एक मण्डली आयी । तीन साधु थे । उनमें जो प्रधान साधु थे, वे नग्न थे, उनके साथ एक युवती स्त्री थी । उनके आचरणपर कुछ सन्देह होनेपर मैंने पता लगाया तो मालूम हुआ कि युवती सदा साधुजीके पास रहती है और उसके साथ उनका सम्बन्ध पवित्र नहीं है । मैंने साहस करके साधुजीसे इसका कारण पूछा तो उन्होंने पहले तो यह कहा कि 'तुमको इससे क्या मतलब है, हमसे कोई उपदेश लेना हो तो पूछो ।' मैंने जब नम्रतापूर्वक आग्रह किया, तब उन्होंने जोशमें आकर कहा कि 'हम तो अशास्त्रीय कुछ भी नहीं कर रहे हैं । स्त्रीके साथ रहनेसे हमारे आत्मबोधमें कुछ भी फर्क नहीं पड़ता ।' फिर वे भी पञ्चदशीके उपर्युक्त

ईजीवाले श्लोकोंको कह गये और बोले कि 'यह सब कुछ
ारब्धसे होता है, जब तक शरीरका प्रारब्ध-भोग शेष है,
ब तक इस स्त्रीको हम हटा नहीं सकते । न यह हमें
छोड़ सकती है । यह तो इस शरीरके भोगके लिये है ।
फिर दूसरी बात यह भी है कि हम जो कुछ भी करें, वस्तुतः
हम तो कुछ करते ही नहीं । यह तो सब प्रकृतिमें होता है, सब
इन्द्रियोंका व्यापार है, हमसे इसका क्या सम्बन्ध ! गीता भी
तो यही कहती है—

नैव किञ्चित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्श‍ृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥
(५ । ८-९)

'तत्त्वज्ञानी महात्मा देखता, सुनता, स्पर्श करता, सूँघता,
खाना, सोना, साँस लेना, बोलना, छोड़ना, ग्रहण करता, पल
मारता और खोलना—यह सब काम करता हुआ यही मानता
कि इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयोंमें वर्त रही हैं, हम शुद्ध-बुद्ध-मु
स्वभाव आत्मासे इनका कोई सम्बन्ध नहीं है ।'

साधुजीकी व्याख्यापर उस समय मुझे कोई उत्तर
आया और मैं वहाँसे अपने घर चला आया ।

मुझे सिन्धी माईजीसे बात करके तो ऐसा अनुमान
था कि माईजी जो कुछ कहती हैं, अपने सरल विश्वासस
समझी हैं, वैसा ही कहती हैं; परन्तु साधुजीकी बात
और उनके हाव-भाव देखकर तो यही प्रतीत हुआ कि

दोषका समर्थन करनेके लिये ही शास्त्रका दुरुपयोग कर रहे हैं। जो कुछ भी हो, अब प्रश्न यह है कि क्या वास्तवमें स्वेच्छा और अनिच्छा-प्रारब्धसे मनुष्य पाप करनेको बाध्य है? क्या गीतामें इसका समर्थन है? और क्या ज्ञानी पुरुष भी निषिद्धाचरण कर सकता है? यदि नहीं तो विद्यारण्य स्वामी-जैसे ग्रन्थकारने ऐसी बातें क्यों लिखीं? क्या आपने पञ्चदशी पढ़ी है? आपका इस सम्बन्धमें जो कुछ भी अभिमत हो, मुझसे स्पष्ट समझाकर कहिये।

उत्तर—श्रीविद्यारण्य स्वामीकी पञ्चदशीको मैंने देखा है। पञ्चदशी वेदान्तका बहुत ही उपादेय और मान्य ग्रन्थ है। विद्यारण्य स्वामीकी महान् विद्वत्ताके सामने सहज ही मनुष्यका सिर झुक जाता है। फिर आचार्यके नाते तो वे हम सबके परम पूज्य हैं, ऐसी दशामें मुझ-सरीखा साधारण मनुष्य उनके शब्दों पर क्या आलोचना कर सकता है। दीर्घकालतक आचार्योंके चरणोंमें बैठकर श्रद्धापूर्वक स्वाध्याय करनेसे ही उनके वचनोंका रहस्य जाना जा सकता है। पूज्यपाद विद्यारण्य स्वामीने ही यदि इस प्रकरणको लिखा है तो किस रहस्यको मनमें रखकर लिखा है, कुछ समझमें नहीं आता। परन्तु इस प्रकरणका साधारणतः जो अर्थ किया जाता है या समझा जाता है, उससे तो अवश्य ही बहुत ही अनुचित प्रवृत्तियोंके विस्तारमें सहारा मिला है और उसके बलपर पापका बहुत विस्तार हुआ है। आपने जो उदाहरण दिये हैं, ऐसे सैकड़ों-हजारों उदाहरण मिल सकते हैं। परन्तु एक बात याद रखनी चाहिए, किसीके द्वारा दुरुपयोग किये जानेसे ही शास्त्रके रहस्यमय वाक्य दूषित नहीं

हो जाते । दुरुपयोग तो विषयीलोग हरेक बातका ही करते हैं, उनका उद्देश्य ही किसी-न-किसी प्रकारसे अपनी भोग-कामनाको पूर्ण करना होता है। देखना तो यह है कि वास्तवमें इसका रहस्य क्या है, इस सम्बन्धमें मैं तो बहुत नम्रताके साथ पूज्य-पाद श्रीविद्यारण्य स्वामीजीके पवित्र चरणोंमें नमस्कार करता हुआ यही कहता हूँ कि बार-बार विचार करनेपर भी पञ्चदशीके उपर्युक्त वाक्योंका रहस्य मैं समझ नहीं सका । वरं कभी-कभी तो मनमें ऐसा दृढ़ भाव आता है कि ये वाक्य महामान्य विद्या-रण्य मुनिके हैं ही नहीं; क्योंकि जो महामान्य विद्यारण्य मुनि पञ्चदशीमें ही अन्यत्र स्वयं कहते हैं—

अशास्त्रीयमपि द्वैतं तीव्रं मन्दमिति द्विधा ।
कामक्रोधादिक तीव्रं मनोराज्यं तथेतरत् ॥
उभयं तत्त्वबोधात् प्राङ्निवार्यं बोधसिद्धये ।
शमः समाहितत्वं च साधनेषु श्रुतं यतः ॥
तत्त्वं बुद्ध्वापि कामादीन्निःशेषं न जहासि चेत् ।
यथेष्टाचरण ते स्यात् कर्मशास्त्रातिलङ्घिनः ॥
बुद्धाद्वैतसतत्त्वस्य यथेष्टाचरणं यदि ।
शुनां तत्त्वदृशां चैव को भेदोऽशुचिभक्षणे ।
बोधात् पुरा मनोदोषमात्रात् क्लिश्यस्यथाधुना
अशेषलोकनिन्दा चेत्यहो ते बोधवैभवम्
विड्वराहादितुल्यत्वं मा काङ्क्षीस्तत्त्वविद् भव
सर्वधीदोषसंत्यागाल्लोकैः पूज्यस्व देववत् ॥

(पञ्चदशी, द्वैतविवेकप्रकरण ४६ से ५०, ५

'अशास्त्रीय द्वैत भी तीव्र और मन्द—दो प्रकारका होता है। काम-क्रोधादिको तीव्र द्वैत कहते है और मनोराज्यको मन्द। बोधकी सिद्धिके लिये अर्थात् ज्ञानकी प्राप्तिके लिये इन दोनों प्रकारके द्वैतोंको पहले ही निवारण कर देना चाहिये, क्योंकि ब्रह्मज्ञानके साधनामें मन-इन्द्रियोंका वशमें होना और चित्तका समाहित होना दोनों ही सुने जाते हैं। तत्त्वको जानकर भी यदि तू कामादिका पूर्णरूपसे नहीं त्याग करेगा तो उसके फल-स्वरूप शास्त्रोंकी आज्ञाको लङ्घन करनेवाला यथेच्छाचारी बन जायगा। और यदि अद्वैत तत्त्वको जान लेनेपर भी यथेच्छाचार ही बना रहा तो फिर उस शास्त्रका उल्लङ्घन करनेवाले तत्त्व-ज्ञानी और कुत्तोंमें भेद ही क्या रह गया! इससे तो अज्ञानी रहना अच्छा था; क्योंकि उस अवस्थामें तुझे काम-क्रोधादि मानसिक दोष ही क्लेश दिया करते थे, पर अब ज्ञानी कहलानेपर उन दोषोंके साथ-साथ लोकमें तेरी बड़ी भारी निन्दा और होने लगी है। वाह! तेरा यह ज्ञानका वैभव भी विचित्र ही है। (अर्थात् यदि यही ज्ञान है तो फिर अज्ञान क्या होगा) अतएव तुम तत्त्ववेत्ता होकर विष्ठा खानेवाले सूअर आदिके समान बनना मत चाहो। सब दोषोंको दूर प्रकार छोड़कर ज्ञानी बनो कि लोग तुम्हारी देववत् पूजा करें।'

जो महापुरुष इतने कड़े शब्दोंमें मिथ्या ज्ञानीकी खबर लेते हैं और काम-क्रोधका विरोध करते हैं, वे प्रारब्धभोगके व्याजसे ज्ञानीके लिये भी प्रकारान्तरसे परवश होकर प[illegible] कैसे सिद्ध करेंगे? तत्त्वज्ञानके अधिकारकी व्याख्या [illegible] श्रुति स्पष्ट शब्दोंमें घोषणा करती है—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥
(कठ० १ । २ । २४)

'जो पापकर्मोंसे निवृत्त नहीं हुआ है, जिसकी इन्द्रियाँ शान्त नहीं हैं और जिसका चित्त समाहित नहीं है और जो अशान्तमानस है, वह पुरुष केवल (बाह्य) ज्ञानके द्वारा ही आत्माको प्राप्त नहीं कर सकता।' जब आत्माकी प्राप्तिके पहले ही पापोंका परित्याग कर देना पड़ता है, तब आत्मप्राप्तिके अनन्तर बोधवान् पुरुषके द्वारा पाप कैसे हो सकते हैं? औ[र] जैसे महामान्य विद्वान् श्रीविद्यारण्य मुनि-जैसे महापुरुष उसका प्रतिपादन कर सकते हैं। इन्हीं सब बातोंपर विचार करनेसे मेरे उस सन्देहकी पुष्टि हो जाती है कि सम्भव है किसी मन-चले मनुष्यने अपने मिथ्या ज्ञानको (जिसका स्वयं विद्यारण्य मुनि विरोध करते हैं) वास्तविक ज्ञानके आसनपर बैठानेके लिये विद्यारण्य मुनिके पवित्र नामका दुरुपयोग किया है। इसीसे शरीर और मनसे पापाचरण करते हुए भी लोग अपनेको आज जीवन्मुक्त ज्ञानी पुरुष कहनेमें नहीं सकुचाते और भो[ली] जनताको भ्रममें डालते हैं। ऐसे ही लोगोंके लिये कहा गया है—

सर्वे ब्रह्म वदिष्यन्ति सम्प्राप्ते हि कलौ युगे ।
नानुतिष्ठन्ति मैत्रेय शिश्नोदरपरायणाः ॥

'हे मैत्रेय! कलियुग आनेपर व्यभिचारी और पे[टू लोग] ब्रह्मकी बातें सब [करेंगे, परन्तु] साधन कुछ भी नहीं करेंगे, परन्तु ब्रह्मकी बातें सब ...

गोस्वामीजीने भी कहा है—

नहीं रह जाती। साथ ही यह भी सिद्ध होता है कि इस प्रकार विधान करनेवाला ईश्वर जीवोंको पापके बन्धनसे कभी मुक्त करना ही नहीं चाहता।

३--साधारण विवेकसे भी यह बात भलीभाँति समझमें आती है कि किसी भी विवेकयुक्त कानूनमें ऐसा विधान नहीं होना चाहिये कि जो एक अपराधके दण्डस्वरूप पुनः दूसरा अपराध करनेकी अनुमति देता हो। कोई भी दण्डविधान यह नहीं कह सकता कि चोरी करनेवालेको पुनः चोरी करनी पड़ेगी। जब मानवी कानूनमें ऐसा विधान नहीं हो सकता, तब परम न्यायकारी और दयालु ईश्वरके कानूनमें ऐसा विधान होना कैसे सम्भव है।

४--शास्त्रोंमें पापके लिये दण्डविधान है। रोग, धन-नाश, पुत्रनाश, अकीर्ति आदिके रूपमें पापका ही दण्ड मिलता है। परन्तु जब स्वयं ईश्वर जीवके लिये पापका विधान करता है और उसे पाप करनेके लिये मजबूर करता है और फिर स्वयं ही उसके लिये दण्ड-भोगकी व्यवस्था करता है, तब तो इससे ईश्वर अन्यायी सिद्ध होता है।

५--जब जगन्नियन्ता ईश्वर ही जीवसे कर्म कराता है, तब उसके फलस्वरूप प्राप्त होनेवाला सुख-दुःख भी ईश्वरको ही भोगना चाहिये। कर्म करनेको बाध्य करे ईश्वर और फल भोग करे जीव--यह भी ईश्वरका एक अन्याय ही है।

अतएव किसी भी युक्तिसे सिद्ध नहीं होता कि पाप प्रारब्धसे होते हैं। स्वेच्छा और अनिच्छा-प्रारब्धके भोगमें जो गीताका प्रमाण दिया गया है, वह भी युक्तियुक्त नहीं है;

क्योंकि ज्ञानी भी प्रकृतिके अनुसार चेष्टा करता है—इसका अर्थ यह नहीं होता कि वह पूर्वजन्मके प्रारब्धवश पाप करता है। प्रकृतिका अर्थ है स्वभाव, ज्ञानीका स्वभाव तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिसे पूर्व साधन-कालमें ही शुद्ध हो जाता है। उस शुद्ध स्वभाव में अशुद्धि कैसे आ सकती है। फिर इसी श्लोकके अगले ही श्लोकमें भगवान् यह कहते हैं कि प्रत्येक इन्द्रियके अर्थमें राग-द्वेष स्थित हैं, उन दोनोंके वशमें मत हो; क्योंकि वे दोनों तुम्हारे परिपन्थी हैं—साधनको लूटनेवाले हैं।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत् तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥
(गीता ३।३४)

यदि ज्ञानवान् पुरुष भी प्रकृतिपरवश होकर पाप करनेमें बाध्य होता तो भगवान् राग-द्वेषसे—जो पापोंके मूल हैं—बचनेकी आज्ञा कैसे देते। क्योंकि वैसी अवस्थामें बचना-न-बचना तो उसके हाथमें है ही नहीं। अतएव यही सिद्ध होता है कि यहाँ प्रकृतिका अर्थ उसका निवृत्ति या प्रवृत्तिपरक स्वभाव है, पाप-वासना नहीं। अतः प्रारब्धभोगवश पाप करनेके लिये मनुष्य बाध्य है, इसके समर्थनमें ईश्वरवाक्यके रूपमें उक्त 'सदृशं चेष्टते स्वस्याः' श्लोकका प्रमाण सर्वथा अनुपयुक्त है। उसमें आगे 'अनिच्छा-प्रारब्ध-भोग' के प्रमाणमें अर्जुनके प्रश्न और भगवान्‌के उत्तरको प्रमाणमें देनेकी तो किसी प्रकार भी संगति नहीं बैठती; क्योंकि वहाँ तो भगवान् स्पष्ट शब्दोंमें पाप-वासनामें रजोगुणसे उत्पन्न कामको कारण बताते हैं, प्रारब्धको नहीं! और आगे चलकर उसी प्रसङ्गमें अति स्पष्ट शब्दों

उनको यह आज्ञा करते हैं कि 'इन्द्रिय, मन और बुद्धिमें रहकर ज्ञान-विज्ञानका नाश करनेवाले इस पापी कामको तू पहले इन्द्रियोंका नियमन करके अवश्य मार। आत्मा बुद्धिसे भी श्रेष्ठ है, इस बातको जानकर आत्माके द्वारा आत्माको वश करके तू, हे महाबाहो! इस दुर्जय कामरूपी वैरीको मार!' यदि प्रारब्धवश ही कामके वशमें होनेमें मनुष्य बाध्य होता तो भगवान् यही कहते कि "भाई! प्रारब्धके कारण ऐसा होता है। इसमें कोई क्या करे—'निग्रहः किं करिष्यति।'" परन्तु यहाँ तो 'काम' पर विजय प्राप्त करनेकी आज्ञा स्पष्ट दी गयी है। ऐसी परिस्थितिमें इन श्लोकोंका 'अनिच्छा-प्रारब्धवश' पापाचरण होनेके समर्थनमें प्रयोग किया जाना कदापि गीताके दृष्टिकोणसे देखते उचित नहीं जान पड़ता। अतएव प्रथम तो प्रारब्धवश पापोंका होना ही सिद्ध नहीं होता, फिर ज्ञानीके द्वारा तो पापकर्मकी सम्भावना ही नहीं है। ज्ञानीमें अज्ञान, अहङ्कार, राग, द्वेष और भय—कुछ भी नहीं रहते, फिर पाप ही कहाँसे। सबका मूल तो अज्ञान है। जब उसीका नाश हो गया, तब पापोंका रहना कैसे माना जा सकता है। अवश्य ही ज्ञानी पुरुषमें जैसे पाप नहीं है, वैसे ही पुण्य भी नहीं है; तथापि जिस अन्तःकरणसे ज्ञानीका सम्बन्ध कहा जाता है, उस अन्तःकरणके समस्त कर्म ज्ञानाग्निद्वारा जल जानेके कारण वह परम पवित्र हो जाता है; उस परम पवित्र अन्तःकरणमें जो कुछ स्वभाववश स्फूर्ति होती है, वह पुण्यमयी और शास्त्रानुमोदित ही होती है। और उस स्फूर्तिके फलस्वरूप होनेवाले प्रत्येक कर्ममें प्राणियोंका कल्याण भरा रहता है।

साधारण मनुष्यको प्रारब्धवश सुख-दुःखका भोग करना पड़ता है, और उस अवश्य होनेवाले सुख-दुःखसे मनुष्य बच भी नहीं सकता। सुखका तो कहीं त्याग भी कर सकता है; क्योंकि वह तो उसको अपने पाससे देना है। परन्तु दण्डस्वरूप दुःखभोगका त्याग कोई नहीं कर सकता। यह दुःख-भोग ही 'अवश्यम्भावी' है, और इससे कोई भी नहीं बच सकता। इस दृष्टिसे यदि कहा जाय कि नल, राम, युधिष्ठिरको भी दुःख भोगने पड़े तो ठीक ही है, परन्तु दुःख भोगनेका पर्याय पाप करना नहीं है। *दुष्कर्मका फल दण्डभोग है, पाप तो नवीन कर्म है, जो पापवासनासे उत्पन्न होता है।

अब यदि यह प्रश्न हो कि फिर स्वेच्छा, अनिच्छा और परेच्छा-प्रारब्धका क्या रूप होगा तो उनके बहुत-से रूप हो सकते हैं। एक मनुष्य इच्छा करके नदीमें नहाने जाता है, वहाँ डूब जाता है; व्यापार करता है, उसे घाटा-नफा हो जाता है; यह स्वेच्छा-प्रारब्ध है। रास्तेमें चल रहा है, ऊपरसे पेड़ गिर पड़ा, मकानमें बैठा है, छत टूटकर उसपर पत्थर गिर गया। भूकम्पसे सर्वनाश हो गया। बाढ़में सब कुछ बह गया। घरकी नींवमें धन मिल गया। यह अनिच्छा-प्रारब्ध है। बिना जाँचे-माँगे ही दान दे दिया, किसीने किसीको मार दिया, जानवरने काट खाया, द्वेषवश या किसी परिस्थितिके कारण किसीने प्रहार कर दिया—यह परेच्छा प्रारब्ध-भोग है।

---

*भगवान् श्रीराम तो पूर्णब्रह्म पुरुषोत्तम थे, उनके सम्बन्धमें तो यह कहना ही नहीं बन सकता।

इन सब बातोंके कहनेसे मेरा यह अभिप्राय नहीं है कि मैं तुच्छ जीव महामान्य विद्यारण्य मुनिके वचनोंका खण्डन कर रहा हूँ; इस प्रकरणको लेकर लोग नानाविध युक्तियोंसे जो उनका खण्डन करते हैं और उससे जो मेरे मनमें क्लेश होता है, उस क्लेशसे अपनेको मुक्त करनेके लिये मैं ऐसा अनुमान कर रहा हूँ और शास्त्र तथा तर्क मेरे इस अनुमानकी पुष्टि कर रहे हैं। अपनी तुच्छ बुद्धिके अनुसार मुझे इस प्रकरणके पञ्चदशी-कारकी कृति होनेमें ही सन्देह है; क्योंकि पञ्चदशीकार इस प्रकारकी लचर दलीलवाली बात पञ्चदशी-सरीखे उच्च श्रेणीके महामान्य ग्रन्थमें नहीं लिख सकते।

इतना होनेपर आखिर है यह मेरा अनुमान ही। मैं यह बलपूर्वक नहीं कह सकता कि ऐसा ही है; और न उपर्युक्त विवेचन करनेपर भी यही कहनेका साहस करता हूँ कि पञ्चदशी-कारके कहनेका वही अर्थ है, जो साधारण लोगोंकी समझका अनुसरण करते हुए मैंने दिया है। पञ्चदशीकारकी कृति होनेकी हालतमें तो मैं यही कह सकता हूँ कि मैं उनकी इस व्याख्याको समझ नहीं सका हूँ। और यह मैं पहले भी कह चुका हूँ। परन्तु पाठकोंसे इतना निवेदन अवश्य कर देना चाहता हूँ कि जिस अर्थमें पञ्चदशीकारका यह प्रसङ्ग लिया जाता है, उसी अर्थमें इसको सिद्धान्तरूपसे माननेमें हानिको छोड़कर लाभ नहीं है; किसी भी रूपमें पापका समर्थन करना दुर्बलेन्द्रिय साधकके लिये परम हानिकर हुए बिना नहीं रह सकता। विधि-निषेधके परे पहुँचे हुए सिद्ध पुरुषकी भी शोभा इसमें कदापि नहीं है।

अब गीताके श्लोकोंकी बात रही, सो मेरी समझसे इन्द्रियोंके इन्द्रियार्थमें बर्तनेका ऐसा अर्थ करना गीताका भी दुरुपयोग ही है। अब यह बात समझमें आ गयी होगी कि पाप प्रारब्धसे नहीं होते, पाप होनेमें कारण 'काम' है और 'काम' की उत्पत्ति रजोगुणसे है तथा 'रजो रागात्मकं विद्धि' के अनुसार रजोगुण 'राग' रूप है। यह राग या विषयासक्ति ही पापमें कारण है; इसका त्याग कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग—किसी भी मार्गपर चलनेवालेको करना पड़ता है और जिस [illegible] है। भगवान्ने कहा है, 'कर्ममें तेरा अधिकार है'—'कर्मण्येवाधिकारस्ते।' दूसरी बात यह है कि [illegible] विरुद्ध [illegible] होता ही नहीं, इसमें यदि कहीं कोई विरोध-सा दीखता है तो वह हमारा दृष्टिदोष है तथा [illegible] कारण वैसी प्रतीति होती है।

साथ ही यह बात भी [illegible] क्रोधादि अन्तःकरणके धर्म नहीं [illegible] लिये सन्देह, दुःख पाना [illegible] पड़ती है, यह बात भी ही [illegible] नाश न मानना उचित नहीं। [illegible] बन ही रहे हैं, उन्हें कर्म [illegible] आनेमें भी [illegible] उनके [illegible] चाहिये कि [illegible]

---

* इस [illegible]

मौन व्याख्यान

उपदेशकका पद वस्तुतः बहुत ही दायित्वपूर्ण है। अनु-
ी पुरुष ही दूसरोंको उपदेश करनेका अधिकारी होता है।
बतक साधन करते-करते किसी विषयमें सिद्धि प्राप्त नहीं हो
ाती, तबतक उस विषयका उपदेशक बनना अपने और
दूसरोंके साथ ठगी करना है और इसी कारण उपदेशका प्रभाव
नहीं पड़ता। खास करके पारमार्थिक विषयमें तो उपदेशक
बनना बहुत ही कठिन है। उपदेशकमें निम्नलिखित पाँच बातें
अवश्य ही होनी चाहिये—१–जिस विषयका उपदेश करे, उसका
पारदर्शी हो, २–जिस साधनाका उपदेश करे, उसको स्वयं
करनेवाला हो, ३–उपदेशमें धन-मान-पूजा आदिकी प्राप्तिके
रूपमें अपना किञ्चित् भी स्वार्थ न हो, ४–जिस विषयका
उपदेश करे, वह विषय परिणाममें सबके लिये कल्याणकारक
हो और ५–उपदेशमें किसी प्रकारका भी दम्भाचरण न हो।
जिस उपदेशकमें ये पाँचों बातें होती हैं, उसके उपदेशका बड़ा
प्रभाव पड़ता है। यद्यपि आकर्षक भाषा, शब्द-सौन्दर्य ए
यथायोग्य भावोंका प्रदर्शन आदि साधन श्रोताओंके चित्तक
खींचनेमें बहुत सहायक होते हैं, तथापि ये सब व्याख्या
कलाकी चीजें हैं। कलाके साथ हृदयके परम शुद्ध अ

कल्याणकारक भावका संयोग हो, तभी उस कलासे विशेष लोकोपकार होता है। जो कला केवल कलाके लिये होती है अथवा जिस कलाके प्रदर्शनमें कुवासनाओंके उत्पादक और वर्द्धक दूषित भावोंका संयोग होता है, वह कला समाजके लिये कभी हितकर नहीं हो सकती, चाहे वह कितनी ही विकसित और आकर्षक क्यों न हो। इसके विपरीत जिस अनुभव-पूर्ण वाणीमें सत्य, प्रेम, सरलता और निःस्वार्थ लोकसेवाकी भावना होती है, वह कलाकी दृष्टिसे आकर्षक न होनेपर भी समाजके लिये अत्यन्त कल्याणकारिणी होती है। उपदेशकमें उपर्युक्त पाँच गुणोंके साथ वाग्मिताकी कला भी हो तो वह सोनेमें सुगन्धके समान है और ऐसा उपदेशक जगत्‌की बहुत सेवा कर सकता है; परन्तु यह बात ध्यानमें रहनी चाहिये कि जबतक मनुष्यके मनमें आत्मसुधारकी प्रबल आकाङ्क्षा नहीं है—और आत्म-संशोधन और आत्मोत्थानके लिये प्राणपणसे प्रयत्न नहीं किया जाता, तबतक उपदेशक बननेकी इच्छा करना या उपदेशक बनना विडम्बनामात्र है।

सच्ची बात तो यह है कि जिनमें उपदेश देनेके योग्य सद्‌गुण हैं, उनको भी उपदेशक बननेकी इच्छा नहीं होनी चाहिये। जबतक ऐसी इच्छा है, तबतक कुछ-न-कुछ दुर्बलता मनमें छिपी है। महापुरुषोंके आचरण ही आदर्श नमूने और उनके स्वाभाविक वचन ही उपदेश होते हैं। वे वस्तुतः न तो उपदेशक बनते हैं और न कहलाते हैं। उनकी करनी-कहनीसे अपने-आप ही जगत्‌को उपदेश मिलता है; और इस सच्चे उपदेशका क्षेत्र आरम्भमें बहुत विस्तृत न होनेपर भी इसका

प्रभाव होता है, वह बहुत ही ठोस, स्थायी और आगे चल-
र बहुत ही व्यापक हो जाता है। उपदेश देनेकी तो इच्छा
मनमें नहीं होनी चाहिये। अपने शरीर-मन-वाणीसे होनेवाली
क्रियाओंमें भी यह भाव न रहे कि इन्हें देखकर लोग इनसे
शिक्षा ग्रहण करें। ऐसी चेष्टा करे, जिसमें स्वाभाविक ही सब
क्रियाएँ सत्यके आधारपर हों और निर्मल हों; निरन्तर इस
बातको देखता रहे कि मेरे अन्दर सत्त्वगुण बढ़ रहा है या नहीं।
यदि सत्त्वगुण बढ़ गया तो रज और तम अपने आप ही दब
जायँगे। सत्त्वकी शक्ति बड़ी प्रबल होती है। जिसके हृदयमें
शुद्ध सत्त्वभाव है और जिसकी क्रियाओंमें सत्त्वगुणकी प्रबलता
है, उसके द्वारा जो कुछ होता है, सभी लोक-कल्याणकारी होता
है। वह जहाँ निवास करता है, वहाँका वातावरण शुद्ध होता
है। वातावरणकी शुद्धिसे परमाणुओंमें शुद्धि आती है और वे
परमाणु जहाँतक फैलते हैं, जिनके साथ जाते हैं, वहीं शुद्धि
करते हैं।

उपदेशक बनना कोई छोटी चीज नहीं है। यह तो बहु
बड़े अधिकारकी बात है, जो ऐसी साधना होनेपर ही प्रा
होता है। जहाँ अयोग्य और अनधिकारी उपदेशक होते
वहाँ प्रथम तो उपदेशका असर नहीं होता, और जो कुछ
है, वह प्रायः विपरीत होता है। उपदेशकको वाणीके साथ
लोग उसके आचरणका मिलान करके देखते हैं और जब
एवं आचरणमें परस्पर बहुत अन्तर पाते हैं, तब उनकी
उस वाणीपर श्रद्धा नष्ट हो जाती है, अथवा इससे
शिक्षा मिलती है कि कहनेमें अच्छापन होना चाहिये,

चाहे उसके विपरीत ही हो। और ऐसी शिक्षाके ग्रहण हो जाने-पर मनुष्यमें दम्भादि दोष सहज ही आ जाते हैं, जिनसे उसका पतन हो जाता है। व्यक्तियोंके भाव ही समाजमें फैलते हैं और यों समाजभरका पतन होने लगता है। समाजके इस पतनमें प्रधानतया अयोग्य उपदेशक ही कारण होते हैं।

इससे यह सिद्ध होता है कि जो लोग स्वयं सुधरे हुए नहीं हैं, जिनमें स्वयं सद्गुण नहीं है, जो स्वयं किसी विषयके अनुभवी नहीं हैं, वे यदि उपदेशकका वाना धारणकर किसी स्वार्थ-से या दम्भसे सुधारका और सद्गुणोंका उपदेश करते हैं अथवा बिना अनुभव किये विषयमें अपनी दक्षता प्रकट करते हैं तो समाजके प्रति अपराध करते हैं। अवश्य ही साधकोंका परस्पर हरिचर्चा करना, कथावाचकोंका कथा कहना, मित्रमण्डलीमें सत्-चर्चा करना, स्कूलके अध्यापकोंका बच्चोंके प्रति उपदेश करना आदि इस अपराधमें नहीं गिने जा सकते; तथापि यहाँ भी इतनी बात तो है ही कि उपदेशके साथ आचरण होना तो उसका परिणाम कुछ विलक्षण ही होता।

पारमार्थिक गुरुका आसन तो बहुत ही जिम्मेवारीका पद है। इसमें तो मनुष्यके जीवनको लेकर खेलना है। अनुभवी गुरुओंके अभावमें ही शिष्योंका पतन होता है। गुरुओंमें जैसा आचरण होता है, शिष्य उसीका अनुसरण करते हैं। गुरु यदि विषयी होता है, कामी, क्रोधी या लोभी होता है, तो शिष्य भी वैसे ही बन जाते हैं; अतएव गुरुका पद स्वीकार करना तो खाँड़ेकी धारके समान है। जो विषयी गुरु अपने दुर्गुणोंका

आदर्श सामने रखकर शिष्योंके पतनमें कारण होता है, उसकी दुर्गति नहीं होगी तो और किसकी होगी।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि अनुभवी तत्त्वज्ञ गुरुकी कृपाके बिना भगवत्तत्त्वका ज्ञान नहीं हो सकता; और यह भी ध्रुव सत्य है कि ऐसे गुरुको ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर और साक्षात् परब्रह्म समझकर सतत प्रणाम और आत्मसमर्पण कर देना चाहिये। भगवान्ने कहा है—

आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित्।
न मर्त्यबुद्ध्यासूयेत सर्वदेवमयो गुरुः॥

आचार्य—गुरुको मेरा ही स्वरूप समझे; मनुष्य समझकर अवज्ञा या असूया (दोषदृष्टि) न करे; क्योंकि गुरु सर्वदेवमय होता है।

परन्तु यह बात उन्हीं गुरुओंपर लागू होती है, जो शिष्यके अज्ञानका नाश करनेके लिये भगवत्सेवाके भावसे ही गुरुपदको स्वीकार करते हैं, जो गुरु बनकर भी परम ज्ञान-दानके द्वारा भगवत्स्वरूप शिष्यकी सेवा ही करना चाहते हैं; ऐसे गुरु ही शिष्यका भव-बन्धन काटनेमें समर्थ होते हैं। जो अपने शरीरकी सेवा कराना चाहते हैं, शिष्यके धनसे अपने लिये विलास-सामग्री-का संग्रह करनेकी इच्छा रखते हैं, एवं मान और पूजाके लिये ही गुरुका पद ग्रहण करते हैं, उन गुरुओंसे भव-बन्धनका छेदन नहीं हो सकता और न उनके लिये ये शब्द ही हैं।

शिष्यकी श्रद्धाके प्रतापसे कहीं-कहीं अयोग्य गुरुसे भी लाभ हो जाता है; परन्तु इसमें शिष्यकी श्रद्धा ही कारण होती है,

जिसके कारण वह उस लाभमें अपनी श्रद्धाको कारण न समझकर गुरु-कृपाको ही कारण मानता है । परन्तु गुरु बननेवालेको ऐसे अवसरोंपर सावधान रहना चाहिये, और शिष्यकी श्रद्धासे अनुचित लाभ उठानेकी चेष्टा करके अपनेको ठगना नहीं चाहिये ।

सच्चे गुरुओंको विशेष उपदेश देनेकी आवश्यकता नहीं होती, उनके आचरणसे ही शिक्षा मिल जाती है । यहाँतक कि उनके कृपालु हृदयमें शिष्यकी स्मृति हो जाने मात्रसे अथवा उनकी कृपामयी मूर्तिके दर्शन मात्रसे ही कल्याण हो जाता है । इसीलिये सत् शिष्य साधक 'गुरुः कृपा हि केवलम्' मानते हैं । ऐसे गुरुओंकी अज्ञात कृपासे चुपचाप शिष्यके हृदयमें शक्ति-सञ्चार होकर उस शक्तिके प्रतापसे शिष्यका समस्त संशय नष्ट हो जाता है । यों अदृश्यरूपमें गुरु-शक्तिकी क्रिया चलती रहती है । यद्यपि गुरुकृत मौखिक उपदेश सार्थकता है, और साधारणतया उसकी आवश्यकता भी बहुत है, तथापि यह याद रखना चाहिये कि वाणीकी अपेक्षा सङ्कल्पकी शक्ति कहीं अधिक है । और एक बात यह भी है कि कुछ बहुत ऊँची स्थितिपर पहुँचे हुए महान् पुरुषोंको छोड़कर अन्य लोगोंको, जो वाणीका बहुत अधिक प्रयोग करते हैं, पवित्र सङ्कल्प-शक्तिका ह्रास भी हो जाता है। इसीलिये बहुत-से सत्पुरुष यथासाध्य बहुत ही कम बोला करते हैं (यद्यपि यह नियम नहीं है) । ऐसे सङ्कल्प-शक्ति-सम्पन्न महात्मा यदि चाहें तो मुँहसे एक शब्द भी न बोलकर केवल अपनी कल्याणमयी दृष्टिसे, आभ्यन्तरिक स्वाभाविकी शुभ भावनासे, अथवा सङ्कल्प-शक्तिके प्रभावसे शिष्यका अशेष कल्याण कर सकते हैं । और यह जाना गया है कि ऐसे महापुरुषगण

ष्यकी मानसिक स्थिति देखकर, उसकी धारणाके योग्य पात्रता-
अनुभवकर धीरे-धीरे चुपचाप उसमें यथायोग्य शक्ति-सञ्चार
रते हुए उसकी मानसिक स्थिति और धारणाभूमिको क्रमशः
च्चसे उच्चतर अवस्थामें पहुँचाते रहते हैं और जब देखते हैं
; यह शक्तिको पूर्णतया धारण करनेयोग्य हो गया, तब उसमें
क्तिका पूरा सञ्चार करके क्षणमात्रमें ही दिव्य प्रकाशकी
योतिसे उसका अनादिकालीन अज्ञानान्धकार हर लेते हैं । यों
ना ही उपदेशके उसका जीवन धन्य और कृतकृत्य हो जाता है ।

इसीसे यह कहा गया है—

चित्रं वटतरोर्मूले वृद्धाः शिष्या गुरुर्युवा ।
गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्याः संछिन्नसंशयाः ॥

'क्या ही आश्चर्य है, पवित्र वटवृक्षके नीचे वृद्ध शिष्य और
ुवा गुरु विराजमान हैं । गुरुका मौन व्याख्यान हो रहा है और
सीसे शिष्योंका संशय कट गया है ।'

वस्तुतः आत्माराम महापुरुषमें आत्माकी दृष्टिसे बाल,
ुवा या वृद्ध—किसी अवस्थाका होना सम्भव नहीं । आत्मा
नित्य ही युवा है; क्योंकि वह एकरस है । ऐसे गुरुके समीप
ानेवाले अनादिकालसे प्रकृतिके प्रवाहमें पड़े हुए जीवरूप
शिष्योंका अत्यन्त वृद्ध होना भी उचित है । परन्तु जो ऐसे
ुरुके सामने आ गया और जिसको ऐसे गुरुने शिष्य स्वीकार
र लिया, उसके अज्ञानका नाश हो ही गया समझना चाहिये;
योंकि ऐसे महापुरुषोंका किसीको स्वीकार कर लेना निश्चय
ी अमोघ होता है ।

परन्तु आजके जमाने में, जहाँ गली-गली उपदेशक और गुरु मिलते हैं, ऐसे सद्गुरु महात्माओंका प्राप्त होना बहुत ही कठिन है। ऐसे महात्मा भगवत्कृपासे ही प्राप्त होते हैं। अतएव जिनको इस प्रकारके महात्माओंके दर्शन और गुरुरूपसे वरण करनेकी प्रबल इच्छा हो, उन्हें भगवान्‌के सामने कातर-भावसे रोना चाहिये। भगवान्‌की इच्छा होनेपर उनकी प्रेरणासे ऐसे महात्मा आप ही आकर मिल जायँगे, अथवा स्वयं भगवान् ही ऐसे गुरुरूपसे प्रकट होकर शिष्यका उद्धार कर देंगे।



श्रीरामका स्वरूप और उनकी प्रसन्नताका साधन

राम सरूप तुम्हार वचन अगोचर बुद्धिपर।
अविगत अकथ अपार नेति नेति नित निगम कह ॥

× × ×

सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई ॥

प्रश्न—भगवान् श्रीरामको कोई परात्पर ब्रह्म, कोई भगवान् विष्णुका अवतार, कोई महापुरुष, कोई आदर्श राजा और कोई काल्पनिक व्यक्ति मानते हैं; अतएव यह बताइये कि श्रीरामका वास्तविक स्वरूप क्या है ?

उत्तर—भगवान् श्रीरामका प्रपञ्चातीत भगवत्स्वरूप कैसा है, इस बातको तो भगवान् ही जानते हैं। संसारमें ऐसा कोई भी नहीं, जो उनके स्वरूपकी यथार्थ और पूर्ण व्याख्या कर सके। भगवान्‌के सम्बन्धमें अबतक जो कुछ कहा गया है, वह सारा-का-सारा भगवान्‌का आंशिक वर्णन ही है, शाखाचन्द्र न्यायसे सङ्केतमात्र है; तथापि वह मिथ्या नहीं है। समुद्रका प्रत्येक कण समुद्र है; इसी प्रकार भगवान्‌का जो कुछ भी वर्णन है, वह पूरा न होनेपर भी उन्हींका है और इस दृष्टिसे भगवान्‌के सम्बन्धमें जो जैसा कहते है, ठीक ही कहते हैं। भगवान् श्रीराम परात्पर ब्रह्म भी हैं, विष्णुके अवतार भी हैं, महापुरुष भी हैं, आदर्श राजा भी हैं और उनके काल्पनिक होनेकी कल्पना करनेवाला मन आत्मरूप भगवान्‌के ही आश्रित होनेके कारण वे काल्पनिक भी हैं। बात यह है कि भगवान्‌क

वरूप ही ऐसा है, जिसमें सभीका समावेश है; क्योंकि सब कुछ उन्हींसे उत्पन्न है, उन्हींमें है, सबमें वे ही समाये हुए हैं— ही 'सर्व', 'सर्वगत', 'सर्व-उरालय' है। वस्तुतः भगवान्‌का वरूप, उनके गुण और भाव अकल, अचिन्त्य एवं अनिर्वचनीय । उनकी उपमा कहीं मिलती ही नहीं। इसीसे कहा गया है—

निरुपम न उपमा आन राम समान रामु निगम कहै।
जिमि कोटि सत खद्योत सम रवि कहत अति लघुता लहै॥
एहि भाँति निज निज मति बिलास मुनीस हरिहि बखानहीं।
प्रभु भाव गाहक अति कृपाल सप्रेम सुनि सुख मानहीं॥

अर्थात् श्रीरामजी उपमारहित हैं, उनकी कोई दूसरी उपमा है ही नहीं। श्रीरामजीके समान श्रीराम ही हैं, ऐसा वेद कहते हैं। जैसे अरबों जुगनुओंके समान कहनेसे सूर्य प्रशंसाको नहीं, वरं अत्यन्त लघुताको ही प्राप्त होता है, उसी प्रकार अपनी बुद्धिके विकासके अनुसार मुनीश्वर श्रीहरिका वर्णन करते हैं; किन्तु प्रभु भक्तोंके भावमात्रको ग्रहण करनेवाले और अत्यन्त कृपालु है। वे उस वर्णनको प्रेमसहित सुनकर सुख मानते हैं।

प्र०—मैं तो पूछता हूँ कि जिन भगवान्‌ने दशरथजीके यहाँ जन्म धारण किया था, वे कौन हैं?

उ०—वे साक्षात् भगवान् हैं। हाँ, कल्पभेदसे कभी भगवान् विष्णु रामरूपमें अवतीर्ण होते हैं तो कभी साक्षात् पूर्णब्रह्म परात्पर भगवान्‌का अवतार होता है। परन्तु यह स्मरण रहे कि विष्णु भी भगवान्‌के ही स्वरूप हैं; इसलिये स्वरूपतः इनमें कोई तारतम्य नहीं है, लीलाभेदसे ही पृथकत्व है।

प्र०—भगवान् अवतार क्यों लेते हैं?

उ०—अपनी इच्छासे। वस्तुतः भगवान्में कोई इच्छा भी
हीं है। भक्तोंकी इच्छा ही उनमें इच्छा पैदा कर देती है,
इसीसे वे हमलोगोंमें उतर आते हैं। सच्ची बात तो यह है कि
न उनमें जन्म है न कर्म; क्योंकि उनके अदृष्ट ही नहीं है।
जीव तो अपने पूर्वकृत कर्मोंके संस्कारवश पराधीन हो देह धारण
करके अपना कर्म-फल भोगता है और सञ्चितकी स्फुरणा तथा
वातावरणके वशमें होकर नवीन कर्म करता है; परन्तु भगवान्
ऐसा नहीं करते। कारण, उनमें कर्म-संस्कारोंका सर्वथा अभाव
है और वे भोगदेह नहीं ग्रहण करते तथा कर्तृत्वाभिमान न होने-
से उनके द्वारा फलोत्पादक नवीन कर्म भी नहीं होता। उनका
अवतार तो जीवोंपर अनुग्रहकी वर्षा करनेके लिये ही होता है।

प्र०—रामायण तथा अन्य पुराणादि ग्रन्थोंमें ऐसा पाया
जाता है कि भगवान् शाप या वरदानके वश होकर जन्म ग्रह
करते हैं—जैसे नारदजीने उन्हें मनुष्य होनेका शाप दिया, वृन्द
शाप दिया, जय-विजयका उद्धार करनेके लिये सनकादि महर्षि
ने शापानुग्रह किया, रावण कुम्भकर्णादिको ब्रह्माने वर दि
स्वायम्भुव मनु और शतरूपाको उनके यहाँ पुत्ररूपमें प्रकट हो
लिये श्रीरामजीने वरदान दिया—इस प्रकारकी औ
अनेक कथाएँ प्रसिद्ध हैं; इसका क्या हेतु है? बल्कि कथ
यहाँ तक आती है कि शूर्पणखाकी इच्छा पूरी करनेके
भगवान्ने कृष्णावतारमें उसे कुब्जारूपमें अङ्गीकार
दण्डकारण्यके ऋषियोंकी इच्छा-पूर्तिके लिये भगवा
गोपिकाओंके रूपमें स्वीकार किया और बालिवध

श्रीकृष्णावतारमें छिपे हुए व्याधके द्वारा अपने चरणमें वाण मरवाकर चुकाया गया। फिर इन सबका क्या अर्थ है? क्या ये कथाएँ असत्य हैं?

उ०—असत्य एक भी कथा नहीं है। परन्तु विचारकर देखनेपर पता लगेगा कि भगवान् अपने भक्तोंपर अनुग्रह करने तथा अपनी धर्म-मर्यादाकी रक्षाके लिये लोकदृष्टिमें अपने ऊपर शाप-वरदानोंका एवं कर्म-फल-भोगका आरोप कर लेते हैं। यही लोकसंग्रहका आदर्श है। वस्तुत: भगवान्पर न तो किसी शाप-वरदानका कोई प्रभाव होता है और न उन्हें किसी कर्म-फलका ही भोग करना पड़ता है। जब मुक्त पुरुष भी किसी शाप-वरदानके वश नहीं होते एवं देहाभिमान और कर्तृत्वाभिमान न रहनेके कारण अदृष्टके अभावमें फलभोगार्थ जन्म ग्रहण नहीं करते, तब भगवान्की तो बात ही क्या है। इसी विलक्षणताको बतानेके लिये भगवान्के जन्म-कर्मको 'लीला' कहा गया है।

भगवान् वस्तुत: किसी शाप-वरदानके वश नहीं हो सकते, इसपर एक इतिहास सुनो—महाभारत युद्धके समाप्त हो जानेपर भगवान् श्रीकृष्ण द्वारकाको लौट रहे थे। रास्ते में उत्तङ्क मुनिका आश्रम था। श्रीकृष्ण उनके आश्रममें गये; उन्होंने मर्यादाकी रक्षाके लिये मुनिकी पूजा की, मुनिने भी उनका सत्कार किया। फिर बात होते-होते जब मुनिको यह पता लगा कि महाभारत-युद्ध हो गया और उसमें सब योद्धा मारे गये, तब वे श्रीकृष्णपर क्रोधित होकर बोले—'श्रीकृष्ण! तुम चाहते तो युद्धको टाल सकते थे, तुम्हारी उपेक्षाके कारण ही इस महायुद्धमें सबका संहार हुआ; मुझे इस समय तुमपर बड़ा क्रोध आ

रहा है, अतः मैं तुम्हे शाप दूंगा।' श्रीकृष्णने कहा कि 'मुनिवर ! आप तपस्वी हैं, गुरुभक्त हैं; शान्ति रखिये, मेरे अध्यात्मतत्त्वको जानिये। याद रखिये, आप मेरा तिरस्कार नहीं कर सकते। आपका शाप मुझपर नहीं चलेगा; बल्कि आप शाप देंगे तो आपका तप ही नष्ट हो जायगा। आप जानते नहीं—लोग जिसको सत्-असत्, व्यक्त-अव्यक्त, अक्षर-क्षर कहते हैं, वह सब मेरा ही रूप है। सत्, असत्, सत्-असत् और सत्-असत्से परे जो कुछ है, मुझ सनातन देव-देवके सिवा और कुछ भी नहीं है।' यह उत्तर सुनकर उत्तङ्क मुनिने श्रीकृष्णका स्तवन किया और उनसे ऐश्वर-रूप दिखलानेकी प्रार्थना की। भगवान् श्रीकृष्ण ने उनपर कृपा करके उन्हे अपना विराट् स्वरूप दिखलाया, जिसे देखकर मुनि आश्चर्यमें डूब गये। अस्तु,

भगवान्‌की लीलाओंमें ऐसे और भी बहुत-से उदाहरण एवं सिद्धान्तवाक्य हैं, जिनसे यह सिद्ध है कि उन्हें धर्माधर्मरूप अदृष्ट या कर्म-संस्कारवश जन्म ग्रहण नहीं करना पड़ता, वे अपनी इच्छासे ही अपने दिव्य विग्रहरूपमें प्रकट होते हैं। भगवान् शङ्करजीने सतीदेवीसे कहा है—

मुनि धीर जोगी सिद्ध संतत बिमल मन जेहि ध्यावहीं।
कहि निगम नेति पुरान आगम जासु कीरति गावहीं॥
सोइ राम व्यापक ब्रह्म भुवन निकाय पति माया धनी।
अवतरेउ अपने भगत हित निजतंत्र नित रघुकुलमनी॥

अर्थात् 'मुनि, धीर, योगी और सिद्धपुरुष निर्मल मनसे निरन्तर जिनका ध्यान करते हैं; वेद; पुराण और शास्त्र नेति-नेति कहकर जिनकी कीर्ति गाते हैं, वे ही सर्वव्यापक, अखिल ब्रह्माण्डके

स्वामी, मायापति, पूर्णब्रह्म, रघुकुलमणि श्रीराम अपने भक्तोंके हितके लिये अपनी इच्छासे अवतरित हुए हैं।'

भगवान्के अवतारका एक हेतु है जीवोंको सहज ही भव-सागरसे पार उतार देना। भगवान् अवतार लेकर ऐसी लीलाएँ करते हैं, जिनको गा-गाकर, सुन-सुनकर लोग सहज ही भव-सागरसे तर जाते हैं। भगवान्की इस इच्छामें भी भक्तोंकी इच्छा ही कारण होती है।

सुद्ध सच्चिदानंदमय कंद भानुकुल केतु।
चरित करत नर अनुहरत संसृति सागर सेतु॥

. अर्थात् शुद्ध (प्रकृतिजन्य त्रिगुणोंसे रहित, मायातीत दिव्यमङ्गल-विग्रह) सच्चिदानन्दकन्दस्वरूप, सूर्यकुलके ध्वजारूप भगवान् श्रीरामचन्द्रजी मनुष्योंके सदृश ऐसे चरित्र करते हैं, जो संसाररूपी समुद्रके पार उतरनेके लिये पुलके समान हैं।

प्र०—अच्छा, यह बात तो समझमें आ गयी कि भगवान्के अवतारका प्रयोजन भक्तोंपर अनुग्रह करना और लोगोंको भव-सागरसे तारना ही है, और वे किसी कर्मके वश भी नहीं हैं; परन्तु दशरथजीके यहाँ उनका जन्म हुआ था और कुछ कालके पश्चात् उनका देहत्याग भी हो गया। इसलिये उनका जन्म-मरण तो होता ही है; फिर जन्म नहीं है, यह कैसे कहा जाता है?

उ०—भाई! उनका जन्म-मरण-सा दीख तो सकता है; परन्तु वे नित्य, अजन्मा और अविनाशी हैं। इससे वास्तवमें हमलोगों-जैसा उनका जन्म-मरण नहीं होता। उनका तो आविर्भाव और अन्तर्धान होता है। जैसे कोई योगी अपनी इच्छासे

चाहे तब अपने योगबलद्वारा प्रकट हो जाता है और मनमें
ही छिप जाता है, वैसे ही भगवान् अपनी स्वरूपभूता
मायाको लेकर स्वेच्छानुसार प्रकट हो जाते हैं और फिर
र्तहित हो जाते हैं। यही उनका 'जन्म-मरण' है। योगीका
दाहरण भी वस्तुतः भगवान्के साथ लागू नहीं होता। उनका
आविर्भाव-तिरोधान अनन्यसाधारण ही होता है। जो स्वरूपसे
ही अजन्मा और अविनाशी हैं, उनका जन्म और मरण हमारी
बुद्धिसे बाहरकी बात है। इसीसे गीतामें श्रीभगवान्ने कहा है
कि मेरे दिव्य जन्म-कर्मको तत्त्वतः जाननेवाला देह छोड़नेपर
पुनर्जन्म नहीं पाता, वह मुझको प्राप्त होता है।' जिनके जन्मके
रहस्यको जाननेमात्रसे जीवका जन्म होना छूट जाता है, उनका
जन्म कितना विलक्षण होगा !

रही देह-ग्रहण और देह-त्यागकी बात, सो कहीं-कहीं तो वे ऐसी लीला करते हैं, जिससे मायादेहका ग्रहण-त्याग दीखता ही नहीं। वे जिस रूपमें प्रकट होते हैं, उसी रूपमें अन्तर्हित हो जाते हैं— जैसे रामायण और भागवतके वर्णनानुसार भगवान् दिव्य चतुर्भुज बालकके रूपमें प्रकट होते हैं, योनिद्वारसे उनका जन्म नहीं होता; और फिर वे समय आनेपर सदेह ही दिव्य लोकमें चले जाते हैं, यहाँ उनका कोई शरीर नहीं रह जाता। इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं ऐसा भी होता है कि वे दिव्य देह तो अन्तर्धान हो जाते हैं, परन्तु लोगोंको दिखानेके लिये माया-देहका निर्माण करके उसे छोड़ जाते हैं। महाभारत, पद्मपु... आदिमें भगवान्को जिस देहके छोड़नेकी बात आती है, ...ऐसा ही देह है।

प्र०–जहाँ कहीं भी भगवान्‌के द्वारा देह छोड़े जानेका वर्णन मिलता है, वहाँ यह माननेमें क्या आपत्ति है कि उनका स्थूल देह तो पड़ा रह गया और वे हमलोगोंकी भाँति सूक्ष्म (लिङ्ग) और कारण देहको लेकर अपने लोकमें चले गये ?

उ०–ऐसा नहीं माना जा सकता; क्योंकि स्थूल, सूक्ष्म और कारण देह अविद्याकी भूमिकामें हैं। ये तीनों ही देह जड और मायिक हैं। अनादिकालसे कर्मबन्धनमें पड़े हुए तथा आत्मविस्मृतिके कारण जड देहमें अभिमान रखनेवाले वासनायुक्त जीवोंको ही ये देह प्राप्त होते हैं। वास्तवमें तो जीवका स्वरूप भी सच्चिदानन्दमय ही है; परन्तु जबतक उसका अनादिकालीन देहाभिमान और तज्जनित कर्म-बन्धन नहीं छूटता, तबतक उसे इसकी उपलब्धि नहीं होती और वह जन्म-मृत्युके चक्करमें पड़ा रहता है। परन्तु भगवान् तो प्रकृतिसे नित्य परे हैं; उनमें न कोई देहाभिमान है और न कर्मबन्धन है। इसलिये भगवान्‌के देहमें न तीन शरीर हैं, न जड अन्तःकरण है और न कोई अभिमान या कर्मका आधार ही है। भगवत्स्वरूप ही भगवद्देह है, वह नित्य निर्विकार चिदानन्दमय है। परन्तु इस रहस्यको अधिकारी पुरुष ही जानते हैं—

चिदानन्दमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी॥

हाँ, भगवान् चाहें तो आवश्यकतानुसार अभिमानकी रचना करके मायिक देहका भी निर्माण कर सकते हैं; परन्तु उनका यह अभिमान और वह मायिक शरीर आगन्तुक ही होता है, लीलाका ही होता है। ऐसे ही मायिक देहका त्याग किया जाना कहा जा सकता है। स्वरूपभूत देहका त्याग नहीं हो सकता।

वह तो नित्य है, उसमें त्याग-ग्रहण नहीं है; वह प्रकृतिके गुणोंसे अतीत, मन-इन्द्रियोंसे अतीत, प्राकृत देश-कालसे अतीत, विकाररहित, सच्चिदानन्दविग्रह, 'माया-गुन-गो-पार, निज-इच्छा-निर्मित' है—

निज इच्छा निर्मित तनु माया-मनु-गो-पार ।

× × × ×

सोइ सच्चिदानन्द घन कर नर चरित उदार ॥

इसीलिये भक्तों और शास्त्रोंने उसे चिद्घनविग्रह कहा है। वह न कभी बनता है और न कभी बिगड़ता है, सदा एकरस और विशुद्ध रहता है।

भगवद्देहके सम्बन्धमें यह कहना भी भूल है कि वह योगियोंके अनुभवमें आनेवाले दिव्य तन्मात्राओंसे बना होता है। योगी या योगिराज—कोई भी भगवद्देहके तत्त्वोंका अनुभव नहीं कर सकता, वास्तवमें वहाँ कोई भगवान्‌से भिन्न तत्त्व या तन्मात्रा है ही नहीं। 'विशुद्ध सत्त्व' कहना तो भगवान्‌के विशुद्ध स्वरूपको लक्ष्य करानेके लिये है। कुछ लोग भूलसे 'विशुद्ध सत्त्व' का अर्थ रज-तमसे रहित केवल सत्त्वगुण मान लेते हैं; परन्तु ऐसा मानना ठीक नहीं, क्योंकि प्रकृतिजन्य त्रिगुणोंमें दोको छोड़कर केवल एक गुण किसी भी कालमें कहीं भी नहीं रहता। एक गुणके विशेष प्रकाशके समय दो गुण छिपे रह सकते हैं। उनकी क्रियाएँ प्रबलरूपसे प्रत्यक्ष नहीं हो सकतीं, परन्तु उनका अभाव कदापि नहीं होता। 'विशुद्ध सत्त्व' तो भगवद्देहके लिये ही प्रयुक्त होनेवाला एक सङ्केत वाक्य है। सिद्ध योगियोंके सिद्ध देहके लिये भी कहीं-कहीं 'विशुद्ध सत्त्व' संज्ञा आती है;

परन्तु वह विशुद्ध देह और 'विशुद्ध सत्त्व' अपेक्षाकृत है। हम-लोगोंकी अपेक्षा वह विशुद्ध है; किन्तु वह प्रकृतिसे परे नहीं है, है वह मायिक ही। अवश्य ही उस देहमें भी अपेक्षाकृत दिव्यता होती है, सदा किशोर और रमणीय रह सकता है, उसमें बुढ़ापा और रोग नहीं होते, उच्च श्रेणीकी कायशुद्धिके कारण उसमेंसे दिव्य गन्ध निकल सकती है—यहाँतक कि उस देहके विण्मूत्रादिमें भी सुगन्ध पैदा हो जा सकती है और उसकी आयु भी बहुत अधिक हो सकती है। किसी-किसी सिद्ध योगीका शरीर कल्पके अन्ततक भी रह सकता है। परन्तु स्मरण रहे कि यह सब कुछ होता है प्रकृतिके तत्त्वोंसे ही। प्रकृतिजय हो जानेसे ऐसा हो सकता है। कोई-कोई सिद्ध योगी देह-निर्माण भी कर लेते हैं। उनका वह 'निर्माणकाय' निर्माणचित्तका ही रूपान्तर होता है, वह देखनेमें देहके सदृश आकारवाला होनेपर भी वस्तुतः चित्तके अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। योगियोंकी इच्छाशक्तिके प्रभावसे ही ऐसे योगदेहका निर्माण होता है, परन्तु भगवान्का मायिक देह भी इससे अत्यन्त विलक्षण होता है। वह भगवान्के इच्छाधीन और विशुद्ध भागवती मायासे निर्मित होता है, अतः उसमें विलक्षण दिव्यता और सुन्दरता होती है। जब भगवान्के मायादेहकी ही इतनी महिमा है, तब भगवत्स्वरूप चिन्मय देहकी तो बात ही क्या है।

प्र०—तब तो भगवान् भी हमलोगोंकी भाँति ही देहधारी हुए, चाहे उनका वह देह कितना ही दिव्य हो। परन्तु जो देह-धारी हैं, वे निराकार, निर्गुण, अव्यक्त और सर्वव्यापक कैसे हो सकते हैं?

उ०—यही तो रहस्यकी बात है । इसीलिये तो गोसाईंजी महाराज कहते हैं—

निर्गुन रूप सुलभ अति सगुन जान नहिं कोइ ।
सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनि मन भ्रम होइ ॥

सुनो, भगवान्‌का वास्तविक स्वरूप तो तभी समझमें आ सकता है, जब भगवान् कृपा करके समझा देते हैं । उसके लिये बड़ी साधनाकी आवश्यकता है । भगवत्सङ्गियोंका श्रद्धापूर्वक सङ्ग हो, ऐसे सत्सङ्गमें भगवान्‌के रहस्यमय गुणानुवादका श्रवण हो और प्रेमपूर्वक भगवान्‌का यथार्थ भजन हो, तब संसारके विषयोंसे वैराग्य होकर शम-दमादिकी प्राप्ति होती है । तदनन्तर समरूपसे सर्वत्र व्याप्त भगवान्‌के निराकार ब्रह्मरूपका ज्ञान होता है । उसके बाद पराभक्तिकी प्राप्ति होती है और फिर श्रीभगवान्‌की कृपासे भगवान्‌के अचिन्त्य दिव्यानन्दमय परम-स्वरूपका यथार्थ ज्ञान होता है ।

भगवान्‌के यथार्थ रूपको कोई समझा नहीं सकता; वह वाणी, मन, बुद्धि—सभीसे परे है । परन्तु इस बातको किसी अंशमें समझनेके लिये भगवच्चर्चाके नाते कुछ विचार करना मङ्गलकारी ही होगा । इसी खयालसे कुछ विचार करनेका साहस कर रहे हैं । भगवान् एक हैं, अद्वितीय हैं, सच्चिदानन्दघन हैं । उनके सिवा और कुछ है ही नहीं, यह सर्वथा सत्य है । वे भगवान् मायाके आकारवाले न होनेके कारण 'निराकार' और मायाके गुणोंवाले न होनेसे 'निर्गुण' कहलाते हैं । उनका 'आकार' और उनके 'गुण' उनके स्वरूप ही हैं । इसीलिये भगवान् इस प्रकार 'नित्य निराकार' और 'नित्य निर्गुण, होने-

पर भी अपने स्वरूपभूत गुण और आकारसे युक्त होनेके कारण 'नित्य साकार' और 'नित्य सगुण' भी हैं। परन्तु उनका यह रूप और गुणसमूह उनसे अभिन्न हैं।

उनका यह दिव्यातिदिव्य 'साकार' और 'सगुण' स्वरूप मायिक न होनेसे सर्वथा अतीन्द्रिय है, इसलिये वे 'अव्यक्त' हैं। इस मायिक जगत्में भी अनेक अतीन्द्रिय पदार्थ हैं और साधन करते-करते जब इन्द्रियाँ निर्मल हो जाती हैं और लिङ्गदेहके किसी अंशतक शुद्ध होनेपर जब स्थूलदेहसे आंशिक रूपमें उसका पृथक्त्व हो जाता है, तब इन्द्रियाँ भी सूक्ष्मभावापन्न होकर अतीन्द्रिय पदार्थोंको किसी अंशतक देख सकती हैं। योग-साधना करते-करते इसमें जितनी जितनी अग्रगति होती है, उतनी-उतनी ही अतीन्द्रिय पदार्थोंको प्रत्यक्ष करनेकी सामर्थ्य बढ़ती जाती है। परन्तु जागतिक अतीन्द्रिय पदार्थोंको देखनेकी शक्ति प्राप्त हो जानेपर भी भगवान्‌के दर्शनका अधिकार नहीं मिल जाता। वह तो तभी मिलता है, जब भगवान् स्वयं कृपा करके दिव्यदृष्टि दे देते हैं।

प्र०—तब फिर बहुत-से भक्तोंको दर्शन होनेकी जो बात कही जाती है, उसका क्या तात्पर्य है? क्या वह सब मिथ्या कल्पनामात्र है? या उन सभीको भगवत्कृपासे दिव्यदृष्टि प्राप्त हो गयी रहती है? अवतारकालमें तो असंख्य जीव भगवान्‌को देखते हैं, वे सभी क्या दिव्यदृष्टिप्राप्त होते हैं?

उ०—भक्तोंको दर्शन देनेकी बात मिथ्या कल्पनामात्र नहीं है। भगवान् दया करके भक्तोंको अपने दिव्य स्वरूपका दर्शन देते हैं और जिस समय दर्शन देते हैं, उस समय उतनी देरके

ये वहाँका सब कुछ 'दिव्य' कर देते हैं। भक्तकी दृष्टि भी व्य हो जाती है। अवश्य ही इसमें भी अधिकारिभेदसे तार-म्य रहता है।

अवतारकालमें भगवान् अपनेको योगमायासे समावृत रखते हैं। और जहाँ वे अपने इस योगमायाके परदेको हटाते हैं, वहीं उनके स्वरूपके यथार्थ दर्शन हो सकते हैं। वह पर्दा सब जगह समानरूपसे नहीं हटता। इस योगमायाके कारण ही भगवान्का देह लोगोंको मनुष्यका-सा मालूम होता है। इसी-लिये वे भगवान्को पहचान नहीं सकते—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।

(गीता ७। २५)

अस्तु, अब तुम्हारी समझमें आ गया होगा कि भगवान्का दिव्यातिदिव्य सगुण साकार स्वरूप अव्यक्त कैसे है? रही सर्वव्यापककी बात, सो उसके लिये सूर्यका उदाहरण तुम्हारे सामने है। सूर्य एक ही है, परन्तु वह एक ही समयमें सा ब्रह्माण्डमें सबको दीखता है। जब प्रकृतिका एक पदार्थ—सू इतना प्रभाव रख सकता है, तब सर्वशक्तिमान्, स्वभावसे सर्वव्यापी, एक ही भगवान् सब जगह प्रकाशित रहें, इसमें आश्चर्य है। परन्तु भगवान् तो लीलामय हैं न! वे एक साथ नित्य निर्विशेष और नित्य सविशेष होते हुए ही लीलामय हैं। उनकी लीलामें कभी विराम है ही नहीं। लीलाके लिये उन एकके ही अनेक लीलास्वरूप हैं और वे सत्य तथा नित्य हैं। वे अनेक होनेपर भी नित्य एक यह उनकी भगवत्ताकी महिमा है। वे ही 'भगवान् स

नन्दघन परम अक्षर ब्रह्म हैं, वे ही 'सर्वत्र व्यापक' परमात्मा हैं। वे ही विराट् हैं (माता कौसल्याको अपने श्रीमुखमें और काकभुशुण्डिजीको अपने उदरमें श्रीरामजीने विराट् रूप दिखलाये ही हैं) और वे ही जीवात्मारूपसे जड जगत्के अन्दर अनुस्यूत अध्यात्म हैं। वे ही अपरा प्रकृति और उसके परिणामसे उत्पन्न समस्त भूतरूप क्षर अधिभूत हैं। वे ही कर्म हैं, वे ही विराट्-ब्रह्माण्डाभिमानी हिरण्मय पुरुष अधिदैव हैं। इस हिरण्मय पुरुषको ही सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भ या ब्रह्मा कहते हैं। वे ही सब यज्ञोंके भोक्ता और प्रभु होनेसे अधियज्ञ हैं। वे ही अन्तर्यामी हैं, वे ही समग्र संसार हैं। वे ही अखिल-ब्रह्माण्ड-नायक, अज, अनादि, निर्विकार, सर्वशक्तिमान्, परम करुणामय, परम प्रेममय, परमैश्वर्यमय, परम ज्ञानमय, परम वैराग्यमय, परम यशोमय, परम श्रीमय और परम धर्ममय षडैश्वर्यपूर्ण भगवान् हैं। वे ही विभिन्न ब्रह्माण्डोंमें अपने अंशरूप विभिन्न विभूतियोंके रूपमें विराजित हैं—

उपजहिं जासु अंस ते नाना। संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना॥
लोक लोक प्रति भिन्न बिधाता। भिन्न बिष्नु सिव मनु दिसित्राता॥

उनका स्वरूप अकथ और अचिन्त्य है; फिर उनके सम्बन्धमें यह कहना ही भूलसे भरा हुआ है कि वे देहधारी होते हुए ही निर्गुण, निराकार, अव्यक्त और सर्वव्यापक कैसे हो सकते हैं।

उनका देह हमलोगों-जैसा विनाशी और जन्मशील देह नहीं है; वह नित्य है, शाश्वत है, श्रेष्ठ है, हानोपादान-रहित है, प्रकृतिसे परे है और परमानन्द-सन्दोहरूप है। उसमें देह-देहीका

पृथक्त्व नहीं है—देही ही देह है, देह ही देही है। वे नित्य परमधाममें रहते हुए ही व्यापक परमात्मारूपसे सर्वत्र व्याप्त हैं, ब्रह्मरूपसे अखण्ड स्थिर हैं, भगवान्‌रूपसे भक्तोंके सामने प्रकट हैं और जीवात्मारूपसे सर्वत्रकर्ता और भोक्ता बन रहे हैं। श्रीराम और श्रीकृष्णके रूपमें वे ही परात्पर भगवान् प्रकट हैं, जो सबके आधार हैं, सर्वरूप हैं, सर्वमय हैं और सबसे परे हैं। वे पूर्णब्रह्म, परात्पर ब्रह्म और साक्षात् 'भगवान् स्वयम्' हैं।

प्र०—'भगवान् स्वयम्' तो श्रीकृष्णके लिये भागवतमें कहा गया है और वहाँ अन्य सब अवतारोंको अंशकला बतलाया गया है। फिर श्रीरामको 'स्वयं भगवान्' कैसे कहा जाता है ?

उ०—अनेक ब्रह्माण्ड हैं और सभी ब्रह्माण्डोंमें कल्पभेदसे भगवान्‌के अवतार होते हैं। बहुत बार भगवान् विष्णु ही रामावतार और कृष्णावतार धारण करते हैं। जिस समय विष्णुभगवान्‌का श्रीराम या श्रीकृष्णरूपमें अवतार होता है, उस समय श्रीलक्ष्मीजी उनके साथ सीता या राधा—रुक्मिणी-रूपमें अवतरित होती हैं; और जिस समय स्वयं परात्पर प्रभु अवतीर्ण होते हैं, उस समय उनकी साक्षात् स्वरूपाशक्ति अवतार धारण करती हैं। जब विष्णुभगवान्‌का रामावतार होता है और परात्पर ब्रह्म श्रीकृष्ण स्वयं अवतीर्ण होते हैं, तब श्रीकृष्णको साक्षात् 'स्वयं भगवान्' और अन्य अवतारोंको अंश-कला कहा जाता है। और जब विष्णुभगवान्‌का कृष्णावतार होता है और परात्पर ब्रह्म श्रीराम स्वयं अवतीर्ण होते हैं, तब श्रीरामको साक्षात् 'स्वयं भगवान्' तथा अन्य अवतारोंको अंश-

कला कहा जाता है। परात्पर श्रीरामके लिये महारामायण में कहा गया है—

भरणः पोषणाधारः शरण्यः सर्वव्यापकः।
करुणः षड्गुणैः पूर्णो रामस्तु भगवान् स्वयम्॥

परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि विष्णु भगवान् का अवतार अपूर्ण होता है। भगवान् अंशांशिभावसे व्यक्त होने पर भी सर्वत्र पूर्ण हैं। लीलाभेदसे ही उनमें तारतम्य है, स्वरूपसे नहीं।

जिस प्रकार परात्पर समग्र ब्रह्म श्रीरामसे समस्त ब्रह्माण्डोंमें भिन्न-भिन्न शिव, विष्णु और ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं, इसी प्रकार उनकी स्वरूपाशक्ति श्रीसीताजीसे अनेक ब्रह्माण्डोंमें अनेक उमा, रमा और ब्रह्माणी उत्पन्न होती हैं।

उपजहिं जासु अंस गुन खानी। अगनित उमा रमा ब्रह्मानी॥

प्र०—भगवान् विष्णु और परात्पर ब्रह्ममें क्या अन्तर है और परात्पर ब्रह्म श्रेष्ठ क्यों माने गये हैं?

उ०—भगवान् विष्णु और परात्पर पुरुषोत्तम ब्रह्म (श्रीराम) में तत्त्वतः कोई अन्तर नहीं है। लीलाभेदसे अन्तर है। त्रिदेव-गत विष्णु भिन्न-भिन्न ब्रह्माण्डोंमें अलग-अलग लीलाकार्य करनेके लिये प्रकट हैं, जो केवल सत्त्वमय 'पालन' का कार्य ही करते हैं। ब्रह्मा, विष्णु, शङ्कर तीनों ही वस्तुतः परात्पर ब्रह्मकी ही अभिव्यक्तियाँ हैं—जो सत्त्व, रज और तमरूप पालन, सृजन और संहारका नियमित कार्य करनेके लिये हैं। इनके कार्य लीलाक्षेत्रके अनुसार सीमाबद्ध हैं, आंशिक हैं, इसीसे ये सभी अंशावतार माने जाते हैं। तत्त्वतः अभेद होनेपर भी अनन्तकोटि

ब्रह्माण्डोंमें इनके अनन्तकोटि भिन्न-भिन्न स्वरूप हैं। इसीलिये काकभुशुण्डिजीने कहा है—

भिन्न भिन्न मैं दीख सब अति बिचित्र हरिजान।
अगनित भुवन फिरेऊँ प्रभु राम न देखेउँ आन॥

परात्पर ब्रह्म ही इन सब रूपोंमें प्रकट हैं और उन्हींकी शक्तिसे ये सब कार्य करते हैं और उतना ही कार्य करते हैं, जितनेके लिये विधान है। इसी बातको बतलानेके लिये श्रीराम रूप परात्पर पुरुषोत्तम ब्रह्मकी इस प्रकार महिमा गायी गयी है जो सर्वथा सत्य है—

जाकें बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दससीसा॥
बिष्नु कोटि सम पालन कर्ता। रुद्र कोटि सत सम संहर्ता॥
....। बिधि सत कोटि सृष्टि निपुनाई॥

और इसीलिये परात्पर ब्रह्म श्रीरामसे द्रोह करनेवालेकी उनके अंशरूप सहस्रों ब्रह्मा, विष्णु और शंकर भी रक्षा नहीं कर सकते। कैसे करें? परात्पर ब्रह्मसे द्रोह करनेवाला स्वरूपतः उन त्रिदेवोंसे ही द्रोह करता है; क्योंकि वे उनसे सर्वथा अभिन्न हैं। और लीलाभेदसे परात्पर ब्रह्म उनके अंशी हैं। अंशीके द्रोहीको अंश कैसे शरण दे सकते हैं। इसीलिये कहा गया है—

संकर सहस बिष्नु अज तोही। सकहिं न राखि राम कर द्रोही॥

अतएव परमार्थतः अभेद होनेपर भी लीलाकी दृष्टिसे त्रिदेवोंकी अपेक्षा परात्पर ब्रह्म श्रेष्ठ हैं ही, और इसी दृष्टिसे ऐसा कहा भी जाता है।

एक बात और है। वेदान्तमें कहा गया है कि व्यष्टिभावसे स्थूल, सूक्ष्म और कारण देहके अभिमानी जीवको वैश्वानर,

तैजस और प्राज्ञ कहते हैं तथा समष्टिभावके अभिमानीको विश्व, हिरण्यगर्भ और ईश्वर। ये समष्टिके अभिमानी ही त्रिदेव हैं। ये सभी त्रिगुणमें हैं। कार्यकी दृष्टिसे ये त्रिदेव अवश्य ही ईश्वर कहे जाते हैं, परन्तु वैसे प्रकृतिसे परे नहीं हैं। परात्पर प्रभु 'सर्वलोकमहेश्वर' हैं—'तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्'। ये तीनों गुणोंसे अतीत, व्यष्टि-समष्टि-विभाग-रहित और नित्य 'नित्य' हैं। इस दृष्टिसे भी परात्पर ब्रह्म श्रीराम ब्रह्मा, विष्णु और महेश—इन त्रिमूर्तियोंसे परे और श्रेष्ठ माने गये हैं।

प्र०—श्रीभगवान्के सारे अङ्ग क्या हमलोगों-जैसे ही होते हैं?

उ०—हमलोगोंके अङ्गोंसे उनकी कोई तुलना ही नहीं हो सकती। उनका आकार-प्रकार सभी अत्यन्त विलक्षण और परमाश्चर्य तथा आनन्ददायक होता है—

गिरा अनयन नयन बिनु बानी। ॥

अतः कोई उन्हें कैसे बताये! उनका वह भगवत्स्वरूप विग्रह माधुर्यमय है, वह 'आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादि' और 'आनन्दैकरसमूर्ति' है। इसीके साथ उनके परमदिव्य प्रेम, दया, प्रभुता, भक्तवत्सलता आदि असंख्य गुण मानों मूर्तिमान् हुए उनके अङ्ग-अङ्गसे प्रकाशित होते रहते हैं। उस दिव्य स्वरूपके करोड़वें अंशका भी वर्णन कोई नहीं कर सकता। वर्णन तो दूर, कोई अनुमान भी नहीं कर सकता। योगमायासे अनावृत जो उनका स्वरूप है, उसकी जरा-सी क्षणिक झाँकी भी ब्रह्मानन्दको बहा देती है, कैवल्य-सुखको फीका कर देती है। श्रीजनकजीपर कृपा करके भगवान् श्रीरामने क्षणकालके लिये योगमायाका पर्दा दूर किया। ब्रह्मज्ञानियोंके गुरु श्रीजनकजी देखकर मुग्ध हो

उनकी आँखोंमें आनन्दाश्रु भर आये, वाणी गद्गद हो गयी;
अपनेको सम्हाल न सके और विश्वामित्रसे पूछने लगे—

कहहु नाथ सुंदर दोउ बालक। मुनिकुल तिलक कि नृपकुल पालक॥
ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेष धरि की सोइ आवा॥
सहज बिराग रूप मनु मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा॥
ताते प्रभु पूछउँ सतिभाऊ। कहहु नाथ जनि करहु दुराऊ॥
इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥

जनकजीका ब्रह्मानन्द बरबस छूट गया और वे सच्चिदा-
नन्दघन सगुण विग्रहके दर्शनसे परमानन्दमें मग्न हो गये। जब
श्रीरामजी जनकपुरसे विदा होने लगे तब श्रीजनकजी एकान्तमें
श्रीरामजीसे मिले और बरबस भक्तके भावसे हाथ जोड़कर
प्रेमपूर्वक वचन बोले—

राम करौं केहि भाँति प्रसंसा। मुनि महेस मन मानस हंसा॥
करहिं जोग जोगी जेहि लागी। कोहु मोहु ममता मद त्यागी॥
ब्यापकु ब्रह्म अलखु अबिनासी। चिदानंद निरगुन गुन रासी॥
मन समेत जेहि जान न बानी। तरकि न सकहिं सकल अनुमानी॥
महिमा निगम नेति कहि कहई। जो तिहुँ काल एकरस अहई॥
नयन बिषय मो कहुँ भयहु सो समस्त सुख मूल।
सबइ लाभु जग जीव कहँ भएँ ईसु अनुकूल॥

इससे पता लगता है कि श्रीरामका सौन्दर्य-तत्त्व औ
उनका स्वरूप-तत्त्व कितना विलक्षण और अलौकिक है।
पर इसका यह अर्थ नहीं है कि उनके हस्त-पादादि
नहीं हैं; सभी हैं, परन्तु हैं चिन्मय और अत्यन्त अलौकि
योगमायासे समावृत होनेके कारण लोग उन्हें मनु
देखते हैं, यही उनका 'मायामनुष्यरूप' है। दिवालीपर

वे अप्राकृत हैं। स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीन भेदोंसे प्राकृत देहका निर्माण हुआ है। जबतक 'कारण' वर्तमान है, तबतक इस प्राकृत देह से छुटकारा नहीं मिल सकता। इस त्रिविध-देहविशिष्ट प्राकृत देहसे छूटकर केवल आत्मरूपमें ही स्थित हो जाने, अथवा दिव्य राज्यमें भगवान्‌के चिन्मय पार्षदादि स्वरूपोंकी प्राप्ति होनेको ही मुक्ति कहते हैं। मैथुनी-अमैथुनी, योनिज-अयोनिज—सभी प्राकृत शरीर वस्तुतः योनि और बिन्दुके संयोगसे ही बनते हैं। इनमें कई स्तर हैं। अधोगामी बिन्दुसे उत्पन्न होनेवाला शरीर अधम है और ऊर्ध्वगामीसे होनेवाला उत्तम। कामप्रेरित मैथुनसे उत्पन्न शरीर सबसे निकृष्ट है, किसी प्रसङ्गविशेषपर ऊर्ध्वरेता पुरुषके सङ्कल्पसे बिन्दुके अधो-गामी होनेपर उससे उत्पन्न होनेवाला शरीर उससे उत्तम द्वितीय श्रेणीका है, ऊर्ध्वरेता पुरुषके सङ्कल्पमात्रसे केवल नारीशरीरके मस्तक, कण्ठ, कर्ण, हृदय या नाभि आदिके स्पर्शमात्रसे उत्पन्न होनेवाला देह तीसरी श्रेणीका है। इसमें नीचेके अङ्गोंकी अपेक्षा ऊपरके अङ्गोंके स्पर्शसे होनेवाला अपेक्षाकृत उत्तम है। बिना स्पर्शके केवल दृष्टि द्वारा होनेवाला उससे उत्तम; और बिना देखे सङ्कल्पमात्रसे होनेवाला उससे भी उत्तम है। पहला और दूसरा मैथुनी है और शेष तीनों अमैथुनी, इससे ये देह पहले दोनोंकी अपेक्षा शुद्ध हैं। स्त्रीपिण्ड या पुरुष-पिण्डके बिना भी देह उत्पन्न होते हैं। परन्तु इनमें भी सूक्ष्म योनि और बिन्दुका सम्बन्ध रहता ही है। प्रेतादि लोकोंके वायुप्रधान और देवलोकादिके तेजःप्रधान आति-वाहिक देह भी प्राकृतिक ही हैं। योगियोंके 'निर्माणशरीर'

बहुत शुद्ध हैं, परन्तु वे भी प्रकृतिसे परे नही हैं। अप्राकृत देह इससे अत्यन्त विलक्षण होता है। और भगवद्देह तो भगवत्स्वरूप ही है, और वह सर्वथा अनिर्वचनीय है। देह-तत्त्व बहुत ही समझनेका विषय है, इसके लिये बहुत समय चाहिये। दूसरे किसी समय इसपर विचार हो सकता है।

प्र०—अच्छी बात है, देह-तत्त्वकी बात फिर कभी पूछी जा सकती है। अब यह बताइये कि रामायणमें जगह-जगह श्रीरामको ब्रह्म बतलाया गया है, उन ब्रह्मका क्या स्वरूप है?

उ०—यह बार-बार कहा जा चुका है कि वस्तुतः ब्रह्म और राम एक ही तत्त्व हैं। परन्तु रामायणमें 'ब्रह्म' शब्द प्रायः परात्पर समग्र ब्रह्मके लिये ही आया है, वेदान्तियोंके निर्गुण ब्रह्मके लिये नहीं; क्योंकि वह तो गुणोंसे सर्वथा रहित है और वह भगवान्‌की ही एक अभिव्यक्तिमात्र है। उसका अवतार नहीं हो सकता। अवतार तो सगुण ब्रह्मका ही होता है, चाहे वह अवतारी समग्र हो या समग्रका कोई अंश हो, यानी चाहे साक्षात् परात्पर भगवान् हों या उनके अंश विष्णु-शङ्करादि हों। रामचरितमानसमें ब्रह्मका जो रूप बतलाया गया है, वह केवल निर्गुण ही नहीं, गुणसागर भी है; तथा इसी रूपमें जगह-जगह श्रीरामकी स्तुति की गयी है—

जय सगुन निर्गुन रूप रूप अनूप भूप सिरोमने।
.... ॥

जय निर्गुन जय जय गुन सागर। आदि।

इससे सिद्ध है कि रामायणके अवतारी ब्रह्म परात्पर भगवान् हैं और वे दाशरथि श्रीरामचन्द्र ही हैं। वे ही परात्पर

...न अपने स्वरूपको छिपाकर 'मायामानुष रूप' में लीला
...करते हैं—

सोइ सच्चिदानंद घन रामा। अज बिग्यान रूप बल धामा॥
ब्यापक ब्याप्य अखंड अनंता। अखिल अमोघ सक्ति भगवंता॥
अगुन अदभ्र गिरा गोतीता। सबदरसी अनवद्य अजीता॥
निर्मम निराकार निर्मोहा। नित्य निरंजन सुख संदोहा॥
प्रकृति पार प्रभु सब उर बासी। ब्रह्म निरीह बिरज अबिनासी।
भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप।
किए चरित पावन परम प्राकृत नर अनुरूप॥
जथा अनेक बेष धरि नृत्य करइ नट कोइ।
सोइ सोइ भाव देखावइ आपुन होइ न सोइ॥

उपर्युक्त वर्णनसे भलीभाँति जाना जा सकता है कि श्रीराम... साक्षात् परब्रह्म हैं। यहाँ यह कहना असङ्गत न होगा कि ब्रह्म-... सूत्रके ब्रह्म, गीताके समग्र ब्रह्म—'पुरुषोत्तम', भागवतके 'स्वयं... भगवान्' और श्रीरामचरितमानसके 'श्रीराम' एक ही तत्त्व हैं...

प्र०—पहले आप कह चुके हैं कि सिद्ध योगियोंके विशु... देहमें जरा-व्याधि आदि नहीं होती, तब भगवान्के शरीरमें... नहीं होनी चाहिये। फिर, आजकल जो लोग भगवान्के... चित्रोंमें दाढ़ी-मूँछ बना देते हैं, वे क्या भूल करते हैं?

उ०—निश्चय ही, भूल तो करते हैं। भगवान्के... नित्य निरामय, नित्य नवकिशोर और नित्य नवीन रहत... अवतारकालमें लीलाके हेतुसे सोलह वर्षकी अवस्थातक... बढ़ता प्रतीत होता है—'प्रतीत होता है', इसीलिये कह... है कि वास्तवमें वह बढ़ता नहीं। योगमायाके परदे... उसका बढ़ना दिखायी देता है। सोलह वर्षकी अवस्...

बाहरसे भी बढ़ता दिखायी नहीं देता। वह नित्य नवकिशोर ही रहता है। दाढ़ी-मूँछें उस स्वरूपके नहीं होतीं। उनके सिरकी घुँघराली काली अलकावली सदा एक-सी शोभासम्पन्न रहती है, उनकी मुखश्री नित्य नवीन अपूर्व छविमयी दिखायी देती है।

प्र०—जिन लोगोंको भगवान्‌के दर्शन होते हैं, उन सबको क्या योगमायासे अनावृत रूपके ही दर्शन होते हैं ?

उ०—नहीं। बहुत ही थोड़े पुरुष ऐसे भाग्यवान् होते हैं, जिनको अनावृत रूपके दर्शन होते हैं। वह रूप तो शिव-ब्रह्मादि तथा मुनीश्वरादिके लिये भी परम दुर्लभ है। परन्तु योगमायासे समावृत रूपके दर्शन भी बड़े ही सौभाग्यसे होते हैं, वह भी कोई मामूली बात नहीं है।

प्र०—विष्णु, शिव, ब्रह्मादिका स्वरूप क्या भगवान्‌से भिन्न है ?

उ०—यह पहले कह ही चुके हैं कि वह तत्त्वतः भगवान्‌से अभिन्न है और लीलाके लिये भिन्न है। शिव और विष्णु विभिन्न ब्रह्माण्डोंमें भगवान्‌के अंशावताररूपमें भी हैं और मूलतः महाशिव तथा महाविष्णुके रूपमें सर्वथा-सर्वदा अभिन्न भी। ब्रह्माका अधिकार जीवको भी प्राप्त हो सकता है और ब्रह्मा भगवान्‌के अंशावतार भी होते हैं। यह स्मरण रखना चाहिये कि भगवान् एक ही हैं और वे सब रूपोंसे सर्वथा विलक्षण हैं। सच्चे भावसे किसी भी स्वरूपकी उपासना करनेवाला साधक अन्तमें उसी अचिन्त्य परस्वरूपको प्राप्त होता है।

यहाँ श्रीरामके स्वरूपके सम्बन्धमें श्रीरामचरितमानससे

चन उद्धृत किये जाते हैं। इनसे श्रीरामके स्वरूपका कुछ पता लग सकता है। श्रीशिवजी कहते हैं—

म सच्चिदानंद दिनेसा। नहिं तहँ मोह निसा लवलेसा॥
हज प्रकास रूप भगवाना। नहिं तहँ पुनि बिग्यान बिहाना॥
हरष बिषाद ग्यान अग्याना। जीव धर्म अहमिति अभिमाना॥
राम ब्रह्म ब्यापक जग जाना। परमानंद परेस पुराना॥
पुरुष प्रसिद्ध प्रकास निधि प्रगट परावर नाथ।
रघुकुल मनि मम स्वामि सोइ कहि सिवँ नायउ माथ॥

'श्रीरामचन्द्रजी सच्चिदानन्दस्वरूप सूर्य हैं। वहाँ मोहरूपी रात्रिका लवलेश भी नहीं है। वे स्वभावसे ही प्रकाशरूप और षडैश्वर्ययुक्त भगवान् हैं, वहाँ तो विज्ञानरूपी प्रातःकाल भी नहीं होता। (अज्ञानरूपी रात्रि हो, तव तो विज्ञानरूपी प्रातःकाल हो; भगवान् तो नित्य ज्ञानस्वरूप ठहरे।) हर्ष, शोक, ज्ञान, अज्ञान, अहंता और अभिमान—ये सब जीवके धर्म हैं। श्रीरामचन्द्रजी तो व्यापक ब्रह्म, परमानन्दस्वरूप, परात्पर प्रभु और पुराणपुरुष हैं—इस बातको सारा जगत् जानता है। जो पुराणपुरुष प्रसिद्ध हैं, प्रकाशके भण्डार हैं, सब रूपोंमें प्रकट हैं, जीव, माया और जगत्—सबके स्वामी हैं, वे ही रघुकुलमणि श्रीरामचन्द्रजी मेरे स्वामी हैं।' यों कहकर शिवजीने उनको मस्तक नवाया।

मनु महाराज अभिलाषा करते हैं—

उर अभिलाषु निरंतर होई। देखिअ नयन परम प्रभु सोई॥
अगुन अखंड अनंत अनादी। जेहि चिंतहिं परमारथ बादी।
नेति नेति जेहि बेद निरूपा। निजानंद निरुपाधि अनूपा।
संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस तें नाना।
ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई। भगत हेतु लीलातनु गहई।

लक्ष्मण हैं। देवताओंके कार्यके लिये आप राजाका शरीर धारण करके दुष्ट राक्षसोंकी सेनाका नाश करनेके लिये चले हैं। राम! आपका स्वरूप वाणीके अगोचर, बुद्धिसे परे, अज्ञात, अकथनीय और अपार है। वेद निरन्तर उसका 'नेति-नेति' कहकर वर्णन करते हैं। राम! जगत् दृश्य है, आप [अपने अंशस्वरूप] ब्रह्मा, विष्णु और शङ्करको भी नचानेवाले हैं। जब वे भी आपके मर्मको नहीं जानते तब और कौन आपको जाननेवाला है? वही आपको जानता है, जिसे आप जना देते हैं और जानते ही वह आपका ही स्वरूप बन जाता है। हे रघुनन्दन! हे भक्तोंके हृदयको शीतल करनेवाले चन्दन! आपकी ही कृपासे भक्त आपको जान पाते हैं।'

प्र०—यदि श्रीराम परात्पर ब्रह्म हैं और श्रीशिवजी उनसे अभिन्न हैं तो वे शिवजीकी पूजा कैसे करते हैं? रामचरितमानसके अनुसार तो वे नित्य पार्थिव पूजन करते थे और उन्होंने श्रीरामेश्वरकी स्थापना भी की थी।

उ०—यह कहा जा चुका है कि तत्त्वतः श्रीराम और श्रीशङ्कर एक ही हैं। श्रीराम और श्रीशिव ही क्यों—यह सारा चराचर जगत् भी वास्तवमें रामसे अभिन्न है। इसीसे तो रामायणमें 'सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥' और 'मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत' यह स्पष्ट कहा गया है और श्रीशङ्करजीको तो रामायणमें श्रीरामजीके 'सेवक, स्वामी, सखा' तीनों बतलाया गया है। रामायणके अनुसार वे श्रीरामजीके अनन्य भक्त हैं—ऐसे भक्त, जो सीताका वेष बना लेनेपर सतीतकका त्याग कर देते हैं,

'जो भक्तिकी ऐसी महिमा जानकर भी उसे छोड़ देते और केवल ज्ञानके लिये श्रम (साधन) करते हैं, वे मूर्ख घरपर खड़ी हुई कामधेनुको छोड़कर दूधके लिये मदारके पेड़को खोजते फिरते हैं। हे पक्षिराज ! सुनिये—जो लोग श्रीहरिकी भक्तिको छोड़कर दूसरे उपायोंसे सुख चाहते हैं, वे मूर्ख और जड़ करनीवाले (अभागे) बिना जहाजके ही तैरकर महासमुद्रके पार जाना चाहते हैं।

ज्ञानकी कठिनताका उल्लेख ज्ञान-दीपक-प्रकरणमें करके फिर काकभुशुण्डिजी कहते हैं—

राम भगति चिंतामनि सुन्दर। बसइ गरुड़ जाके उर अंतर॥
परम प्रकास रूप दिन राती। नहिं कछु चहिअ दिआ घृत बाती॥
मोह दरिद्र निकट नहिं आवा। लोभ बात नहिं ताहि बुझावा॥
प्रबल अबिद्या तम मिटि जाई। हारहिं सकल सलभ समुदाई॥
खल कामादि निकट नहिं जाहीं। बसइ भगति जाके उर माहीं॥
गरल सुधा सम अरि हित होई। तेहि मनि बिनु सुख पाव न कोई॥
ब्यापहिं मानस रोग न भारी। जिन्ह के बस सब जीव दुखारी॥
राम भगति मनि उर बस जाकें। दुख लवलेस न सपनेहुँ ताकें॥
चतुर सिरोमनि तेइ जग माहीं। जे मनि लागि सुजतन कराहीं॥

'श्रीरामजीकी भक्ति सुन्दर चिन्तामणि है। हे गरुड़जी ! यह जिसके हृदयमें बसती है, वह दिन-रात अपने-आप ही परम प्रकाशरूप रहता है; उसको दीपक, घी और बत्ती कुछ भी नहीं चाहिये। इस प्रकार मणिका एक तो स्वाभाविक प्रकाश रहता है। फिर मोहरूपी दरिद्रता समीप नहीं आती (क्योंकि मणि स्वयं धनरूप है); और तीसरे लोभरूपी हवा उस मणिमय दीपको नहीं बुझाती, [क्योंकि मणि स्वयं प्रकाशरूप है, वह किसी

रे की सहायता से नहीं प्रकाश करती]। उसके प्रकाश से अविद्या का प्रबल अन्धकार मिट जाता है। मदादि पतङ्गों का सारा समूह हार जाता है। जिसके हृदयमें भक्ति बसती है, काम, क्रोध और लोभ आदि इनके पास भी नहीं जाते। उसके लिये विष अमृत के समान और शत्रु मित्र हो जाता है। उस मणिके बिना कोई सुख नहीं पाता। बड़े-बड़े मानस रोग, जिनके वश होकर सब जीव दुखी हो रहे हैं, उसको नहीं व्यापते। श्रीराम भक्तिरूपी मणि जिसके हृदयमें बसती है, उसे स्वप्नमें भी लेशमात्र दुःख नहीं होता। जगत्में वे ही मनुष्य चतुरोंके शिरोमणि हैं, जो उस भक्तिमणिके लिये भलीभाँति यत्न करते हैं।

कलिजुग केवल हरि गुन गाहा। गावत नर पावहिं भव थाहा॥
कलिजुग जोग न जग्य न ग्याना। एक अधार राम गुन गाना॥
सब भरोस तजि जो भज रामहि। प्रेम समेत गाव गुन ग्रामहि॥
सोइ भव तर कछु संसय नाहीं। नाम प्रताप प्रगट कलि माहीं॥

कलियुगमें तो केवल श्रीहरिकी गुणगाथाओंका गान करके ही मनुष्य भव-सागरकी थाह पा जाते हैं। कलियुगमें न योग और यज्ञ है, और न ज्ञान ही है। श्रीरामजीका गुण ही एकमात्र आधार है। अतएव सारे भरोसे त्यागकर श्रीरामजीको भजता है और प्रेमसहित उनके गुणसमूहोंको है, वही भव-सागरसे तर जाता है—इसमें कुछ भी सन्देह नामका प्रताप कलियुगमें प्रत्यक्ष है।'

सन्तोंने भगवान् श्रीरामका 'निज सिद्धान्त' सुनो-

अब सुनु परम बिमल मम बानी। सत्य सुगम निगमादि
निज सिद्धांत सुनावउँ तोही। सुनु मन धरु सब तजि भ

मम माया संभव संसारा। जीव चराचर बिबिधि प्रकारा॥
सब मम प्रिय सब मम उपजाए। सब ते अधिक मनुज मोहि भाए॥
तिन्ह महँ द्विज द्विज महँ श्रुतिधारी। तिन्ह महुँ निगम धरम अनुसारी॥
तिन्ह महँ प्रिय बिरक्त पुनि ग्यानी। ग्यानिहु ते अति प्रिय बिग्यानी॥
तिन्ह ते पुनि मोहि प्रिय निज दासा। जेहि गति मोरि न दूसरि आसा॥
पुनि पुनि सत्य कहउँ तोहि पाहीं। मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं॥
भगति हीन बिरंचि किन होई। सब जीवहु सम प्रिय मोहि सोई॥
भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी॥

सुचि सुसील सेवक सुमति प्रिय कहु काहि न लाग।
श्रुति पुरान कह नीति असि सावधान सुनु काग॥

एक पिता के बिपुल कुमारा। होहिं पृथक गुन सील अचारा॥
कोउ पंडित कोउ तापस ग्याता। कोउ धनवंत सूर कोउ दाता॥
कोउ सर्बग्य धर्मरत कोई। सब पर पितहि प्रीति सम होई॥
कोउ पितु भगत बचन मन कर्मा। सपनेहुँ जान न दूसर धर्मा॥
सो सुत प्रिय पितु प्रान समाना। जद्यपि सो सब भाँति अयाना॥
एहि बिधि जीव चराचर जेते। त्रिजग देव नर असुर समेते॥
अखिल बिस्व यह मोर उपाया। सब पर मोहि बराबरि दाया॥
तिन्ह महँ जो परिहरि मद माया। भजइ मोहि मन बच अरु काया॥

पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ।
सर्ब भाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ॥
सत्य कहउँ खग तोहि सुचि सेवक मम प्रान प्रिय।
अस बिचारि भजु मोहि परिहरि आस भरोस सब॥

भगवान् कहते हैं—'हे काक ! अब तुम मेरी सत्य, सुगम, वेदादिके द्वारा वर्णित परम निर्मल वाणी सुनो। मैं तुमको यह 'निज सिद्धान्त' सुनाता हूँ, इसे सुनकर मनमें धारण करो और सब तजकर मेरा भजन करो। यह सारा संसार मेरी मायासे

उत्पन्न है। इसमें अनेक प्रकारके चराचर जीव हैं, वे सभी मुझे प्रिय हैं; क्योंकि सभी मेरे उत्पन्न किये हुए हैं। इनमें मुझको मनुष्य सबसे अच्छे लगते हैं। मनुष्योंमें भी द्विज, द्विजोंमें भी वेदोंको धारण करनेवाले, उनमें भी वेदोक्त धर्मपर चलनेवाले और उनमें भी वैराग्यवान् मुझे प्रिय हैं। वैराग्यवानोंमें फिर ज्ञानी और ज्ञानियोंसे भी अत्यन्त प्रिय विज्ञानी हैं। विज्ञानियोंसे भी प्रिय मुझे अपना दास है, जिसे मेरी ही गति है, कोई दूसरी आशा नहीं है। मैं तुझसे बार-बार सत्य 'निज सिद्धान्त' कहता हूँ कि मुझे अपने सेवकके समान प्रिय कोई भी नहीं है। भक्तिहीन ब्रह्मा ही क्यों न हो, वह मुझे सब जीवोंके समान ही प्रिय है। परन्तु भक्तिमान् अत्यन्त नीच प्राणी भी मुझे प्राणोंके समान प्रिय है—यह मेरी घोषणा है। पवित्र, सुशील और सुन्दर बुद्धिवाला सेवक, भला बताओ, किसको प्यारा नही लगता। वेद और पुराण ऐसी ही नीति कहते हैं।'

'हे काक ! सावधान होकर सुनो। एक पिताके बहुत-से पुत्र पृथक्-पृथक् गुण, शील और आचरणवाले होते हैं। कोई पण्डित होता है, कोई तपस्वी; कोई ज्ञानी, कोई धनी; कोई शूरवीर और कोई दानी। कोई सर्वज्ञ और धर्मपरायण होता है। पिताका प्रेम इन सबपर समान होता है। परन्तु इनमेंसे यदि कोई मन, वचन और कर्मसे पिताका ही भक्त होता है, स्वप्नमें भी दूसरा धर्म नहीं जानता, तो वह पुत्र पिताको प्राणोंके समान प्रिय होता है—चाहे वह सब प्रकारसे अज्ञान (मूर्ख) ही क्यों न हो। इसी प्रकार तिर्यक् (पशु-पक्षी), देव, मनुष्य और असुरोंसमेत जितने भी चेतन और जड़ जीव

सच्चिदानन्दके ज्योतिषी

सर्वव्यापक, निरञ्जन, निर्गुण, अजन्मा, हर्ष-विषादसे रहित, नाम रूप-रहित परब्रह्म परमात्मा जब भक्तिके वशीभूत होकर पृथ्वीका भार उतारनेके लिये श्रीअयोध्यामें माता श्रीकौसल्याजीकी गोदमें श्रीरामरूपमें अवतरित हुए, तब अयोध्यानगरी एक अलौकिक शोभाको प्राप्त हुई। जहाँपर अलौकिक शोभाधाम सच्चिदानन्द प्रभु स्वयं बालरूपसे खेल रहे हों, वहाँकी छविका क्या कहना! सुर-नर-मुनि सभी अयोध्या-नगरीके सौभाग्यकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा कर रहे थे और भगवान्की रूप-माधुरीका पान करनेके लिये तथा परमानन्दका रसास्वादन करनेके लिये मनुष्यरूपमें अयोध्याकी गलियोंमें चक्कर लगाया करते थे। अखिलभुवनपति भगवान् महेश्वर भी उस समय सुरम्य कैलासधाममें टिक न सके; वह उन्हें अयोध्याके मुकाबले सूना, नीरस-सा लगने लगा। उन्होंने काकभुशुण्डि तथा कुछ अन्यान्य प्रेमी ऋषि-मुनियोंका एक दल सङ्गठित किया और अयोध्यानगरीमें आकर निवास किया। इस रहस्यको उस समय कोई जानता नहीं था। भगवान् शङ्कर अपने दलके साथ राजमहलके इर्द-गिर्द चक्कर लगाया करते थे कि किसी तरह प्रभुके बालरूपकी झाँकी मिल जाय।

एक दिन उन्होंने अपने साथियोंको तो बाल शिष्योंका रूप धारण कराया और स्वयं एक वयोवृद्ध अनुभवी ज्योतिषी बन बैठे। इस तरह दिव्य वेश बनाकर अपनी मण्डलीसहित वे राजभवनके द्वारपर पहुँचे। उस समयका वर्णन भक्तप्रवर श्रीतुलसीदासजी अपनी गीतावलीमें इस प्रकार करते हैं—

अवध आजु आगमी एकु आयो।
करतल निरखि कहत सब गुन गन, बहुतन्ह परिचौ पायो ॥ १ ॥
बूढ़ो बड़ो प्रमानिक ब्राह्मन, संकर नाम सुहायो।
सँग सिसु सिष्य, सुनत कौसल्या भीतर भवन बुलायो ॥ २ ॥
पायँ पखारि, पूजि, दियो आसन, असन बसन पहिरायो।
मेले चरन चारु चार्‌यो सुत, माथे हाथ दियायो ॥ ३ ॥
नख सिख बाल बिलोकि बिप्र तनु पुलक, नयन जल छायो।
लै लै गोद कमल कर निरखत, उर प्रमोद न अमायो ॥ ४ ॥
जनम प्रसंग कह्यो कौसिक मिस सीय स्वयंबर गायो।
राम, भरत, रिपुदवन, लखन को जय सुख सुजसु सुनायो ॥ ५ ॥
तुलसिदास रनिवास रहस बस भयो, सब के मन भायो।
सनमान्यो महिदेव असीसत सानँद सदन सिधायो ॥ ६ ॥

राजभवनके रनिवासमें खबर पहुँची कि आज अवधपुरीमें एक सामुद्रिक ज्योतिषी आये हैं जो हथेली देखकर ही सारे गुण बता देते हैं। उनके कथनकी सत्यताका परिचय बहुत-से लोगोंको मिला है। ये बूढ़े ब्राह्मण बड़े ही प्रामाणिक हैं! उनका बड़ा सुन्दर 'शङ्कर' नाम है और उनके साथ कई बालक शिष्य भी हैं। यह सुनकर माता कौसल्याजीने ज्योतिषीको भीतर महलमें बुला भेजा। ज्योतिषीके आनेपर उन्होंने ब्राह्मणके पैर धोये, पूजा की, आसनपर बैठाया, भोजन कराया और वस्त्र प्रदान

किया। फिर उनके सुन्दर चरणोंमें चारों बालकोंको रखकर उनके सिरपर हाथ रखवाया। उन बालकोंको नखसे शिखतक निहारकर ब्राह्मणदेवताके शरीरमें रोमाञ्च हो आया और नेत्रोंमें जल भर गया। फिर वे गोदमें ले-लेकर उनके करकमल देखने लगे। उस समय अपने आराध्यदेवको साकार मूर्तिमें और सो भी अपनी गोदमें पाकर उनके हृदयमें आनन्दकी सीमा न रही। उन्होंने उनके जन्म लेनेके कारणसे लेकर भविष्यमें श्रीविश्वामित्रजीकी यज्ञरक्षाके मिससे श्रीसीताजीके स्वयंवरमें पधारनेतककी कथा सुनायी तथा राम, भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्नके भावी जय, सुख और सुयशका वर्णन किया। यह सुनकर सारा रनिवास आनन्दमग्न हो गया, क्योंकि ज्योतिषी-जीकी बात सबके हृदयको प्रिय लगनेवाली थी। उन्होंने उन विप्रप्रवरका अत्यन्त सम्मान किया और वे भी अतृप्त नयनोंसे सच्चिदानन्दकी सच्चिदानन्दमयी छविको मुँह फिरा-फिराकर निरखते हुए मन-ही-मन गुणगान करते हुए और ऊपरसे उन्हें आशीर्वाद देते हुए अपने धामको वापस चले गये।



राममाता कौसल्याजी

रामायणमें महारानी कौसल्याका चरित्र बहुत ही उदार और आदर्श है। यह महाराज दशरथकी सबसे बड़ी पत्नी और भगवान् श्रीरामचन्द्रकी जननी थी। प्राचीन कालमें मनु-शतरूपाने तप करके श्रीभगवान्‌को पुत्ररूपसे प्राप्तकरनेका वरदान पाया था; वे ही मनु-शतरूपा यहाँ दशरथ-कौसल्या हैं और भगवान् श्रीराम ही पुत्ररूपसे उनके घर अवतरित हुए हैं। श्रीकौसल्याजीके चरित्रका प्रारम्भ अयोध्याकाण्डसे होता है। भगवान् श्रीरामका राज्याभिषेक होनेवाला है। नगरमें उत्सवकी तैयारियाँ हो रही हैं। आज माता कौसल्याके आनन्दका पार नहीं है; वह रामकी मङ्गल-कामनासे अनेक प्रकारके यज्ञ, दान, देवपूजन और उपवास-व्रतमें संलग्न है। श्रीसीता-रामको राज्यसिंहासनपर देखनेकी निश्चित आशासे उसका रोम-रोम खिल रहा है, परन्तु श्रीराम दूसरी ही लीला करना चाहते हैं। सौन्दर्योपासक महाराज दशरथ कैकेयीके साथ वचनबद्ध होकर श्रीरामको वनवास देनेके लिये बाध्य हो जाते हैं।

धर्म के लिये त्याग

प्रातःकाल श्रीराम माता कैकेयी और पिता दशरथ महाराजसे मिलकर वनगमनका निश्चय कर लेते हैं और माता कौसल्यासे आज्ञा लेनेके लिये उसके महलमें पधारते हैं। कौसल्या उस समय ब्राह्मणोंके द्वारा अग्निमें हवन करवा रही है और मन-

ही-मन सोच रही है कि 'मेरे राम इस समय कहाँ होंगे, शुभ लग्न किस समय है ?' इतनेहीमें नित्य प्रसन्नमुख और उत्साहपूर्ण हृदयवाले श्रीरामचन्द्र माताके समीप जा पहुँचते हैं। रामको देखते ही माता यकायक उठकर वैसे ही सामने जाती है, जैसे घोड़ी वछेरेके पास जाती है। राम माताको पास आयी देख उसके गले लग जाते हैं और माता भी भुजाओंसे पुत्रको आलिङ्गन कर उनका सिर सूंघने लगती है।

सा चिरस्यात्मजं दृष्ट्वा मातृनन्दनमागतम् ।
अभिचक्राम संहृष्टा किशोरं वडवा यथा ॥
स मातरमुपक्रान्तामुपसंगृह्य राघवः ।
परिष्वक्तश्च बाहुभ्यामवघ्रातश्च मूर्धनि ॥
(वा० रा० २ । २० । २०-२१)

इस समय कौसल्याके हृदयमें वात्सल्य-रसकी बाढ़ आ गयी, उसके नेत्रोंसे प्रेमाश्रुओंकी धारा बहने लगी। कुछ देरतक तो यही अवस्था रही, फिर कौसल्या रामपर निछावर करके बहुमूल्य वस्त्राभूषण बाँटने लगी। श्रीराम चुपचाप खड़े थे। अब स्नेहमयी माँसे रहा नहीं गया। उसने हाथ पकड़कर पुत्रको नन्हे-से शिशुकी भाँति गोदमें बैठा लिया और लगी प्यार करने—

बार बार मुख चुंबति माता। नयन नेह जलु पुलकित गाता ॥

जैसे रङ्क कुबेरके पदको प्राप्त कर फूला नहीं समाता, आज वही दशा कौसल्याकी है। इतनेमे स्मरण आया कि दिन बहुत चढ़ गया है, मेरे प्यारे रामने अभी कुछ खाया भी नहीं होगा। अतएव माँ कहने लगी—

तात जाउँ बलि बेगि नहाहू । जो मन भाव मधुर कछु खाहू ॥

माता सोच रही है कि 'नगरमें बहुत देर होगी, मेरा राम इतनी देर भूखा कैसे रह सकेगा, कुछ मिठाई ही खा ले दो-चार फल ही ले ले तो ठीक है।' उसे यह पता नहीं था कि राम तो दूसरे ही कामसे यहाँ आये हैं। भगवान् रामने कहा—माता-पिताने मुझको वनका राज्य दिया है। जहाँ सभी प्रकारसे मेरा बड़ा कल्याण होगा, तुम प्रसन्नचित्तसे मुझको वन जानेके लिये आज्ञा दे दो, चौदह साल वनमें निवासकर पिताजीके वचनोंको सत्य कर पुनः इन चरणोंके दर्शन करूँगा। माता ! तुम किसी तरह दुःख न करो।

रामके ये वचन कौसल्याके हृदयमें शूलकी भाँति बिंध गये। हा ! कहाँ तो चक्रवर्ती साम्राज्यके ऊँचे सिंहासनपर बैठनेकी बात और कहाँ अब प्राणाराम रामको वन जाना पड़ेगा ! कौसल्याजीके हृदयका विषाद रहा नहीं जाता, वह मूर्च्छित हो पड़ी और थोड़ी देर बाद जगकर भाँति-भाँतिसे विलाप करने लगी।

कौसल्याजीके मनमें आया कि पिताकी अपेक्षा माताका स्थान ऊँचा है, यदि महाराजने रामको वनवास दिया है तो क्या हुआ, मैं नहीं जाने दूँगी। परन्तु फिर सोचा कि यदि बहिन कैकेयीने आज्ञा दे दी होगी तो मेरा रोकनेका क्या अधिकार है, क्योंकि मातासे भी सौतेली माताका दर्जा ऊँचा माना गया है। इस विचारसे,कौसल्या श्रीरामको रोकनेका भाव छोड़कर मार्मिक शब्दोंमें कहती है—

जौं केवल पितु आयसु ताता । तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता ॥
जौं पितु मातु कहेउ बन जाना । तौ कानन सत अवध समाना ॥

मातासे कहा गया कि 'पिताकी ही नहीं, माता कैकेयीकी ी यही सम्मति है।' यहाँपर कौसल्याने बड़ी बुद्धिमानीके साथ ाह भी सोचा कि यदि मैं 'श्रीरामको हठपूर्वक रखना चाहूँगी ो धर्म तो जायगा ही, साथ ही दोनों भाइयोंमें परस्पर विरोध भी हो सकता है—

राखउँ सुतहि करउँ अनुरोधू। धरमु जाइ अरु बंधु बिरोधू।

अतएव सब तरहसे सोचकर धर्मपरायणा साध्वी कौसल्याने हृदयको कठिन करके रामसे कह दिया कि 'बेटा! जब पिता-माता दोनोंकी आज्ञा है और तुम भी इसको धर्म-सम्मत समझते हो, तब मैं तुम्हें रोककर धर्ममें बाधा नहीं देना चाहती, जाओ और धर्मका पालन करते रहो। एक अनुरोध अवश्य है—

मानि मातु कर नात बलि सुरति बिसरि जनि जाइ।

पातिव्रतधर्म

कह तो दिया, परन्तु फिर हृदयमें तूफान आया। अब कौसल्या अपनेको साथ ले चलनेके लिये आग्रह करने लगी और बोली—

कथं हि धेनुः स्वं वत्सं गच्छन्तमनुगच्छति।
अहं त्वानुगमिष्यामि यत्र वत्स गमिष्यसि॥
(वा०रा०२।२४।९)

'बेटा! जैसे गाय अपने बछड़ेके पीछे, वह जहाँ जाता है, वहीं जाती है वैसे ही मैं भी तुम्हारे साथ तुम जहाँ जाओगे वहीं जाऊँगी।' इसपर भगवान् रामने माताको अवसर जानकर पातिव्रतधर्मका बड़ा ही सुन्दर उपदेश दिया, जो स्त्रीमात्रके लिये मनन करने योग्य है। भगवान् बोले—

भर्तुः पुनः परित्यागो नृशंसः केवलं स्त्रियाः ।
स भवत्या न कर्तव्यो मनसापि विगर्हितः ॥
यावज्जीवति काकुत्स्थः पिता मे जगतीपतिः ।
शुश्रूषा क्रियतां तावत् स हि धर्मः सनातनः ॥
जीवन्त्या हि स्त्रिया भर्ता दैवतं प्रभुरेव च ।
भवत्या मम चैवाद्य राजा प्रभवति प्रभुः ॥
न ह्यनाथा वयं राज्ञा लोकनाथेन धीमता ।
भरतश्चापि धर्मात्मा सर्वभूतप्रियंवदः ॥
भवतीमनुवर्तेत स हि धर्मरतः सदा ।
यथा मयि तु निष्क्रान्ते पुत्रशोकेन पार्थिवः ॥
श्रमं नावाप्नुयात् किञ्चिदप्रमत्ता तथा कुरु ।
दारुणश्चाप्ययं शोको यथैनं न विनाशयेत् ॥
राज्ञो वृद्धस्य सततं हितं चर समाहिता ।
व्रतोपवासनिरता या नारी परमोत्तमा ॥
भर्तारं नानुवर्तेत सा च पापगतिर्भवेत् ।
भर्तुः शुश्रूषया नारी लभते स्वर्गमुत्तमम् ॥
अपि या निर्नमस्कारा निवृत्ता देवपूजनात् ।
शुश्रूषामेव कुर्वीत भर्तुः प्रियहिते रता ॥
एष धर्मः स्त्रिया नित्यो वेदे लोके श्रुतः स्मृतः ।
(वा० रा० २ । २४)

'माता ! पतिका परित्याग कर देना स्त्रीके लिये बहुत बड़ी क्रूरता है, तुमको मनसे भी ऐसा सोचना नहीं चाहिये, करना तो दूर रहा। जबतक ककुत्स्थवंशी मेरे पिताजी जीते हैं, तबतक तुमको उनकी सेवा ही करनी चाहिये, यही सनातन धर्म है। जीवित स्त्रियोंके लिये पति ही देवता है और

'पुत्री ! जो स्त्रियाँ पतिके द्वारा सब प्रकारसे सम्मान पानेपर भी गरीबीकी हालतमें उनकी सेवा नहीं करतीं, वह असती मानी जाती हैं। जो स्त्रियाँ सती हैं, वे ही शीलवती और सत्यवादिनी होती हैं, बड़ोंके उपदेशके अनुसार उनका वर्ताव होता है, वे अपने कुलकी मर्यादाका कभी उल्लङ्घन नहीं करतीं और अपने एकमात्र पतिको ही परम पूज्य देवता मानती हैं। बेटी ! आज मेरे पुत्र रामको पिताने वनवासी बना दिया है, वह धनी हो या निर्धन, तेरे लिये तो वही देवता है, अतः कभी उसका तिरस्कार न करना।'

यद्यपि परम सती सीताजीको पातिव्रतका उपदेश करना सूर्यको दीपक दिखाना है, तथापि सीताने सासके वचनोंसे कुछ भी बुरा नहीं माना या अपना अपमान नहीं समझा और उसको बातें धर्मार्थयुक्त समझ हाथ जोड़कर कहा—'माता ! मैं आपके उपदेशानुसार ही करूँगी, पतिके साथ किस प्रकारका वर्ताव करना चाहिये, इस विषयका उपदेश माता-पिताके द्वारा मुझको प्राप्त हो चुका है। आप असाध्वी स्त्रियोंके साथ मेरी तुलना न करें—

धर्माद् विचलितुं नाहमलं चन्द्रादिव प्रभा ॥
नातन्त्री वाद्यते वीणा नाचक्रो विद्यते रथः ।
नापतिः सुखमेधेत या स्यादपि शतात्मजा ॥
मितं ददाति हि पिता मितं भ्राता मितं सुतः ।
अमितस्य तु दातारं भर्तारं का न पूजयेत् ॥

(वा० रा० २ । ३६ । २८-३०)

'मैं कदापि धर्मसे विचलित न हो सकूँगी। जिस प्रकार

चन्द्रमासे चाँदनी अलग नहीं होती, जिस प्रकार विना तारके वीणा नहीं वजती, जिस प्रकार विना पहियेके रथ नहीं चल सकता, उसी प्रकार स्त्री चाहे सौ पुत्रोंकी भी माँ क्यों न हो जाय, परन्तु पति विना वह कभी सुखी नहीं हो सकती। पिता, माता, भाई और पुत्र आदि जो कुछ सुख देते हैं, वह परिमित होता है और केवल इसी लोकके लिये होता है; परन्तु पति तो मोक्षरूप अपरिमित सुखका दाता है, अतएव ऐसी कौन दुष्टा स्त्री है, जो अपने पतिकी सेवा न करे ?'

जव राम वनको चले जाते हैं और महाराज दशरथ दुखी होकर कौसल्याके भवनमें आते हैं, तव आवेशमें आकर वह उन्हें कुछ कठोर वचन कह बैठती है, इसके उत्तरमें जव दुखी महाराज आर्त्तभावसे हाथ जोड़कर कौसल्यासे क्षमा माँगते हैं, तव तो कौसल्या भयभीत होकर अपने कृत्यपर वड़ा भारी पश्चात्ताप करती है, उसकी आँखोंसे निर्झरकी तरह आँसू वहने लगते हैं और वह महाराजके हाथ पकड़ उन्हें अपने मस्तकपर रख घवराहटके साथ कहती है—'नाथ ! मुझसे वड़ी भूल हुई, मैं धरतीपर सिर टेककर प्रार्थना करती हूँ। आप मुझपर प्रसन्न होइये। मैं पुत्र-वियोगसे पीड़िता हूँ, आप क्षमा कीजिये। देव ! आपको जव मुझ दासीसे क्षमा माँगनी पड़ी, तव मैं आज पातिव्रत-धर्मसे भ्रष्ट हो गयी हूँ। आज मेरे शीलपर कलङ्क लग गया है। अव मैं क्षमाके योग्य नहीं रहीं, मुझे अपनी दासी जानकर उचित दण्ड दीजिये। अनेक प्रकारकी सेवाओंके द्वारा प्रसन्न करने योग्य वुद्धिमान् स्वामी जिस स्त्रीको प्रसन्न करनेके लिये वाध्य होता है, उस स्त्रीके लोक-परलोक दोनों नष्ट हो जाते

हैं। स्वामिन् मैं धर्मको जानती हूँ, आप सत्यवादी हैं, यह भी मैं जानती हूँ। मैंने जो कुछ कहा सो पुत्र-शोककी अतिशय पीड़ामें घबराकर कहा है।' कौसल्याके इन वचनोंमें राजाको कुछ सान्त्वना हुई और उनकी आँख लग गयी।

उपर्युक्त अवतरणोंसे यह पता लगता है कि कौसल्या पातिव्रत धर्मके पालनमें बहुत ही आगे बढ़ी हुई थी। स्त्रियोंको इस प्रसङ्गसे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

कर्तव्यनिष्ठा

दशरथजी रामके वियोगमें व्याकुल हैं, खान-पान छूट गया है, मृत्युके चिह्न प्रत्यक्ष दीख पड़ने लगे हैं. नगर और महलोंमें हाहाकार मचा हुआ है, ऐसी अवस्थामें धीरज धारण कर अपने दुःखको भुला श्रीरामकी माता कौसल्या, जिसका प्राणाधार पुत्र वधूसहित वनवासी हो चुका है, अपने उत्तरदायित्व और कर्तव्यको समझती हुई महाराजसे कहती है—

नाथ समुझि मन करिअ बिचारू। राम बियोग पयोधि अपारू॥
करनधार तुम्ह अवध जहाजू। चढ़ेउ सकल प्रिय पथिक समाजू॥
धीरजु धरिअ त पाइअ पारू। नाहिं त बूड़िहि सबु परिवारू॥
जौं जियँ धरिअ बिनय पिय मोरी। रामु लखनु सिय मिलहिं बहोरी॥

धन्य! रामजननी देवी कौसल्या ऐसी अवस्थामें तुम्हीं ऐसे आदर्श वचन कह सकती हो, धन्य तुम्हारे धैर्य, साहस, पातिव्रत, विश्वास और तुम्हारी आदर्श कर्तव्यनिष्ठाको!

वधू-प्रेम

कौसल्याको अपनी पुत्र-वधू सीताके प्रति कितना वात्सल्य-प्रेम था, इसका दिग्दर्शन नीचेके कुछ शब्दोंसे होता है, जब

सीताजी रामके साथ वन जाना चाहती हैं, तब रोती हुई कौसल्या कहती है—

मैं पुनि पुत्रवधू प्रिय पाई। रूप रासि गुन सील सुहाई॥
नयन पुतरि करि प्रीति बढ़ाई। राखेउँ प्रान जानकिहिं लाई॥
पलँग पीठ तजि गोद हिंडोरा। सियँ न दीन्ह पगु अवनि कठोरा॥
जिअनमूरि जिमि जोगवत रहऊँ। दीप बाति नहिं टारन कहऊँ॥

जब सुमन्त श्रीसीता-राम-लक्ष्मणको वनमें छोड़कर अयोध्या आता है, तब कौसल्या अनेक प्रकार चिन्ता करती हुई पुत्र-वधूका कुशल-समाचार पूछती है। फिर जब चित्रकूटमें सीताको देखती है, तब बड़ा ही दुःख करती हुई कहती है—बेटी! धूपसे 'सूखे हुए कमलके समान, मसले हुए कुमुद के समान, धूलसे लिपटे हुए सोनेके समान और बादलोंसे छिपाये हुए चन्द्रमाके समान तेरा यह मलिन मुख देखकर मेरे हृदयमें जो दुःखरूपी अरणीसे उत्पन्न शोकाग्नि है, वह मुझे जला रही है।'

यदि आज सभी सासोंका बर्ताव पुत्रवधुओंके साथ ऐसा हो जाय तो घर-घरमें सुखका स्रोत बहने लगे।

राम-भरतमें समानभाव और प्रजाहित

कौसल्या राम और भरतमें कोई अन्तर नहीं मानती थी। उसका हृदय विशाल था। जब भरतजी ननिहालसे आते हैं और अनेक प्रकारसे विलाप करते हुए एवं अपनेको धिक्कारते हुए, सारे अनर्थोंका कारण अपनेको मानते हुए जब माता कौसल्याके सामने फूट-फूटकर रोने लगते हैं, तब माता सहसा उठकर आँसू बहाती हुई भरतको हृदयसे लगा लेती है और ऐसा मानती है मानों राम ही लौट आये। उस समय शोक और स्नेह उसके

हृदयमें नहीं समाता, तथापि यह बेटे भरतको धीरज बँधाती हुई कोमल वाणीसे कहती है—

अजहूँ बच्छ बलि धीरज धरहू। कुसमउ समुझि सोक परिहरहू॥
जनि मानहु हियँ हानि गलानी। काल करम गति अघटित जानी॥
× × × ×
राम प्रानहु तें प्रान तुम्हारे। तुम्ह रघुपतिहि प्रानहु तें प्यारे॥
बिधु बिष चवै स्त्रवै हिमु आगी। होइ बारिचर बारि बिरागी॥
भएँ ग्यानु बरु मिटै न मोहू। तुम्ह रामहि प्रतिकूल न होहू॥
मत तुम्हार यहु जो जग कहहीं। सो सपनेहुँ सुख सुगति न लहहीं॥
अस कहि मातु भरतु हियँ लाए। थन पय स्त्रवहिं नयन जल छाए॥

कैसे आदर्श वाक्य हैं! रामकी माता ऐसी न हो तो और कौन हो?

महाराजकी दाहक्रियाके उपरान्त जब वसिष्ठजी और नगरके लोग भरतको राजगद्दीपर बैठाना चाहते हैं और जब भरत किसी प्रकार भी नहीं मानते, तब माता कौसल्या प्रजाके सुखके लिये धीरज धरकर कहती है—

× × × । पूत पथ्य गुर आयसु अहई॥
सो आदरिअ करिअ हित मानी। तजिअ बिषादु काल गति जानी॥
बन रघुपति सुरपति नरनाहू। तुम्ह एहि भाँति तात कदराहू॥
परिजन प्रजा सचिव सब अंबा। तुम्हही सुत सब कहँ अवलंबा॥
लखि बिधि बाम कालु कठिनाई। धीरजु धरहु मातु बलि जाई॥
सिर धरि गुर आयसु अनुसरहू। प्रजा पालि परिजन दुखु हरहू॥

प्रजाहितका इतना ध्यान श्रीराममाताको होना ही चाहिये। माताने रामके वन जाते समय भी कहा था, 'मुझे इस बातका तनिक भी दुःख नहीं है कि रामको राज्यके बदले आज

वन मिल रहा है, मुझे तो इसी बातकी चिन्ता है कि रामके विना महाराज दशरथ, पुत्र भरत, और प्रजाको महान् क्लेश होगा—

राजु देन कहि दीन्ह बनु मोहि न सो दुख लेसु।
तुम्ह बिनु भरतहि भूपतिहि प्रजहि प्रचंड कलेसु॥

कौसल्याकी पुत्रवत्सलता आदर्श है। रामके वनवाससे कौसल्याको प्राणान्त क्लेश है, परन्तु प्यारे पुत्र श्रीरामकी धर्म-रक्षाके लिये कौसल्या उन्हें रोकती नहीं, वरं कहती है—

न शक्यसे वारयितुं गच्छेदानीं रघूत्तम।
शीघ्रं च विनिवर्त्तस्व वर्तस्व च सतां क्रमे॥
यं पालयसि धर्मं त्वं प्रीत्या च नियमेन च।
स वै राघवशार्दूल धर्मस्त्वामभिरक्षतु॥

(वा० रा० २।२५।२-३)

'बेटा! मैं तुझे इस समय वन जानेसे रोक नहीं सकती। तू जा और शीघ्र ही लौटकर आ। सत्पुरुषोंके मार्गका अनुसरण करता रह। तू प्रेम और नियमके साथ जिस धर्मका पालन कर रहा है वह धर्म ही तेरी रक्षा करे।' इस प्रकार धर्मपर दृढ़ रहने और महात्माओंके सन्मार्गका अनुसरण करनेकी शिक्षा देती हुई माता पुत्रकी मङ्गलरक्षा करती है और कहती है—

पितु बनदेव मातु बनदेवी। खग मृग चरन सरोरुह सेवी॥
अंतहुँ उचित नृपहि बनबासू। बय बिलोकि हियँ होइ हरासू॥

कर्तव्यपरायणा धर्मशीला त्यागमूर्ति माता कौसल्या इस प्रकार पुत्रको सहर्ष वनमें भेज देती है। वियोगके दावानलसे हृदय दग्ध

हो रहा है परन्तु पुत्रके धर्मकी टेक और उसकी हर्ष-शोकरहित सुख-दुःख-शून्य आनन्दमयी मञ्जुल मूर्तिकी ओर देख-देखकर अपनेको गौरवान्वित समझती है। यह है सच्चा प्रेम! यहाँ मोहको तनिक भी गुञ्जाइश नहीं। भरतजीके सामने कौसल्या गौरवके साथ प्यारे पुत्र श्रीरामकी प्रशंसा करती हुई कहती है—'बेटा! महाराजने तेरे बड़े भाई रामको राज्यके बदले वनवास दे दिया, परन्तु इससे रामके मुखपर कुछ भी म्लानता नहीं आयी—

पितु आयसु भूषन बसन तात तजे रघुबीर।
बिसमउ हरषु न हृदयँ कछु पहिरे बलकल चीर॥

मुख प्रसन्न मन रंग न रोषू। सबकर सब बिधि करि परितोषू॥
चले बिपिन सुनि सिय सँग लागी। रहइ न राम चरन अनुरागी॥
सुनतहिं लखन चले उठि साथा। रहहिं न जतन किए रघुनाथा॥
तब रघुपति सबही सिरु नाई। चले संग सिय अरु लघु भाई॥

यह सब होनेपर भी माताका हृदय पुत्रका मधुर मुखड़ा देखनेके लिये निरन्तर व्याकुल है। चौदह साल बड़ी ही कठिनतासे श्रीरामके ध्रुव सत्य वचनोंकी आशापर बीतते हैं। लङ्का विजयकर श्रीराम जब अयोध्या लौटते हैं और जब माताको यह समाचार मिलता है, तब यह सुनते ही इस प्रकार दौड़ती है, जैसे गाय बछड़ेके लिये दौड़ा करती है—

कौसल्यादि मातु सब धाई। निरखि बच्छ जनु धेनु लवाई॥
जनु धेनु बालक बच्छ तजि गृहँ चरन बन परबस गईं।
दिन अंत पुर रुख स्रवत थन हुंकार करि धावत भईं॥

बहुत दिनोंके बाद पुत्रका मुख देखकर कौसल्याके प्रेम-समुद्रकी मर्यादा टूट जाती है, वह पुत्रको हृदयसे लगाकर बार-बार सिर

सूंघती है तथा कोमल मस्तक और मुखमण्डलपर हाथ फेरती एवं टकटकी लगाकर देखती हुई मनमें वहुत ही आश्चर्य करती है कि मेरे इस कलके कुसुम-कोमल कमनीय शिशुने रावण-जैसे प्रवल पराक्रमीको कैसे मारा होगा। मेरे राम-लक्ष्मण तो वड़े ही सुकुमार हैं, ये महावली राक्षसोंसे कैसे जीते होंगे ?

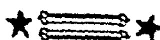
कौसल्या पुनि पुनि रघुवीरहि। चितवति कृपासिंधु रनधीरहि ॥
हृदयँ विचारति वारहिं वारा। कवन भाँति लंकापति मारा ॥
अति सुकुमार जुगल मेरे वारे। निसिचर सुभट महाबल भारे ॥

माता! क्या तुम इस वातको भूल गयीं कि ये तुम्हारे 'सुकुमार वारे वालक' लीलासङ्केतसे ही त्रिभुवनको वनाने-विगाड़नेवाले हैं। इन्हींकी मायासे सव कुछ हो रहा है। ये तो तुम्हारे प्रेमके कारण तुम्हारे यहाँ पुत्ररूपसे प्रकट होकर जगत्का कल्याण करते हुए तुम्हें सुख पहुँचा रहे हैं। माता तुम धन्य हो!

कौसल्याको अपने धर्मपालनका फल मिलता है, उसका शेष जीवन सुखमय वीतता है और अन्तमें वह श्रीरामके द्वारा तत्त्वज्ञान प्राप्तकर—

रामं सदा हृदि ध्यात्वा छित्त्वा संसारवन्धनम्।
अतिक्रम्य गतिस्तिस्रोऽप्यवाप परमां गतिम् ॥

हृदयमें सर्वदा श्रीरामका ध्यान करनेसे संसार-वन्धनको छिन्न कर, सात्त्विक, राजस, तामस तीनों गतियोंको लाँघकर परमपदको प्राप्त हो जाती है!



भक्तमयी सुमित्रा देवी

जो केवल इसीलिये गर्भ-धारण करती हैं और इसीलिये पुत्र-प्रसव करती हैं कि उनका पुत्र माता-पिता, सुख-सम्पत्ति, विलास-यौवन, घर-परिवार, नव-विवाहिता पत्नी—सभीके मोहको तृणवत् त्यागकर स्वेच्छासे ही विराग, तपस्या एवं संयमको स्वीकार करके केवल भगवान्‌की ही सेवा करे, भगवान्‌की सेवा ही जिसके जीवनका एकमात्र लक्ष्य हो और जो भगवान्‌की सेवामें ही अपनेको खपा दे—ऐसी परम सौभाग्यवती लक्ष्मण-शत्रुघ्न-जननी सुमित्रा-सरीखी माताएँ जगत्‌में विरली ही होती हैं। भगवान् श्रीरामचन्द्र जब वन जाने लगे और जब श्रीरामजीके आदेशसे एकमात्र रामको परम वस्तु माननेवाले लक्ष्मणजी माता सुमित्रासे आज्ञा माँगने गये, उस समय उस विशालहृदया यथार्थजननी मङ्गलमयी माताने जो कुछ कहा उसमें भक्ति, प्रीति, त्याग, बलिदान, समर्पण, नारी-जीवनकी सफलता, पुत्रका स्वरूप—सभीका परम श्रेष्ठ सार आ गया है। माताका यह उपदेश यदि जगत्‌की सभी माताओंके लिये आदर्श बन जाय तो यही जगत् वैकुण्ठ बन सकता है। माता सुमित्रा कहती हैं—

तात तुम्हारि मातु बैदेही। पिता रामु सब भाँति सनेही॥
अवध तहाँ जहँ राम निवासू। तहँइँ दिवसु जहँ भानु प्रकासू॥

जौं पै सीय रामु बन जाहीं। अवध तुम्हार काजु कछु नाहीं॥
गुर पितु मातु बंधु सुर साईं। सेइअहिं सकल प्रान की नाईं॥
रामु प्रानप्रिय जीवन जी के। स्वारथ रहित सखा सबही के॥
पूजनीय प्रिय परम जहाँ तें। सब मानिअहिं राम के नातें॥
अस जियँ जानि संग बन जाहू। लेहु तात जग जीवन लाहू॥

भूरि भाग भाजनु भयहु मोहि समेत बलि जाउँ।
जौं तुम्हरें मन छाड़ि छलु कीन्ह राम पद ठाउँ॥

पुत्रवती जुबती जग सोई। रघुपति भगतु जासु सुतु होई॥
नतरु बाँझ भलि बादि बिआनी। राम बिमुख सुत तें हित जानी॥
तुम्हरेहिं भाग रामु बन जाहीं। दूसर हेतु तात कछु नाहीं॥
रागु रोषु इरिषा मदु मोहू। जनि सपनेहुँ इन्ह के बस होहू॥
सकल प्रकार बिकार बिहाई। मन क्रम बचन करेहु सेवकाई॥
तुम्ह कहुँ बन सब भाँति सुपासू। सँग पितु मातु रामु सिय जासू॥
जेहिं न रामु बन लहहिं कलेसू। सुत सोइ करेहु इहइ उपदेसू॥

'बेटा! जानकीजी तुम्हारी माता हैं और सब प्रकारसे स्नेह करनेवाले श्रीरामचन्द्रजी तुम्हारे पिता हैं! जहाँ श्रीरामजीका निवास हो वहीं अयोध्या है। जहाँ सूर्यका प्रकाश हो वहीं दिन है। यदि निश्चय ही सीता-राम वनको जाते हैं तो अयोध्यामें तुम्हारा कुछ भी काम नहीं है। गुरु, पिता, माता, भाई, देवता, स्वामी—इन सबकी सेवा प्राणके समान करनी चाहिये। फिर श्रीरामचन्द्रजी तो प्राणोंके भी प्रिय हैं, हृदयके भी जीवन हैं और सभीके स्वार्थरहित सखा हैं। जगत्में जहाँतक पूजनीय और परम प्रिय लोग हैं, वे सब रामजीके नातेसे ही (पूजनीय और परमप्रिय) मानने योग्य हैं। हृदयमें ऐसा जानकर, बेटा! उनके साथ वन जाओ और जगत्में जीनेका

लाभ उठाओ ! मैं बलिहारी जाती हूँ, (हे पुत्र !) मेरे समेत तुम बड़े ही सौभाग्यके पात्र हुए, जो तुम्हारे चित्तने छल छोड़कर श्रीरामके चरणोंमें स्थान प्राप्त किया है। संसारमें वही युवती स्त्री पुत्रवती है, जिसका पुत्र श्रीरघुनाथजीका भक्त हो। नहीं तो, जो रामसे विमुख पुत्रसे अपना हित मानती है, वह तो बाँझ ही अच्छी। पशुकी भाँति उसका व्याना (पुत्र-प्रसव करना) व्यर्थ ही है। तुम्हारे ही भाग्यसे श्रीरामजी वनको जा रहे हैं। हे तात ! दूसरा कोई कारण नहीं है। सम्पूर्ण पुण्योंका सबसे बड़ा फल यही है कि श्रीसीतारामजीके चरणोंमें स्वाभाविक प्रेम हो। राग, रोष, ईर्ष्या, मद और मोह—इनके वश स्वप्नमें भी मत होना। सब प्रकारके विकारोंका त्याग कर मन, वचन और कर्मसे श्रीसीतारामजीकी सेवा करना। तुमको वनमें सब प्रकारसे आराम है, जिसके साथ श्रीरामजी और सीताजीरूप पिता-माता हैं। पुत्र ! तुम वही करना जिससे श्रीरामचन्द्रजी वनमें क्लेश न पावें, मेरा यही उपदेश है।'

सिद्धान्त तथा उपदेशका उपहास करती हुई माता अन्तमें आशीर्वाद देती हुई कहती हैं—

उपदेसु यहु जेहिं तात तुम्हरे राम सिय सुख पावहीं।
पितु मातु प्रिय परिवार पुर सुख सुरति बन बिसरावहीं॥
तुलसी प्रभुहि सिख देइ आयसु दीन्ह पुनि आसिष दई।
रति होउ अबिरल अमल सिय रघुबीर पद नित नित नई॥

'बेटा ! मेरा यही उपदेश है (अर्थात् तुम वही करना) जिससे वनमें तुम्हारे कारण श्रीरामजी और श्रीसीताजी सुख पावें और पिता, माता, प्रिय परिवार तथा नगरके सुखोंकी याद

भूल जायँ। तुलसीदासजी कहते हैं कि सुमित्राजीने इस प्रकार हमारे प्रभु (श्रीलक्ष्मणजी) को सीख देकर (वन जानेकी) आज्ञा दी और फिर यह आशीर्वाद दिया कि श्रीसीताजी और श्रीरघुवीरजीके चरणोंमें तुम्हारा निर्मल (निष्काम और अनन्य) एवं प्रगाढ़ प्रेम नित नया-नया हो।' माताकी क्या सुन्दर आशीष है। धन्य है!

प्रिय पुत्र लक्ष्मणको रामकी सेवामें भेजकर ही माता निरस्त नहीं हो जाती, जब लक्ष्मणके शक्ति लगने और रण-भूमिमें मूर्च्छित होकर गिर जानेका संवाद मिलता है, तब वे अपनी कोखको सफल हुई मानकर उनका रोम-रोम प्रसन्नतासे खिल उठता है। पर साथ ही यह चिन्ता आ सताती है कि मेरे राम शत्रुओंमें अकेले रह गये—और शत्रुघ्नको वहाँ भेजनेके लिये निश्चय करके कहती हैं—'बेटा! हनुमान्‌के साथ जाओ।' माताका आदेश सुनते ही शत्रुघ्नजी हाथ जोड़कर खड़े हो जाते हैं और शरीरसे पुलकित होकर ऐसे प्रसन्न होते हैं मानों विधाताके विधानसे उनके पूरे दाव पड़ गये हों।

'तात! जाहु कपिसँग', रिपुसूदन उठि कर जोरि खरे हैं।
प्रमुदित पुलकि पैंत पूरे जनु विधिवस सुढर ढरे हैं॥

श्रीहनुमान्‌जीके विनय करने और आश्वासन देनेपर माता मानती हैं।

सचमुच ऐसी ही माता पुत्रवती है और ऐसी मातासे जन्म धारण करनेवाले ही वास्तवमें पुत्र हैं—इन माता-पुत्रोंके चरणोंमें कोटि-कोटि नमस्कार!

होती तो सीताजी भी शायद उर्मिला की भाँति अयोध्यामें रह जातीं ! उर्मिला सीताजीकी छोटी वहिन थीं, परम पतिव्रता वड़ी वहिन सीताजी जैसे अपने स्वामी श्रीराममें अनुरक्ता और उनकी सेवाव्रतधारिणी थीं, वैसे ही उर्मिला भी थीं; वह भी सीताकी भाँति ही साथ जानेके लिये प्रेमाग्रह कर सकती थीं, परन्तु उनके घर रहनेमें ही श्रीरामकाजमें सुविधा थी, जिसमें सेवक वनकर रहना उनके पतिका एकमात्र धर्म था और जिसमें उर्मिला पूर्ण सहमत और सहायक थी। इन्द्रजित् मेघनादको वरदान था कि जो महापुरुष लगातार वारह वर्षतक फल-मूल खायेगा, निद्राका त्याग करेगा और अखण्ड ब्रह्मचर्यका पालन करेगा, उसीके हाथोंसे मेघनादका मरण होगा। इसलिये जैसे रावणवधमें कारण वननेके लिये सीताजीका श्रीराम-लीलामें सहयोगिनी वनकर वन जाना आवश्यक था, वैसे ही लक्ष्मणजीका भी रामलीलामें शामिल होनेके लिये तीव्र महाव्रत-पालनपूर्वक मेघनाद-वधके लिये वन जाना आवश्यक था और ठीक इसी तरह उर्मिलाजीको भी रामलीलाको सुचारुरूपसे सम्पन्न करानेके लिये ही, जो दम्पतिके जीवनका व्रत था, घरपर रहना आवश्यक था। उर्मिलाजी साथ जातीं, तव भी लक्ष्मणजीका महाव्रत पालन होना कठिन था और वे घर पर रहते तव तो कठिन था ही।

यह वात श्रीलक्ष्मणजीने उर्मिलाजीको अवश्य समझा दी होगी या महान् विभूति होनेके कारण वे इस वातको समझती ही होंगी। इसीसे उन्होंने पतिके साथ जानेके लिये एक शब्द भी न कहकर आदर्श पातिव्रत-धर्मका वैसा ही पालन किया,

जैसा श्रीसीताजीने साथ जानेके लिये प्रेमाग्रह करके किया था। घर रहनेमें ही पति श्रीलक्ष्मणजीका सेवाधर्म सम्पन्न होता है, जिन श्रीरामकी सेवाके लिये लक्ष्मणजी अवतीर्ण हुए थे, वह सेवाकार्य इसीमें सफल होता है। यह बात जाननेके बाद आदर्श पतिव्रता देवी उर्मिला कैसे कुछ कह सकती थीं ? वे आजकलकी भाँति भोगकी भूखी तो थीं ही नहीं। पतिकी धर्मरक्षामें सहायक होना ही पत्नीका धर्म है, इस बातको वे खूब समझती थीं और यही उर्मिलाजीने किया।

लोग कहते हैं कि 'लक्ष्मण बड़े निष्ठुर थे, राम तो सीताको साथ ले गये, परन्तु लक्ष्मणने तो उर्मिलासे बाततक नहीं की।' पर वे क्या बात करते, वे इस बातको खूब जानते थे कि मेरा और मेरी पत्नीका एक ही धर्म है। मेरे धर्मपालनमें मद्गतप्राणा कर्तव्यपरायणा प्रेममयी उर्मिलाको सदा ही बड़ा आनन्द है। वह धर्मके लिये सानन्द मेरा विछोह सह सकती है। जनकपुरसे ब्याहकर आनेके बाद बारह वर्षोंमें लक्ष्मणजीकी अनुगामिनी सती उर्मिलाने अपना रामसेवा-धर्म निश्चय कर लिया था, उसी निश्चयके अनुसार पतिको रामसेवामें भेजनेके लिये वीराङ्गना उर्मिला भी उसी प्रकार सम्मत और प्रसन्न थी, जैसे लक्ष्मण-माता वीर-प्रसविनी देवी सुमित्राजी प्रसन्न थीं। धर्मपरायण वीराङ्गनाएँ अपने पति-पुत्रोंको हँसते-हँसते रणाङ्गणमें भेजा ही करती हैं, वैसे ही यहाँ सुमित्रा और उर्मिलाने भी किया। अवश्य ही उर्मिला कुछ बोली नहीं, परन्तु यहाँ न तो बोलनेका अवकाश ही था और न धर्ममें निरय हार्दिक सम्मति होनेके कारण बोलने की आवश्यकता ही थी तथा न मर्यादा ही ऐसी आज्ञा देती थी।

वनवासमें श्रीलक्ष्मणजीके व्रतपालनका महत्त्व देखिये। वे दिन-रात श्रीसीतारामके पास रहते हैं। कन्द-मूल-फल ला देना, पूजाकी सामग्री जुटा देना, आश्रमको झाड़ना-बुहारना, वेदिकापर चौका लगा देना, श्रीसीता-रामको रुचिके अनुसार उनकी हर प्रकारकी सेवा करना और दिन-रात सजग रहकर वीरासनमें बैठे, राममें मन लगाये, राम-नाम जपते हुए पहरा देना उनका कार्य है। वे अपने कार्यमें बड़े ही तत्पर हैं। ब्रह्मचर्यव्रतका पता तो इसीसे लग जाता है कि माता सीताकी सेवामें सदा प्रस्तुत रहनेपर भी उन्होंने उनके चरणोंको छोड़कर अन्य किसी अङ्गका कभी दर्शन नहीं किया। यह बात इसीसे सिद्ध है कि लक्ष्मणजी सीताजीके गहनोंको पहचान नहीं सके। जब रावण श्रीसीताजीको आकाशमार्गमें ले जा रहा था, तब उन्होंने पहाड़पर बैठे हुए वानरोंके दलमें कुछ गहने डाल दिये थे। श्रीराम-लक्ष्मण सीताको खोजते हुए जब हनुमान्‌जीकी प्रेरणासे सुग्रीवके पास पहुँचे, तब सुग्रीवने श्रीरामको वे गहने दिखलाये। श्रीरामके पूछनेपर लक्ष्मणजी बोले—

नाहं जानामि केयूरे नाहं जानामि कुण्डले।
नूपुरे त्वभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात्॥
(वा० रा० ४। ६। २२)

'स्वामिन्! मैं इन केयूर और कुण्डलोंको नहीं पहचानता। मैंने तो प्रतिदिन चरणवन्दनके समय माताजीके नूपुर देखे हैं, अतः उन्हें पहचान सकता हूँ।' आजकलके देवरोंको इससे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। श्रीलक्ष्मणजीके इस महान् व्रतपर श्रीरामका बड़ा भारी विश्वास था, इस बातका पता इसीसे लगता है कि वे

श्रीशत्रुघ्नजी

महामना श्रीशत्रुघ्नजी भगवान् श्रीरामचन्द्र, भरत, लक्ष्मण तीनोंसे छोटे थे। श्रीसुमित्राजीके पुण्यवान् पुत्र थे। इनके सम्बन्धमें रामायणमें जो कुछ वर्णन आया है, उससे यही पता लगता है कि श्रीशत्रुघ्नजी बहुत थोड़ा बोलनेवाले, अत्यन्त तेजस्वी, वीर, सेवापरायण, रामदासानुदास, चुपचाप काम करनेवाले, सच्चे सत्पुरुष थे। श्रीलक्ष्मण और श्रीशत्रुघ्न दोनों ही भाइयोंने अपना जीवन परम पवित्र सेवामें बिताया, परन्तु लक्ष्मणकी सेवासे भी शत्रुघ्नकी सेवाका महत्त्व एक प्रकारसे अधिक है। श्रीलक्ष्मण श्रीरामके सेवक हैं, परन्तु शत्रुघ्न तो श्रीराम-सेवक भरतजीके चरण-सेवक और साथी हैं। छायाकी भाँति उनके साथ रहते और चुपचाप आज्ञानुसार सेवा किया करते हैं। ये बड़े सङ्कोची हैं, अपनी ओरसे कभी किसी कामके बीचमें नहीं बोलते। किसीपर क्रोध नहीं करते, अपनी ओरसे आगे होकर कुछ भी नहीं करते। सेवकोंके सेवकका यही तो धर्म है।

श्रीशत्रुघ्नजीके अपनी ओरसे बोलनेके विशेष अवसर दो मिलते हैं। प्रथम, जब श्रीभरतजी ननिहालसे आकर माता कैकेयीसे मिलते हैं और कैकेयी पापाण-हृदया बनकर महाराज दशरथकी मृत्यु और श्रीराम-लक्ष्मणके वन जानेका विवरण

वर्णन करते अपना दुखड़ा सुनाया और उसे मारनेके लिये प्रार्थना की। दुष्टदर्पहारी शिष्टरक्षक भगवान् श्रीरामने उनकी प्रार्थना स्वीकार की और दरबारमें पूछा कि 'लवणासुरको वध करनेका श्रेय तुमलोगोंमें कौन लेना चाहते हैं ? वहाँकी समृद्धिका अधिकारी कौन होना चाहते हैं। भरत या शत्रुघ्न ?'

श्रीभरतने कहा कि 'मैं लवणासुरका वध कर सकता हूँ' इसपर शत्रुघ्नजीने प्रार्थना की कि 'प्रभो ! श्रीभरतजी बहुत काम कर चुके हैं। आपके वनवासके समय इन्होंने अयोध्याका पालन किया, अनेक प्रकार दुःख सहे, नन्दीग्राममें कुशकी शय्यापर सोये, फल-मूलका आहार किया, जटा रखी, वल्कल पहने, सब कुछ किया। अब मेरी प्रार्थना है कि मेरे रहते इन्हें युद्धके लिये न भेजकर मुझे ही आज्ञा दीजिये।'

शत्रुघ्नजीके इन वचनोंको सुनकर श्रीरामने उनका प्रस्ताव स्वीकार करते हुए कहा—'भाई, तुम्हीं जाकर दैत्यका वध करो, मैं तुम्हें मधुदैत्यके सुन्दर नगरका राजा बनाता हूँ।' श्रीराम जानते थे कि शत्रुघ्न दुष्ट राक्षसका वध करना चाहते हैं, उन्हें राज्यका लोभ नहीं है। इसलिये पहलेसे ही कह दिया कि 'श्रीवशिष्ठ आदि ऋषि मन्त्र और विधिपूर्वक तुम्हारा अभिषेक करेंगे। मैं जो कुछ कहूँ सो तुम्हें स्वीकार करना चाहिये; क्योंकि बालकोंको गुरुजनोंकी आज्ञाका पालन करना ही उचित है।'

इसपर वीर्य-सम्पन्न श्रीशत्रुघ्नजी बड़े ही सङ्कोचमें पड़ कर धीरेसे कहने लगे—'महाराज ! बड़े भाइयोंके रहते राज

कुवेर और इन्द्रके समान, सत्यप्रतिज्ञ एवं धर्म, अर्थ तथा कामका शास्त्रानुसार पालन करनेवाले थे।

(वा० रा० १।६।१ से ५ तक)

इनके मन्त्रिमण्डलमें महामुनि वशिष्ठ, वामदेव, सुयज्ञ, जावालि, काश्यप, गौतम, मार्कण्डेय, कात्यायन, धृष्टि, जयन्त, विजय, सुराष्ट्र, राष्ट्रवर्धन, अकोप और धर्मपाल आदि विद्याविनय सम्पन्न, अनीतिमें लजानेवाले, कार्यकुशल, जितेन्द्रिय, श्रीसम्पन्न, पवित्र-हृदय, शास्त्रज्ञ, शस्त्रज्ञ, प्रतापी, पराक्रमी, राजनीतिविशारद, सावधान, राजाज्ञाका अनुसरण करनेवाले, तेजस्वी, क्षमावान्, कीर्तिमान्, हँसमुख, काम-क्रोध और लोभसे वचे हुए एवं सत्यवादी पुरुषप्रवर विद्यमान थे।

(वा० रा० १।७)

आदर्श राजा और मन्त्रिमण्डलके प्रभावसे प्रजा सब प्रकारसे धर्मरत, सुखी और सम्पन्न थी। महाराज दशरथकी सहायता देवतालोग भी चाहते थे। महाराज दशरथने अनेक यज्ञ किये थे। अन्तमें पितृ-मातृ-भक्त श्रवणकुमारके वधका प्रायश्चित्त करनेके लिये अश्वमेध तदनन्तर ज्योतिष्टोम, आयुष्टोम, अतिरात्र, अभिजित्, विश्वजित् और आप्तोर्याम आदि यज्ञ किये। इन यज्ञोंमें दशरथने अन्यान्य वस्तुओंके अतिरिक्त दस लाख दुग्धवती गायें, दस करोड़ सोनेकी मुहरें और चालीस करोड़ चाँदीके रुपये दान दिये थे।

इसके वाद पुत्रप्राप्तिके लिये ऋष्यशृङ्गको ऋत्विज वनाकर राजाने पुत्रेष्टि यज्ञ किया, जिसमें समस्त देवतागण अपना-अपना भाग लेनेके लिये स्वयं पधारे थे। देवता और

मुनि-ऋषियोंकी प्रार्थनापर भगवान् श्रीविष्णुने दशरथके यहाँ पुत्ररूपसे अवतार लेना स्वीकार किया और यज्ञपुरुषने स्वयं प्रकट होकर पायसान्नसे भरा हुआ सुवर्ण-पात्र देते हुए दशरथ-से कहा कि 'राजन् ! यह खीर अत्यन्त श्रेष्ठ, आरोग्यवर्धक और प्रजाकी उत्पत्ति करनेवाली है। इसको अपनी कौसल्या आदि तीनों रानियोंको खिला दो' राजाने प्रसन्न होकर मर्यादा-के अनुसार कौसल्याको बड़ी समझकर उसे खीरका आधा भाग, मझली सुमित्राको चौथाई भाग और कैकयीको आठवाँ भाग दिया। सुमित्राजी बड़ी थी, इससे उनको सम्मानार्थ अधिक देना उचित था, इसीलिये बचा हुआ अष्टमांश राजाने फिर सुमित्राजीको दे दिया, जिससे कौसल्याके श्रीराम, सुमित्राके (दो भागोंसे) लक्ष्मण और शत्रुघ्न एवं कैकयीके भरत हुए। इस प्रकार भगवान्ने चार रूपोंसे अवतार लिया।

राजाको चारों ही पुत्र परमप्रिय थे, परन्तु इन सबमें श्रीरामपर राजाका विशेष प्रेम था। होना ही चाहिये; क्योंकि इन्हींके लिये तो जन्म-धारणकर सहस्रों वर्ष प्रतीक्षा की गयी थी। वे रामका अपनी आँखोंसे क्षणभरके लिये भी ओझल होना नहीं सह सकते थे। जब विश्वामित्रजी यज्ञरक्षार्थ श्रीराम-लक्ष्मणको माँगने आये, उस समय श्रीरामकी उम्र पन्द्रह वर्षसे अधिक थी, परन्तु दशरथने उनको अपने पाससे हटाकर विश्वा-मित्रके साथ भेजनेमें बड़ी आनाकानी की। आखिर वशिष्ठके बहुत समझानेपर वे तैयार हुए। श्रीरामपर अत्यन्त प्रेम होनेका परिचय तो इसीसे मिलता है कि जबतक श्रीराम सामने रहे, तब तक प्राणोंको रक्खा और अपने वचन सत्य करनेके लिये,

(९) श्रीहनुमान्‌जीकी निष्काम-प्रेमाभक्ति।
(१०) श्रीविभीषणजीकी शरणागति और अभय-प्राप्ति।
(११) सुग्रीवके साथ श्रीरामकी आदर्श मित्रता।
(१२) रावणादि अत्याचारियोंका अन्तमें विनाश।

यदि भगवान् श्रीरामको वनवास न होता, तो इन आदर्श मर्यादाओंकी स्थापनाका अवसर ही शायद न आता। ये सभी मर्यादाएँ महान् और अनुकरणीय हैं।

जो कुछ भी हो, महाराज दशरथने तो श्रीरामका वियोग होते ही अपनी जीवन-लीला समाप्त कर प्रेमकी टेक रख ली।

जिअन मरन फलु दसरथ पावा। अंड अनेक अमल जसु छावा॥
जिअत राम बिधु बदनु निहारा। राम बिरह करि मरनु सँवारा॥

श्रीदशरथजीकी मृत्यु सुधर गयी, रामके विरहमें प्राण देकर उन्होंने आदर्श स्थापित कर दिया। दशरथके समान भाग्यवान् कौन होगा, जिसने श्रीराम-दर्शन-लालसामें अनन्य भावसे राम-परायण हो, रामके लिये, राम-राम पुकारते हुए प्राणोंका त्याग किया!

श्रीरामायणमें लङ्का-विजयके बाद पुनः दशरथके दर्शन होते हैं। श्रीमहादेवजी भगवान् श्रीरामको विमानपर बैठे हुए दशरथजीके दर्शन कराते हैं। फिर तो दशरथ सामने आकर श्रीरामको गोदमें बैठा लेते हैं और आलिङ्गन करते हुए उनसे प्रेमालाप करते हैं। यहाँ लक्ष्मणको उपदेश करते हुए महाराज दशरथ स्पष्ट कहते हैं कि 'हे सुमित्रा-सुखवर्धन लक्ष्मण! श्रीरामकी सेवामें लगे रहना, तेरा इससे बड़ा कल्याण होगा। इन्द्रसहित तीनों लोक, सिद्ध पुरुष और सभी महान् ऋषि-मुनि

मन लगाकर 'राम राम' कीर्तन करते हुए प्राण-त्याग करनेवाला मुक्त हो जाता है। सच तो यह है कि विना मन लगाये भी श्रीरामनामका अन्तकालमें उच्चारण हो जानेसे ही जीव मुक्तिका अधिकारी हो जाता है, इसीसे सन्तोंने अन्तमें श्रीरामनामको दुर्लभ बताया है—

जनम जनम मुनि जतन कराहीं। अंत राम कहि आवत नाहीं॥

परन्तु मुक्ति होती वैसी ही है, जैसी वह चाहता है। 'तो क्या मुक्ति भी कई प्रकारकी हैं? यदि कई प्रकारकी मुक्ति है तो फिर मुक्तिका महत्त्व ही क्या रह गया?' इस प्रश्नका उत्तर यह है कि 'तत्त्वबोधरूप' मुक्ति तो एक ही है, परन्तु केवल तत्त्वबोध होकर 'सायुज्य' मुक्ति भी हो सकती है, जिसमें जीवकी भिन्न सत्ता यथार्थ स्व-स्वरूप परमात्म-सत्तामें अभिन्नरूपसे विलीन हो जाती है। और तत्त्वका पूरा बोध होनेके साथ-ही-साथ सगुण, साकार, सौन्दर्य और माधुर्यकी पराकाष्ठा अनूप-रूप भगवत्स्वरूपमें परम प्रेम होनेके कारण वह मुक्त पुरुष (सायुज्य मुक्तिरूपी धनका स्वामी होनेपर भी) भगवान्‌की सामीप्य, सालोक्य, सार्ष्टि और सारूप्य-मुक्तिका रसमय सुख भोगता है। केवल तत्त्वबोधद्वारा प्राणोंका उत्क्रमण न होकर परमात्मामें मिल जाना, यह अभेद मुक्ति, और अभेद ज्ञानपूर्वक साकार ईश्वरके सेवार्थ व्यवहारमें भेद रहना, यह चतुर्विध भेदमुक्ति, ये दोनों वास्तवमें एक ही मुक्तिके दो स्वरूप हैं। परन्तु शुद्ध प्रेमी भक्त इन दोनों प्रकारकी मुक्तियोंसे भी अलग रहकर केवल भगवत्सेवामें लगा रहता है और जैसे भगवान् नित्य, मुक्त, अज, अविनाशी होते हुए भी लीलामें—

र-शरीर धारण करके विविध कर्म करते हैं, ऐसे ही वह भी उन्हींका अनुसरण करता हुआ उन्हींकी भाँति भगवान्-विल लीलामें लीलासे ही लगा रहता है। वह मुक्ति नहीं ता। अतएव जब उसे भगवदिच्छासे, भगवदर्थ, भगवदाज्ञा-र निर्लेपभावसे एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जाना पड़ता है, वह भगवत्स्मरण और भगवन्नाम-गुण-कीर्तन करता हुआ ही ाता है। दूसरा काम तो उसको कोई रहता ही नहीं; क्योंकि उसकी स्थिति दृढ़ अनन्य विशुद्ध प्रेमभावसे प्रेममय परमात्मामें हो रहती है। इतना होनेपर भी उपर्युक्त कारणसे ऐसे भक्तकी अभेद मुक्ति नही होती। इसीलिये भगवान् शिवजी जगज्जननी उमासे दशरथजीके सम्बन्धमें कहते हैं—

ता तें उमा मोच्छ नहिं पावा। दसरथ भेदभगति मन लावा॥
सगुन उपासक मोच्छ न लेहीं। तिन्ह कहँ रामु भगति निज देहीं॥

अतएव यह नहीं समझना चाहिये कि अन्तमें श्रीराम-नामका जप-कीर्तन करनेसे और श्रीराममें मन लगानेसे मुक्ति नहीं होती और इसी कारण दशरथजीकी भी मुक्ति नहीं हुई। समझना यह चाहिये कि दशरथजीको उस मुक्तिकी कोई परवा नहीं थी। वे तो रामरसके रसिक थे। इसीलिये उस रसके सामने उन्होंने मोक्षका भी जान-बूझकर ही संन्यास कर दिया। ऐसे मोक्ष-संन्यासी प्रेमी भक्तोंकी चरण-सेवाके लिये मुक्ति पीछे-पीछे घूमा करती है। भगवान्‌ने तो अपने श्रीमुखसे यहाँ तक कह डाला है—

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।

न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत् ॥
न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शङ्करः ।
न च सङ्कर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान् ॥
निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम् ।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः ॥

(श्रीमद्भा० ११ । १४ । १४-१६)

'जिस मेरे भक्तने अपना आत्मा मुझको अर्पण कर दिया है, वह मुझको छोड़कर ब्रह्माका पद, इन्द्रका पद, चक्रवर्ती राजाका पद, पातालका राज्य, योगकी सिद्धियाँ और मोक्ष भी नहीं चाहता । उद्धवजी ! मुझे आत्मस्वरूप शिवजी, सङ्कर्षण, प्रिया लक्ष्मीजी और अपना स्वरूप भी उतने प्रिय नहीं हैं, जितने तुम-जैसे अनन्य भक्त प्रिय हैं । ऐसे निरपेक्ष, मननशील, शान्त निर्वैर और समदर्शी भक्तोंकी चरण-रजसे अपनेको पवित्र करनेके लिये मैं उनके पीछे-पीछे सदा फिरता हूँ ।' कैसी महिमा है !

यद्यपि भक्त अपने भगवान्‌को पीछे-पीछे फिरानेके लिये मुक्तिका तिरस्कार कर उन्हें नहीं भजते, उनका तो भगवान्‌के प्रति ऐसा अहैतुक प्रेम हो जाता है कि वे भगवान्‌के सिवा दूसरी ओर ताकना ही नहीं जानते । बस, यह अहैतुक प्रेम ही परम पुरुषार्थ है, यह जानकर वे मुक्तिका निरादर कर भक्ति करते हैं ।

अस बिचारि हरि भगत सयाने । मुक्ति निरादर भगति लुभाने ॥

क्योंकि भगवान्‌के गुण ही ऐसे हैं—जिनको देखकर निर्ग्रन्थ आत्माराम मुनियोंको भी उनकी अहैतुकी भक्ति करनी पड़ती है ।

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः ॥

श्रीरामकी पुनः लंका-यात्रा और सेतु-भंग

एक समय भगवान् श्रीरामको राक्षसराज विभीषणका स्मरण हो आया। उन्होंने सोचा कि 'विभीषण धर्मपूर्वक शासन कर रहा है कि नहीं। देव-विरोधी व्यवहार ही राजाके विनाशका सूत्र है। मैं विभीषणको लङ्काका राज्य दे आया हूं, अब जाकर उसे सम्हालना भी चाहिये। कहीं राज्यमदसे उससे अधर्माचरण तो नहीं हो रहा है। अतएव मैं स्वयं लङ्का जाकर उसे देखूंगा और हितकर उपदेश दूंगा, जिससे उसका राज्य अनन्तकालतक स्थायी रहेगा।' श्रीराम यों विचार कर ही रहे थे कि भरतजी आ पहुँचे। भरतजीके नम्रतासे पूछनेपर श्रीरामने कहा—'भाई! तुमसे मेरा कुछ भी गोपनीय नहीं है, तुम और यशस्वी लक्ष्मण मेरे प्राण हो। मैंने निश्चय किया है कि मैं लङ्का जाकर विभीषणसे मिलूं, उसकी राज्य-पद्धति देखूं और उसे कर्तव्यका उपदेश दूं।' भरतने कभी लङ्का नहीं देखी थी, इससे उन्होंने भी साथ चलनेकी इच्छा प्रकट की। श्रीरामने स्वीकार कर लिया और लक्ष्मणको सारा राज्यभार सौंपकर दोनों भाई पुष्पक विमानपर चढ़ लङ्काके लिये विदा हुए। पहले भरतके दोनों पुत्रोंकी राजधानीमें जाकर उनसे मिले और उनके कार्यका निरीक्षण किया, तदनन्तर लक्ष्मणके पुत्रोंकी राजधानीमें गये और वहाँ छः दिन ठहरकर सब कुछ देखा-भाला। इसके बाद भरद्वाज और अत्रिके आश्रमोंको गये। फिर आगे चलकर श्रीरामने चलते हुए विमानपरसे वे सब स्थान दिखलाये जहाँ

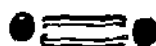
श्रीसीताजीका हरण हुआ था, जटायुकी मृत्यु हुई थी, कवन्धको मारा था और बालिका वध किया था। तत्पश्चात् किष्किन्धा-पुरीमें जाकर राजा सुग्रीवसे मिले। सुग्रीवने राजघरानेके सब स्त्री-पुरुषों, नगरोंके समस्त नर-नारियोंसमेत श्रीराम और भरतका बड़ा भारी स्वागत किया। फिर सुग्रीवको साथ लेकर विमानपरसे भरतको विभिन्न स्थान दिखलाते और उनकी कथा सुनाते हुए लङ्कामें जा पहुँचे, विभीषणको दूतोंने यह शुभ समाचार सुनाया। श्रीरामके लङ्का पधारनेका संवाद सुनकर विभीषणको बड़ी प्रसन्नता हुई। सारा नगर बात-की-बातमें सजाया गया और अपने मन्त्रियोंको साथ लेकर विभीषण अगवानीके लिये चले। सुमेरुस्थित सूर्यकी भाँति विमानस्थ श्रीरामको देखकर साष्टाङ्ग प्रणामपूर्वक विभीषणने कहा—'प्रभो! आज मेरा जन्म सफल हो गया, आज मेरे सारे मनोरथ सिद्ध हो गये; क्योंकि आज मैं जगद्वन्द्य अनिन्द्य आप दोनों स्वामियोंके चरण-दर्शन कर रहा हूँ। आज स्वर्गवासी देवगण भी मेरे भाग्यकी श्लाघा कर रहे हैं। मैं आज अपनेको त्रिदश-पति इन्द्रकी अपेक्षा भी श्रेष्ठ समझ रहा हूँ।' सर्वरत्नसुशोभित उज्ज्वल भवनमें महोत्तम सिंहासनपर श्रीराम विराजे। विभीषण अर्घ्य देकर हाथ जोड़ भरत और सुग्रीवकी स्तुति करने लगे। लङ्कानिवासी प्रजाकी रामदर्शनार्थ भीड़ लग गयी। प्रजाने विभीषणको कहलाया—'प्रभो! हमको उस अनोखी रूप-माधुरी-को देखे बहुत दिन हो गये। युद्धके समय हम सब देख भी नहीं पाये थे। आज हम दीनोंपर दया कर हमारा हित करनेके लिये करुणामय हमारे घर पधारे हैं। अतएव शीघ्र ही हम लोगोंको

उनके दर्शन कराइये ।' विभीषणने श्रीरामसे पूछा और दयामयकी आज्ञा पाकर प्रजाके लिये द्वार खोल दिये । लङ्काके नर-नारी श्रीराम-भरतकी झाँकी देखकर पवित्र और मुग्ध हो गये । यों तीन दिन वीत गये । चौथे दिन रावणकी माता कैकसीने विभीषणको वुलाकर कहा—'बेटा ! मैं भी श्रीरामके दर्शन करूँगी । उनके दर्शनसे महामुनिगण भी महापुण्यके भागी होते हैं। श्रीराम साक्षात् सनातन विष्णु हैं, वे ही यहाँ चार रूपोंमें अवतीर्ण हैं । सीताजी स्वयं लक्ष्मी हैं । तेरे भाई रावणने यह रहस्य नहीं जाना । तेरे पिताजीने कहा था कि रावणको मारनेके लिये भगवान् विष्णु रघुवंशमें दशरथके यहाँ प्रादुर्भूत होंगे ।' विभीषणने कहा—'माता ! आप नये वस्त्र पहनकर कञ्चनथालमें चन्दन, मधु, अक्षत, दधि, दूर्वाका अर्घ्य सजाकर भगवान् श्रीरामके दर्शन करें । सरमा (विभीषण-पत्नी) को आगे कर और अन्यान्य देवकन्याओंको साथ लेकर आप श्रीरामके समीप जायँ । मैं पहले ही वहाँ चला जाता हूँ ।'

विभीषणने श्रीरामके पास जाकर वहाँसे सब लोगोंको हटा दिया और श्रीरामसे कहा—'देव ! रावणकी, कुम्भकर्णकी और मेरी माता कैकसी आपके चरणकमलोंके दर्शनार्थ आ रही हैं, आप कृपापूर्वक उन्हें दर्शन देकर कृतार्थ करें ।' श्रीरामने कहा—'भाई ! तुम्हारी माँ तो मेरी 'माँ' ही है । मैं ही उनके पास चलता हूँ, तुम जाकर उनसे कह दो ।' इतना कहकर विभु श्रीराम उठकर चले और कैकसीको देखकर मस्तकसे उसे प्रणाम किया तथा वोले—'आप मेरी धर्ममाता हैं, मैं आपको प्रणाम करता हूँ । अनेक पुण्य और महान् तपके प्रभावसे ही

मनुष्यको आपके (विभीषण-सदृश भक्तोंकी जननीके) चरण-दर्शनका सौभाग्य मिलता है। आज मुझे आपके दर्शनसे बड़ी प्रसन्नता हुई। जैसे श्रीकौसल्याजी हैं, वैसे ही मेरे लिये आप हैं।' बदलेमें कैकसीने मातृभावसे आशीर्वाद दिया और भगवान् श्रीरामको विश्वपति जानकर उनकी स्तुति की। इसके बाद 'सरमा' ने भगवान्‌की स्तुति की। भरतको सरमाका परिचय जाननेकी इच्छा हुई, उनके सङ्केतको समझकर 'इङ्गितविद्' श्रीरामने भरतसे कहा—'ये विभीषणकी साध्वी भार्या हैं, इनका नाम सरमा है। ये महाभागा सीताकी प्रिय सखी हैं और इनकी सखिता बहुत दृढ़ है।' इसके बाद सरमाको समयोचित उपदेश दिया। फिर विभीषणको विविध उपदेश देकर कहा—'निष्पाप! देवताओंका प्रियकार्य करना, उनका अपराध कभी न करना। लङ्कामें कभी मनुष्य आयें तो उनका कोई राक्षस वध न करने पाये।' विभीषणने आज्ञानुसार चलना स्वीकार किया।

तदनन्तर वापस लौटनेके लिये सुग्रीव और भरतसहित श्रीराम विमानपर चढ़े। तब विभीषणने कहा—'प्रभो! यदि लङ्काका पुल ज्यों-का-त्यों बना रहेगा तो पृथ्वीके सभी लोग यहाँ आकर हमलोगोंको तङ्ग करेंगे, इसलिये क्या करना चाहिये।' भगवान्‌ने विभीषणकी बात सुनकर पुलको बीचमें तोड़ डाला और दस योजनके बीचके टुकड़ेके फिर तीन टुकड़े कर दिये। तदनन्तर उस एक-एक टुकड़ेके फिर छोटे-छोटे टुकड़े कर डाले, जिससे पुल टूट गया और यों लङ्कासे भारतका मार्ग पुनः विच्छिन्न हो गया। यह कथा [illegible] ली गयी है।



स्वामीके वचन कैसे रहेंगे और यदि नहीं दिया जायगा तो रावणको सन्तोष कैसे होगा ?' भगवान् श्रीराम सुग्रीवका आशय समझकर हँसते हुए कहते हैं—'मित्र ! रामका व्रत यही है कि वह जो कुछ एक बार कह देता है उसे पलटता नहीं। लङ्का तो विभीषणकी ही होगी, यदि रावण आयेगा तो उसके लिये अवध तैयार है—

बात कही जो कही सो कही,
जो कही सो कही फिरि फेरि न आनन ।
जो दसकंधर आन मिलै,
गढ़ लंक विभीषन, अवध दसानन ।।
मरतहिं बंधु समेत कलाप,
करूँ निज वास मैं हौं गिरि कानन ।
पै नहिं पावहिं लंक अवास,
कहौ सतिभाव नरेस दसानन ।।

रावण शरण नहीं आया, उसने तो श्रीरामके हाथसे मरनेमें ही अपना सौभाग्य समझा और यही उसके लिये उचित था। विभीषणको जो एक वार भगवान्ने अपना लिया तो फिर कभी उनको नहीं भुलाया। आप उनकी सदा सुधि लेते रहे और उन्हें विपत्तियोंसे बचाते रहे।

श्रीराम-रावणका भीषण युद्ध हो रहा है, रावण बहुत क्रुद्ध होकर इतने बाण छोड़ता है कि श्रीरामका रथ एक घड़ीके लिये वैसे ही ढक जाता है जैसे कुहरेसे सूर्य। इसके बाद रावण एक शूल विभीषण पर छोड़ता है, इस शूलके लगते ही विभीषणका मरण निश्चित है; क्योंकि यह अमोघ है। भगवान् श्रीराम इस रहस्यको जानते थे। शक्ति छूटते ही श्रीरामने अपना विरद सम्हाला—

आवत देखि सक्ति अति घोरा। प्रनतारति भंजन पन मोरा॥
तुरत बिभीषन पाछें मेला। सन्मुख राम सहेउ सोइ सेला॥

शरणागतकी आर्तिका नाश करनेवाले श्रीराम शरणागत भक्तका अनिष्ट कैसे देख सकते थे ? जो सब ओरसे ममता हटाकर श्रीरामके चरणोंको ही ममताका एकमात्र केन्द्र बना लेता है और अपने-आपको सर्वतोभावेन उनके प्रति अर्पण कर देता है, उसके रक्षणावेक्षणका सारा भार, योगक्षेमकी सारी जिम्मेवारी भगवान् अपने ऊपर ले लेते हैं। इसलिये भगवान् उसी क्षण विभीषणको पीछे ढकेलकर भीषण शूलका प्रहार सहनेके लिये छाती सामने करके स्वयं खड़े हो गये। धन्य नाथ ! ऐसे शरणागतवत्सल श्रीरामको भूल कर जो आपात-रमणीय भोगोंमें रमते हैं, उनके समान दयनीय और कौन होगा ?

एक घटना और सुनिये। एक समय श्रीरामको मुनियोंके द्वारा यह समाचार मिलता है कि लङ्कापति विभीषण द्रविड़ देशमें कैद हैं। भगवान् श्रीराम अब नहीं ठहर सके, वे विभीषणका पता लगाने और उन्हें छुड़ानेके लिये निकल पड़े। खोजते-खोजते विप्रघोष नामक गाँवमें पहुँचे, विभीषण वहीं कैद थे। वहाँके लोगोंने श्रीरामको दिखलाया कि विभीषण जमीनके अन्दर एक कोठरीमें जञ्जीरोंसे बँधे पड़े हैं। श्रीरामके पूछनेपर ब्राह्मणोंने कहा—'राजन् ! विभीषणने ब्रह्महत्या की थी, एक अति धार्मिक वृद्ध ब्राह्मण निर्जन उपवनमें तप कर रहा था, विभीषणने वहाँ जाकर उसे पददलित करके मार डाला। ब्राह्मणकी मृत्यु होते ही विभीषणके पैर वहीं रुक गये, वह एक

कदम भी आगे नही बढ़ सका, ब्रह्महत्याके पापसे उसकी चाल बन्द हो गयी। हमलोगोंने इस दुष्ट राक्षसको बहुत मारा-पीटा, परन्तु इस पापीके प्राण किसी प्रकार नहीं निकले। अब हे श्रीराम! आप पधार गये है, आप चक्रवर्ती राजराजेश्वर हैं। इस पापात्माका वध करके धर्मकी रक्षा कीजिये।' यह सुनकर श्रीराम असमञ्जसमें पड गये। एक ओर विभीषणका भारी अपराध है, और दूसरी ओर विभीषण श्रीरामका ही एक सेवक है। यहाँपर श्रीरामने ब्राह्मणोंसे जो कुछ कहा वह बहुत ही ध्यान देने योग्य है। शरणागत भक्तके लिये भगवान् कहाँतक करनेको तैयार रहते है, इस बातका पता भगवान्के शब्दोंसे ही लग जायगा। भगवान् श्रीराम स्वय अपराधीकी तरह नम्रतासे कहने लगे—

वरं ममैव मरण मद्भक्तो हन्यते कथम्।
राज्यमायुर्मया दत्तं तथैव स भविष्यति॥
भृत्यापराधे सर्वत्र स्वामिनो दण्ड इष्यते।
रामवाक्यं द्विजाः श्रुत्वा विस्मयादिदमब्रुवन्॥

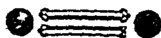
(पद्मपुराण, पातालखण्ड)

'हे द्विजवरो! विभीषणको तो मैं अखण्ड राज्य और आयु दे चुका, वह तो मर नही सकता। फिर उसके मरनेकी ही क्या जरूरत है? वह तो मेरा भक्त है, भक्तके लिये मैं स्वय मर सकता हूँ। सेवकके अपराधकी जिम्मेवारी तो वास्तवमें स्वामीपर ही होती है। नौकरके दोषसे स्वामी ही दण्डका पात्र होता है, अतएव विभीषणके बदले आपलोग मुझे दण्ड दीजिये।' श्रीरामके मुखसे ऐसे वचन सुनकर ब्राह्मण-मण्डली आश्चर्यमें डूब

गयी। जिसको श्रीरामसे दण्ड दिलवाना चाहते थे, वह तो श्रीरामका सेवक है और सेवकके लिये उसके स्वामी श्रीराम ही दण्ड ग्रहण करना चाहते हैं। अहाहा ! स्वामी हो तो ऐसा हो। भ्रान्त मनुष्यो ! ऐसे स्वामीको विसारकर अन्य किस साधनसे सुखी होना चाहते हो ?

तुलसी राम सुभाव सील लखि जौं न भगति उर आई।
तो तोहि जनमि जाइ जननी जड़ तन तरुनता गँवाई ॥

ब्राह्मण उसे दण्ड देना भूल गये। श्रीरामके मुखसे ऐसे वचन सुनकर ब्राह्मणोंको यह चिन्ता हो गयी कि विभीषण जल्दी छूट जाय और अपने घर जा सके तो अच्छी बात है। वे विभीषणको छोड़ तो सकते थे परन्तु छोड़नेसे क्या होता, ब्रह्महत्याके पापसे उसकी तो गति रुकी हुई थी। अतएव ब्राह्मणोंने कहा—'राम ! इस प्रकार विभीषणको बन्धनमें रखना उचित नहीं है। आप वशिष्ठ-प्रभृति मुनियों की रायसे इसे छुड़ानेका प्रयत्न कीजिये।' अनन्तर श्रीरामने प्रधान-प्रधान मुनियोंसे पूछकर विभीषणके लिये तीन सौ साठ गोदानका प्रायश्चित वतलाकर उसे छुड़ा लिया। प्रायश्चित्तद्वारा विशुद्ध होकर जब विभीषण भगवान् श्रीरामके सामने आकर सादर प्रणाम करने लगे तब श्रीरामने उन्हें सभामें ले जाकर हँसते हुए यह शिक्षा दी, 'ऐसा कार्य कभी नहीं करना चाहिये। जिसमें अपना हित हो, वही कार्य करना चाहिये। राक्षसराज ! तुम मेरे सेवक हो, अतएव तुम्हें साधुशील होना चाहिये, सर्वत्र दयालु रहना चाहिये।' सारांश, ऐसा कोई कार्य भक्तको नहीं करना चाहिये, जिससे उसके स्वामी भगवान्‌पर लाञ्छन आवे !



श्रीरामका राजधर्मोपदेश

त्यागमूर्ति धर्मात्मा भरतजी चित्रकूटमें श्रीरामजीके चरणोंपर पड़े हैं, आँसुओंसे उनके चरण धो रहे हैं, भरतका वेश तपस्वियोंका-सा है, अत्यन्त शोकके कारण थोड़े ही दिनोंमें उनका शरीर सूखकर काँटा हो गया है। श्रीरामने प्रेमसे उठाकर भरतको हृदयसे लगा उनका मस्तक सूँघा और गोदमें बैठाकर बड़े प्यारसे उनकी इस दशाका कारण पूछा। पहले तो पिताजीके सम्बन्धमें प्रश्न किये, फिर वे राज-धर्मके विषयमें पूछने लगे। श्रीरामजीके प्रश्नोंसे ही यह स्पष्ट हो जाता है कि राजधर्मका क्या स्वरूप है और उस समय राजधर्म कैसा था? श्रीरामजीने भरतको विषादमय देखकर कहा--

'हे सौम्य! तुम अभी बालकके समान हो, तुम्हारे हाथसे कहीं राज्य तो नष्ट नहीं हो गया? हे सत्य पराक्रम! तुम पिताजीकी सेवा तो करते हो न? भाई! इक्ष्वाकु-कुलके आचार्य, धर्मप्रेमी, विद्वान्, महातेजस्वी महर्षि वशिष्ठजीकी पूजा तो करते हो न? माता कौसल्या, सुपुत्र उत्पन्न करनेवाली सुमित्रा और आर्या देवी कैकेयी तो तुमसे प्रसन्न है न? विनयी, सर्वशास्त्रज्ञ, कर्मकाण्ड-निपुण, असूयारहित, कुलगुरु वशिष्ठजीके पुत्र, जो तुम्हारे पुरोहित हैं, उनका भलीभाँति सत्कार करते हो न? बड़े बुद्धिमान्, वेदविधिके ज्ञाता, अत्यन्त विनयी, गुरुपुत्र सुयज्ञ, जिनको तुमने अग्निकार्यके लिये नियुक्ति की है, हवनके पूर्व और हवनके पश्चात् तुम्हे उसकी सूचना तो देते हैं न? तुम देवता, गुरुजन, पितर, पिताके समान पूज्य बड़े-बूढ़े लोग,

वैद्य, ब्राह्मण और नौकरोंका यथायोग्य सत्कार तो करते हो न ? इसी प्रकार शस्त्रास्त्रके प्रयोग जाननेवाले, अर्थ-शास्त्रके विद्वान्, राजनीतिविशारद, धनुर्वेदके ज्ञाता सुधन्वा पण्डित आदि सत्पुरुष तुम्हारे द्वारा आदर तो पाते हैं न ? तुमने अपने समान विश्वासी, शूर, विद्वान्, जितेन्द्रिय, कुलीन और ऊपरकी चेष्टासे ही मनके भावको समझ जानेवाले लोगोंको तो अपना मन्त्री बनाया है न ? क्योंकि शास्त्रज्ञ और मन्त्रकी रक्षा कर सकनेवाले मन्त्रियोंके द्वारा सुरक्षित मन्त्र ही राजाओंकी विजयका मूल कारण है ।

'तुम जागनेके समय सोते तो नहीं हो ? रातके पिछले पहर उठकर अपने कार्योंकी सिद्धिका उपाय तो सोचते हो न ? अकेले ही तो किसी बातका मनमाना निश्चय नहीं कर लेते ? अथवा बहुत-से अयोग्य आदमियोंके साथ मिलकर तो निश्चय नहीं करना चाहते ? तुम्हारे स्थिर किये हुए विचारका काम पूरा होनेके पहले ही लोगोंको पता तो नहीं लग जाता ? थोड़े प्रयत्नसे बड़ा फल उत्पन्न करनेवाला उपाय निश्चय कर लेनेपर फिर उसके अनुसार कार्य करनेमें विलम्ब तो नहीं करते ? तुम्हारे सामन्त राजा तुम्हारे किसी विचारको कार्यके सिद्ध होने या सिद्धिके समीप पहुँचनेके पहले ही जान तो नहीं लेते ? तुम्हारे निश्चित विषयोंको तुम्हारेद्वारा या मन्त्रियोंद्वारा कहे जानेसे पूर्व ही अनुमान, तर्क, युक्ति आदिके द्वारा कोई जान तो नहीं लेता ? परन्तु तुम और तुम्हारे मन्त्रीगण दूसरोंके निश्चय किये हुए विषयोंको अनुमान, युक्ति और तर्कके द्वारा जान तो लेते हो न ? हजारों मूर्खोंकी अपेक्षा एक पण्डितको तुम अपने

पास रखना अच्छा समझते हो न ? क्योंकि सङ्कटके समय पण्डित ही उत्तमोत्तम उपाय सोचकर राजाका महान् कल्याण करता है। राजा चाहे हजारों-लाखों मूर्खोंको अपने पास रक्खे, उनसे समयपर कोई सहायता नहीं मिलती; पक्षान्तरमें एक ही बुद्धिमान्, शूरवीर, दक्ष, विचक्षण मन्त्री राजा या राजपुत्रको विशाल समृद्धिकी प्राप्ति करवा सकता है। तुम उत्तम सेवकोंको उत्तम कार्यपर, मध्यमको मध्यम कार्यपर और छोटे सेवकोंको छोटे कामपर यानी जिसके योग्य जो काम हो, उसको उसी कामपर नियुक्त करके सबकी ठीक व्यवस्था तो रखते हो न ? बड़े-बड़े कामोंपर भलीभाँति परीक्षा किये हुए, बाप-दादोंके समयके मन्त्रियोंके वंशज, निष्पाप, ऊँचे विचारवाले लोगोंको ही नियुक्त करते हो न ? तुम किसीको ऐसा उग्र दण्ड तो नहीं देते, जिससे दुखी होकर प्रजा या मन्त्री तुम्हारा तिरस्कार करते हों ? भाई ! जैसे कुलीन स्त्री पर-स्त्रीमें आसक्त पुरुषका तिरस्कार करती है, वैसे ही यज्ञ करानेवाले ब्राह्मण तुमपर कोई अपराध लगाकर तुम्हें यज्ञके योग्य न समझकर तुम्हारा अपमान तो नहीं करते ? धनके लोभसे राजाकी बीमारी बढ़ानेवाले वैद्यको, राजाके ऐश्वर्यको भ्रष्ट करनेके लिये विश्वासी सेवकोंको फोड़नेवाले सेवकको जो राजा प्राण-दण्ड नहीं देता वह स्वयं ही मारा जाता है। भरत ! तुम्हारा सेनापति तुमसे सदा प्रेम करनेवाला, शूरवीर, धीर, बुद्धिमान्, पवित्र, कुलीन और चतुर तो है न ? युद्धकलामें निपुण, बलवान्, वीरतामें परीक्षा किये हुए प्रधान योद्धाओंको तुम सदा सम्मान-दानसे प्रसन्न तो रखते हो न ? सेनाको अन्न और वेतन प्रतिमास...

समयपर मिल जाता है न ? इस कार्यमें कुछ भी देर तो नहीं होती ? क्योंकि सैनिकोंको अन्न और वेतन समयपर न मिलनेसे वे विद्रोही हो उठते हैं, जिससे बड़ा अनर्थ हो जाता है। तुम्हारे कुलके प्रधान लोग तुमपर प्रेम तो रखते हैं न ? वे तुम्हारे हितके लिये समयपर स्वेच्छासे सदा प्राण देनेको तैयार तो रहते हैं न ? भाई ! अपने ही देशके विद्वान्, चतुर, प्रतिभाशाली, जैसा कहा हो वैसा ही करनेवाले पण्डितोंको ही तुमने दूत बनाया है न ?

'भरत ! एक-दूसरेको न पहचाननेवाले तीन-तीन गुप्त दूतों द्वारा तुम अपने राज्यके पन्द्रह और दूसरेके राज्यके अठारह तीर्थोंका पूरा पता तो रखते हो न ? १ मन्त्री, २ पुरोहित, ३ युवराज, ४ सेनापति, ५ द्वारपाल, ६ रनिवासका रक्षक, ७ कारागृह-अध्यक्ष (जेल-सुपरिटेंडेंट), ८ खजाञ्ची, ९ राज्यकी आज्ञा सुनानेवाला, १० वकील, ११ न्यायकर्त्ता (जज), १२ व्यवहार-निर्णायक (पञ्च या जूरी), १३ सेनाको वेतन चुकानेवाला, १४ कर-संग्रह-कर्ता (तहसीलदार), १५ नगराध्यक्ष (म्युनिसिपालिटिका चेयरमैन), १६ राष्ट्रान्तःपाल (सीमारक्षक), १७ दुष्टोंको दण्ड देनेवाला और १८ जल, पर्वत और वनोंके किलोंकी रक्षा करनेवाला—ये अठारह तीर्थ हैं। इनमें मन्त्री, पुरोहित और युवराजको अलग कर देनेपर पन्द्रह बचते हैं। इन सबके कार्योंपर राजाकी अवश्य निगरानी रखनी चाहिये। शत्रुदमन ! देशका अहित करनेवाले जिन लोगोंको तुमने देशसे निकाल दिया है, वे यदि देशमें फिर आ बसते हैं तो तुम उनको दुर्बल समझकर उनकी उपेक्षा तो नहीं

करते ? तुम नास्तिक ब्राह्मणोंका सङ्ग तो नहीं करते ? परलोक-ज्ञानसे शून्य, अनर्थपरायण, पाण्डित्याभिमानी लोगोंसे बहुत बुराई होती है। ऐसे दुर्बुद्धि लोग प्रामाणिक धर्मशास्त्रोंके विद्यमान रहनेपर भी शुष्क तर्क-बुद्धिसे अर्थहीन उपदेश किया करते हैं। भाई ! हमलोगोंके वीर पूर्वजोंके द्वारा सेवित यथार्थ अयोध्या (जहाँ युद्धार्थ कोई भी शत्रु नहीं आता) नामवाली और मजबूत दरवाजोंवाली, हाथी, रथ और घोड़ोंसे भरी हुई, अपने-अपने कर्ममें लगे हुए जितेन्द्रिय, उत्साही और उत्तम हजारों ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंसे युक्त, अनेक प्रकारके बड़े-बड़े सुन्दर महलोंवाली, अनेक प्रकारके विद्वान् और धन-ऐश्वर्यसे परिपूर्ण विशाल नगरीकी भलीभाँति रक्षा तो करते हो न ? भाई ! जिसमें अनेक देव-मन्दिर हैं, अश्वमेधादि यज्ञ करने योग्य अनेक स्थल हैं, जो बुद्धिमान् मनुष्योंसे पूर्ण है, नदी, तालाव आदि जलाशयोंसे युक्त है, जिसमें सभी स्त्री-पुरुष सुप्रसन्न हैं, जहाँ अनेक सभाएँ और उत्सव हुआ करते हैं, अच्छी खेती होती है, पर जो वादलोंपर निर्भर नहीं है, जो गौ आदि पशुओंसे भरा है, जहाँ पशुहिंसा विल्कुल नहीं होती, जहाँ हिंस्र पशु नहीं हैं अर्थात् हिंसक पशुओंने हिंसा छोड़ रक्खी है, किसीको किसी प्रकारका भय नहीं है, अनेक धातुओं की खानें हैं, जहाँ पापी मनुष्य नहीं रहते, ऐसा अपने पूर्वजोंद्वारा सुरक्षित समृद्धिशाली देश तुम्हारे शासनमें सुखी तो है न ? भाई ! अपने देशमें रहनेवाले खेती और गोरक्षापर आजीविका चलानेवाले व्यापारियोंपर तुम प्रेम तो करते हो न ? खेती और व्यापार में लगे हुए वैश्योंकी सारी इच्छाओंको पूर्ण करके तुम उनका भलीभाँति संरक्षण

'भाई ! तुम्हारे राज्यके न्यायाधीश, किसी सदाचारी साधुपर कोई झूठा अपराध लगनेपर धर्मके ज्ञाता पुरुषोंके द्वारा निर्णय कराये बिना ही धनके लोभसे उसे दण्ड तो नहीं दे देते ? अथवा घरके मालिक या तुम्हारे सिपाहीद्वारा पकड़े हुए चोरको, उसके चोर सिद्ध हो जानेपर एवं चोरीका माल पकड़ा जानेपर भी लोभसे छोड़ तो नही देते ? सारांश कि राजाको यह खयाल रखना चाहिये कि जिसमें उसके राज्यमें निरपराधी प्रजा दण्डित न हो और अपराधी छूट न जाय। भाई ! तुम्हारे शास्त्रज्ञ मन्त्रीगण धनी और गरीबके मामलोंमें लोभ छोड़कर निष्पक्ष यथार्थ न्याय तो करते हैं न ? क्योंकि राजाके अन्यायके कारण विना अपराध दण्डित हुए मनुष्योंकी आँखोंसे जो आंसू गिरते हैं, वे भोग-विलासके लिये राज्य करनेवाले राजाके पुत्र और पशुधनको नष्ट कर डालते हैं। हे प्रिय ! तुम वृद्धों, बालकों और प्रधान वैद्योंका दान, स्नेह और मधुर वचनोंसे सत्कार तो करते हो न ? इसी प्रकार देवताओ, गुरुजनों, वृद्धो, तपस्वियों, अतिथियों, देवमन्दिरो और तपस्या आदि द्वारा पवित्र हुए ब्राह्मण आदिको प्रणाम तो करते हो न ?

'भाई ! प्रातःकालका समय धर्मोपार्जनका है, उस समय अर्थोपार्जनके कार्यमें लगकर धर्मका बाध तो नही करते ? ऐसे ही मध्याह्नकाल राज-काज देखनेका यानी अर्थसग्रह करनेका है, उस समय धर्मकार्यमें लगकर अर्थका बाध तो नही करते ? अथवा इन्द्रिय-भोगार्थ, कामके वश हो धर्म, अर्थ दोनोको बाधित तो नही करते हो ? समयका उचित विभाग करके ही धर्म, अर्थ और कामका यथायोग्य आचरण करते हो न ? भाई ! देशके

विद्वान् ब्राह्मण और समस्त प्रजाजन तुम्हारा कल्याण तो चाहते हैं न ?

'नास्तिकता, असत्य, क्रोध, प्रमाद, दीर्घसूत्रता, ज्ञानियोंका सङ्ग न करना, आलस्य, इन्द्रियोंके वश होना, महत्त्वपूर्ण कार्यका अकेले ही विचार करना, विपरीत दृष्टिवाले अयोग्य पुरुषोंकी सलाह लेना, निश्चित किये हुए कार्यका आरम्भ न करना, गुप्त मन्त्रणाओंका भेद खोल देना, प्रतिदिन प्रातःकाल नित्यकर्म न करना, सब ओरके शत्रुओंपर एक ही साथ चढ़ाई कर देना और महापुरुषोंको आते देख सिंहासनसे उठकर उसे प्रणाम न करना—ये चौदह राजदोष समझे जाते हैं, तुममें इनमेंसे एक भी दोष तो नहीं है न ?

'बुद्धिमान् भरत ! दशवर्ग[1], पञ्चवर्ग[2], सप्तवर्ग[3], चतुर्वर्ग[4], अष्टवर्ग[5] और त्रिवर्ग[6]को तो तुम तत्त्वसे जानते हो न ? त्रिविध

१–शिकार, जुआ, दिनमें सोना, व्यर्थ बकवाद, अति स्त्री सङ्ग, मदिरा आदि नशीली चीजोंका सेवन, नाचना, गाना, बाजे बजाना और बेमतलब भटकना—यह कामसे उत्पन्न होनेवाला 'दशवर्ग' है।

२–पाँच प्रकारके किले बनाना—समुद्र, नदी, तालाब आदि जल-स्थानमें, पर्वतपर या पर्वतोंके बीचमें, वृक्षोंपर या वृक्षोंसे भरे जङ्गलमें, ऊसर जमीनमें (रणक्षेत्रमें) और हथियारोंके बीचमें—यह पञ्चवर्ग है।

३–राजा, मन्त्री, राष्ट्र, किले, खजाना, सेना और सहायक बन्धु—यह सप्तवर्ग हैं। इनकी परस्पर सहायतासे राज्य सुदृढ़ होता है।

४–साम, दाम, भेद और दण्ड—यह चतुर्वर्ग है।

५–चिढ़ना, दुःसाहस, द्रोह, ईर्षा, असूया, अर्थदोष, वचनकी कठोरता और कठोर दण्ड—यह अष्टवर्ग है। यह क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले दोषोंका समूह है।

६–धर्म, अर्थ और काम—यह त्रिवर्ग है। उत्साह, प्रभु और मन्त्रको भी त्रिवर्ग कहते हैं।

विद्या[1]की ओर तो तुम्हारा ध्यान है न ? बुद्धिसे इन्द्रियोंको जीतनेका उपाय[2], षड्गुण[3], दैवी आपत्ति[4], मानुषी आपत्ति[5], राज-कर्तव्य[6], बीसवर्ग[7], पाँच प्रकृति[8], राजमण्डल[9], पञ्चयात्रा[10],

---

१–वैदिक धर्मज्ञान, खेती-व्यापार आदि वृत्तिका ज्ञान और राजनीतिका ज्ञान।

२–यम, नियम, आसन, प्राणायाम और विचार-विवेक आदि योग और ज्ञानके साधन।

३–सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और आश्रय।

४–अग्नि, बाढ, अकाल, भूकम्प, वज्रपात, अनावृष्टि, महामारी आदि।

५–चोर, डाकू, शत्रु, राजद्रोही, अधिकारी, घूसखोर और राज्यलोभी आदि मनुष्योंके द्वारा प्राप्त होनेवाली विपत्तियाँ।

६–शत्रुपक्षके लोभी, अभिमानी, क्रोधी और डरपोक मनुष्योंको धन-मान देकर, प्रियकार्य कर और भय दिखलाकर वशमें करना।

७–बालक, वृद्ध, दीर्घकालका रोगी, जातिबहिष्कृत, डरपोक, डरपोक साथियोंवाला, लोभी, लोभी साथियोंवाला, वैरागी, अत्यन्त विषयासक्त, चञ्चल, देव और ब्राह्मणोंका निन्दक, अभागा, प्रारब्धवादी, अकालपीडित, सेनाहीन, अयोग्य स्थानमें निवास करनेवाला, बहुत शत्रुओंवाला, कालपीडित और सत्यधर्ममें प्रीति न रखनेवाला—यह बीसवर्ग है। ऐसे शत्रुओंसे सन्धि करनेकी आवश्यकता नहीं, क्योंकि इनपर विजय प्राप्त करना सहज है।

८–मन्त्री, देश, किला, खजाना और दण्ड—यह पाँच प्रकृति है।

९–विजिगीषु, शत्रु, मित्र, शत्रुका मित्र, मित्र का मित्र, शत्रुके मित्रका मित्र, पार्ष्णिग्राह, आक्रन्द, पार्ष्णिग्राहासार, आक्रन्दासार, मध्यस्थ और उदासीन—ये द्वादश राजमण्डल हैं।

१०–विगृह्ययान [बड़ी सेना साथ लेकर जाना], सन्धाययान [जिस शत्रुपर आक्रमण किया था, उससे सन्धि करनेके बाद दूसरे शत्रुपर हमला करने जाना], संभूययान [शूरवीरोंको साथ लेकर जाना], प्रसङ्गतोयान [जिसपर हमला करने जा रहे थे उसको छोड़कर बीचमें ही दूसरे शत्रुपर हमला करना] और उपेक्ष्ययान [जिसपर चढ़ाई की थी, उसे बलवान् समझकर उसके मित्रपर चढ़ाई करना]।

दण्डविधान एवं सन्धि और विग्रह—ये सब नीतिशास्त्रके तत्त्व हैं। इनमें कुछ ग्रहण करने योग्य, कुछ त्याग करने योग्य और कुछ प्रतीकार करने योग्य हैं। तुम इन सबके भेदोंको समझते हुए यथायोग्य ग्रहण, त्याग और प्रतीकार तो करते हो न?

'हे बुद्धिमान्! तुम शास्त्रानुसार तीन-चार निपुण मन्त्रियोंसे एक साथ या उनके मनकी बात जाननेके लिये अलग-अलग राय लेकर तो सारे कार्य करते हो न? वेदोक्त क्रियाओंको करके तुम वेदको सफल तो करते हो न? तुम्हारे सारे राज्यकार्य सफल तो होते हैं न? उत्तम आचरण करके तुम श्रवण किये शास्त्रोंको तो सफल कर रहे हो न? धर्मपरायणा और सन्तानवती होकर स्त्रियाँ तो सफल हैं न? भाई भरत! मेरे कथनानुसार ही तुमने आयु, यश, धर्म, अर्थ और कामको प्रदान करनेवाली सद्बुद्धिका आश्रय ले रक्खा है न? तुम अपने पिता-पितामहादिके व्यवहारके अनुकूल ही व्यवहार करते हो न? क्योंकि वही शुभ और सत्पथा वृत्ति है। तुम स्वादिष्ट भोजन अकेले तो नहीं खाते? अधिक प्रेम होनेके कारण भोजन चाहनेवाले मित्रोंको यथेच्छ भोजन तो देते हो न? इस प्रकार धर्मानुसार शासन करनेवाला राजा अपनी प्रजाका पालन करके समस्त पृथ्वीपर अपना आधिपत्य स्थापित करता है और मृत्युके अनन्तर स्वर्ग या परमधामको जाता है।' यह वर्णन वाल्मीकिरामायणके आधार-पर लिखा गया है।

भगवान् श्रीरामका श्रीलक्ष्मणको उपदेश

अपने पिता महाराज श्रीदशरथजीकी आज्ञा पाकर मर्यादा-पुरुषोत्तम परमात्मा श्रीरामचन्द्रजी, श्रीजानकीजी तथा श्रीलक्ष्मणजीके साथ अयोध्यासे वनवासके लिये निकल पड़े। वे नाना प्रकारके तीर्थों, पर्वतों और ऋषि-मुनियोंके आश्रमोंको देखते हुए श्रीअगस्त्यजीके आश्रममें पहुँचे और उन्होंने ऋषिवरसे प्रश्न किया कि मुझे ऐसा स्थान बतलाइये जहाँ रहकर मैं अपने जीवनका कार्य सुचारुरूपसे पूरा कर सकूँ। परमज्ञानस्वरूप लीलातनुधारी भगवान्‌के प्रश्नको सुनकर ऋषिवरको बड़ा सङ्कोच हुआ। भगवान्‌ने उन्हें जो यह मान दिया, उससे वह प्रेममग्न हो गये। उन्होंने श्रीसीताजी और अनुज लक्ष्मणके साथ अपने हृदयमें निवास करनेकी प्रार्थना करते हुए निवेदन किया कि पञ्चवटी नामक एक परम पवित्र और रमणीक स्थान है, जहाँपर गोदावरी नदी बहती है, वहीपर दण्डकवनमें आप निवास करें और सब मुनियोंपर दया करें।

दण्डकवन पहले एक प्रसिद्ध तपोवन था। वहाँ अनेक ऋषि-मुनि रहकर तपस्या किया करते थे, परन्तु इधर ऋषि-शापसे वह राक्षसोंका निवासस्थान बनकर अत्यन्त भयावह हो रहा था, आनन्दके स्थानमें वहाँ आतङ्कका राज्य छाया हुआ था। वहाँके लता-वृक्षतक राक्षसोंके कुकृत्य तथा ऋषि, मुनि-और

ब्राह्मणोंकी दुर्दशा देखकर निरन्तर आँसू बहाया करते थे। ऋषिकी आज्ञा पाकर भगवान् तुरन्त दण्डकवनमें पधारे। उनके पधारते ही मानों वहाँसे भय, शोक, दुःख एकदम विलीन हो गये और सर्वत्र आनन्दका राज्य छा गया। ऋषि-मुनि निर्भय हो गये; लता, वृक्ष, नदी, ताल आदितक श्रीराम, श्रीसीता और श्रीलक्ष्मणके चरणकमलोंके दर्शनकर अत्यन्त आनन्दित और शोभायमान हो गये। भगवान्‌ने गोदावरी-तट-पर एक पर्णकुटी बनायी और वे उसमें श्रीसीताजी तथा श्रीलक्ष्मणजीके साथ सुखपूर्वक निवास करने लगे।

एक दिन भगवान् सुखपूर्वक आसनपर विराजमान थे; समीप ही श्रीजानकीजी तथा श्रीलक्ष्मणजी भी यथास्थान आसन-पर बैठे हुए थे। एक सुन्दर अवसर जानकर श्रीलक्ष्मणजीने निष्कपट अन्तःकरणसे दोनों हाथ जोड़कर बड़ी नम्रताके साथ भगवान्‌से निवेदन किया—

सुर नर मुनि सचराचर साईं। मैं पूछउँ निज प्रभु की नाईं॥
मोहि समुझाइ कहहु सोइ देवा। सब तजि करौं चरन रज सेवा॥
कहहु ग्यान बिराग अरु माया। कहहु सो भगति करहु जेहिं दाया॥
ईस्वर जीव भेद प्रभु सकल कहौ समुझाइ।
जातें होइ चरन रति सोक मोह भ्रम जाइ॥

सारांश यह है कि 'हे सुर, नर, मुनि तथा समस्त जगत्‌के स्वामी! मैं आपको अपना प्रभु समझकर पूछ रहा हूँ। कृपाकर मुझे समझाकर कहिये कि ज्ञान, वैराग्य और माया किसे कहते हैं? वह कौन-सी भक्ति है, जिससे आप भक्तोंपर दया करते हैं और ईश्वर तथा जीवमें क्या भेद है, जिससे मेरा शोक, मोह,

भ्रम इत्यादि दूर हो जाय और मैं सब कुछ छोड़कर आपकी चरण-रजकी सेवामें ही तल्लीन हो जाऊँ।'

भक्तवत्सल भगवान्‌ने सरलहृदय, परम श्रद्धालु, एकान्त प्रेमीके कल्याणके लिये संक्षेपमें इस प्रकार उत्तर दिया—

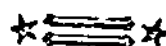
मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहिं बस कीन्हे जीव निकाया॥
गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥
तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ। बिद्या अपर अबिद्या दोऊ॥
एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा। जा बस जीव परा भवकूपा॥
एक रचइ जग गुन बस जाकें। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें॥
ग्यान मान जहँ एकउ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं॥
कहिअ तात सो परम बिरागी। तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी॥

माया ईस न आपु कहुँ, जान कहिअ सो जीव।
बंध मोच्छप्रद सर्बपर माया प्रेरक सीव॥

धर्म तें बिरति जोग तें ग्याना। ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना॥
जातें बेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई॥
सो सुतंत्र अवलंब न आना। तेहि आधीन ग्यान बिग्याना॥
भगति तात अनुपम सुखमूला। मिलइ जो संत होइँ अनुकूला॥
भगति कि साधन कहउँ बखानी। सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी॥
प्रथमहिं बिप्र चरन अति प्रीती। निज निज कर्म निरत श्रुति रीती॥
एहि कर फल पुनि बिषय बिरागा। तब मम धर्म उपज अनुरागा॥
श्रवनादिक नव भक्ति दृढ़ाहीं। मम लीला रति अति मन माहीं॥
संत चरन पंकज अति प्रेमा। मन क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा॥
गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोहि कहँ सेवा॥
मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा ॥
काम आदि मद दंभ न जाकें। तात निरंत

अनुपम सुखका मूल है और वह तभी प्राप्त होती है जब सन्तलोग अनुकूल होते हैं।

'अब मैं भक्तिके साधनका वर्णन करता हूँ और वह सुगम मार्ग बतलाता हूँ जिससे प्राणी मुझे सहजमें ही पा सकें। पहले तो ब्राह्मणके चरणोंमें बहुत प्रीति होनी चाहिये और वेदविहित अपने-अपने धर्ममें प्रवृत्ति होनी चाहिये। इसका फल यह होगा कि मन विषयोंसे विरक्त हो जायगा और तब मेरे चरणोंमें अनुराग उत्पन्न हो जायगा। फिर श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन—यह नौ प्रकारकी भक्ति दृढ होनी चाहिये और मनमें मेरी लीलाओंके प्रति अत्यन्त प्रेम होना चाहिये। जिसे सन्तोंके चरण-कमलोंमें अत्यधिक प्रेम हो, जो मन-वचन-कर्मसे भजन करनेका दृढ़ नियम रखनेवाला हो, जो मुझे ही गुरु, पिता, माता, भाई, पति और देवता सब कुछ जानता हो और मेरी सेवा करनेमें डटा रहता हो, मेरा गुण गाते समय जिसके शरीरमें रोमाञ्च हो आता हो, वाणी गद्गद हो जाती हो और नेत्रोंसे आँसू गिरते हों और जिसके अन्दर काम, मद, दम्भ आदि न हों, मैं सदा उसके वशमें रहता हूँ। मन, वचन और कर्मसे जिनको मेरी ही गति है, जो निष्कामभावसे मेरा भजन करते हैं, मैं सदा उनके हृदय-कमलमें विश्राम करता हूँ।'



अनेक प्रकारके पदार्थ होते थे। वेद-वेदाङ्गके ज्ञाता, अग्निहोत्री और गुणी पुरुषोंसे नगरी भरी हुई थी। महर्षियोंके समान अनेक महात्मा भी वहाँ रहते थे।

उस समय उस रम्य नगरी अयोध्यामें निरन्तर आनन्दमें रहनेवाले, अनेक शास्त्रोंको श्रवण करनेवाले धर्मात्मा, सत्यवादी, लोभरहित और अपने ही धनमें सन्तुष्ट रहनेवाले मनुष्य रहते थे। ऐसा एक भी गृहस्थ नहीं था जिसका धन आवश्यकतासे कम हो, जिसके पास इहलोक और परलोकके सुखोंके साधन न हों। सभी गृहस्थोंके घर गौ, घोड़े और धनधान्यसे पूर्ण थे। कामी, कृपण, क्रूर, मूर्ख और नास्तिक तो ढूंढ़े भी नहीं मिलते थे। वहाँके सभी स्त्री पुरुष धर्मात्मा, इन्द्रियनिग्रही, हर्षयुक्त, सुशील और महर्षियोंके समान पवित्र थे। सभी स्नान करते, कुण्डल-मुकुट-माला धारण करते, सुगन्धित वस्तुओंका लेपन करते, उत्तम भोजन करते और दान देते थे। परन्तु वे सभी आत्मवान् थे, सभी अग्निहोत्र और सोमयाग करनेवाले थे। क्षुद्र विचारका, चरित्रहीन, चोर और वर्णसङ्कर कोई नहीं था। वहाँके जितेन्द्रिय ब्राह्मण निरन्तर अपने नित्य कर्मोंमें लगे रहते थे। दान देते थे, विद्याध्ययन करते थे, परन्तु निषिद्ध दान कोई नहीं लेता था। अयोध्यामें कोई भी नास्तिक, झूठा, ईर्ष्या करनेवाला, अशक्त और मूढ़ नहीं था। सभी बहुश्रुत थे। ऐसा कोई न था जो वेदके छः अङ्गोंको न जानता हो, व्रत-उपवासादि न करता हो, दीन हो, पागल हो या दुखी हो। अयोध्यामें सभी स्त्री-पुरुष सुन्दर और धर्मात्मा राजाके भक्त थे। चारों वर्णोंके स्त्री-पुरुष देवता और अतिथिकी पूजा करनेवाले, दुखियोंको

रामायणकी प्राचीनता

आजकल कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि रामायणकी रचना महाभारतके बादकी है। यद्यपि निरपेक्षतापूर्वक ग्रन्थोंका अध्ययन करनेपर इस मान्यतामें हठके अतिरिक्त अन्य कोई भी आधार नहीं ठहरता। जिस प्रकार भगवान् रामका काल कौरव-कालसे लाखों वर्ष पहलेका है, उसी प्रकार रामायणकी रचना भी है। रामायणमें जिस मर्यादापूर्ण सत्त्वमयी सभ्यताका वर्णन है, महाभारतमें वैसा नहीं है, इसीसे पता लगता है कि रामायण-कालसे महाभारत-कालकी सभ्यताका आदर्श बहुत नीचा था। गुरुकुल-कांगड़ीके प्रसिद्ध अध्ययनशील श्रीयुत रामदेवजीने लिखा है—'धर्ममय एवं आत्मिक तथा प्राकृतिक सब प्रकारकी उन्नतियोंसे परिपूर्ण रामायणके संक्षिप्त इतिहासको छोड़कर शोकमय हृदयके साथ महाभारतके समयका यत्किञ्चित् इतिहास लिखना पड़ता है। श्रीरामचन्द्रके पवित्र आचरणके प्रतिकूल युधिष्ठिरके जूआ खेलने आदि कर्मोंका, लक्ष्मण-भरतादिके भ्रातृ-स्नेहके प्रतिकूल युधिष्ठिरके प्रति भीमसेनके अपमानसूचक शब्दोंका, महाराज दशरथकी प्रजाके सम्मुख सीताको कैकेयीद्वारा तपस्विनीके वस्त्र देनेपर प्रजाका एक साथ चिल्ला उठना 'धिक् त्वा दशरथम्' तथा धृतराष्ट्रकी राजसभामें द्रौपदीकी दुर्दशा होनेपर भी भीष्म, द्रोणादि वीरोंका कुछ भी न कर सकना, कुटिला दासी मन्थराका भी अपमान भरतके लिये असह्य और महारानी द्रौपदीकी दुर्दशामें दुर्योधन-कर्णादिकी प्रसन्नता, सती-साध्वी सीताका पातिव्रत और श्रीरामचन्द्रजीका पत्नीव्रत, उसके प्रतिकूल सत्यवतीके और कुन्तीके कानीन पुत्रोंकी उत्पत्ति और पाण्डवादिके

बहुविवाह, श्रीरामचन्द्रजीके वनकी ओर चलनेपर अयोध्यावासियोंका उनके साथ वनगमनके लिये प्रयत्न और युधिष्ठिरके दो बार हस्तिनापुरसे निकाले जानेपर सिवा थोड़े-से नगरनिवासियोंके पाण्डवोंके दुःखके साथ खुल्लमखुल्ला दुःख प्रकट करनेमें अन्योंका कौरवोंके भयसे मौनावलम्बन, श्रीराम और भरतका महान् राज्य जैसे पदार्थको धर्मपालनके सम्मुख तुच्छ समझना और उसे एकका दूसरेके हाथमें फेंकना और दुर्योधनका यह कहना कि 'सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव', युद्धक्षेत्रमें रावणके घायल हो जानेपर श्रीरामचन्द्रजीका यह कहना कि घायलका वध करना धर्मविरुद्ध है और शस्त्र छोड़े हुए भीष्म और द्रोणका वध, रथसे उतरे हुए कर्णका वध, सोते हुए धृष्टद्युम्न, शिखण्डी और द्रौपदीके पाँचों पुत्रोंका ब्राह्मणकुलोत्पन्न वेदान्ताभिमानी अश्वत्थामाद्वारा वध, कहाँ तक गिनायें। ये सब घटनायें हैं—जो स्पष्टरूपसे रामायण और महाभारतके समयकी अवस्थाओंको प्रकट करती हैं। यद्यपि महाभारतके समय रामायणके समयकी भाँति ही अथवा उससे भी अधिक आविष्कारोंने सम्पत्ति बढ़ी हुई थी और रामायणके समयके वीरोंकी भाँति भीष्म, द्रोण, अर्जुन आदि क्षत्रिय योद्धा वायव्यास्त्र, पाशुपतास्त्र, वारुणास्त्र, [illegible] ब्रह्मास्त्रादि आग्नेयास्त्रोंकी विद्या भी जानते थे। उनकी नाव अग्नि-यान जलपर चलता था, आर्यावर्तका दबदबा सारी पृथ्वीपर जमा हुआ था; परन्तु रामायणके समयकी अपेक्षा इस समय धर्मका बहुत ह्रास था………।'

इन अवतरणोंसे यह सिद्ध हो जाता है कि श्रीरामका और रामायणका काल बहुत ही प्राचीन, शिक्षाप्रद तथा गौरवमय है।

☆≡≡≡☆

श्रीरामायण-माहात्म्य

सनत्कुमारके प्रति देवर्षि नारदके वचन—

रामायणमहाकाव्यं सर्ववेदार्थसम्मतम् ।
रामचन्द्रगुणोपेतं सर्वकल्याणसिद्धिदम् ॥

आदिकवि-कृत रामायण महाकाव्य सर्ववेदार्थ-सम्मत और सब पापोंका नाश करनेवाला तथा दुष्ट ग्रहोंका निवारण करनेवाला है । यह दुःस्वप्नोंका नाश करनेवाला, मुक्ति-भुक्ति प्रदान करनेवाला रामायण धन्य है ।

आदिकाव्य रामायण स्वर्ग और मोक्ष प्रदान करनेवाला है ।

जिसके पूर्व जन्मके पाप निश्चयपूर्वक नष्ट हो जाते हैं, उस मनुष्यको अवश्य ही रामायणमें अटल महाप्रीति उत्पन्न होती है ।

मानव-शरीरमें पाप तभीतक रह सकते हैं, जबतक मनुष्य श्रीमद्रामायणकी कथा सम्यक् प्रकारसे नहीं सुनता ।

रामायण सब दुःखोंका नाश करनेवाला, सब पुण्योंका फल प्रदान करनेवाला और सब यज्ञोंका फल देनेवाला है ।

जो द्विज रामनाम-रत होकर रामायणमें लवलीन रहते हैं, इस घोर कलियुगमें वे ही कृतकृत्य हैं ।

जो मनुष्य नित्य रामायणमें लवलीन रहते हैं, गङ्गा-स्नान करते हैं और धर्म-मार्गका उपदेश करते हैं, वे मुक्त ही हैं, इसमें कुछ भी संशय नहीं ।

जो जितेन्द्रिय और शान्तचित्त हो रामायणका नित्य पाठ करता है, वह उस परम आनन्दधामको प्राप्त होता है जहाँ जानेपर उसे कभी शोक नहीं सताता ।

क्षमाके समान कोई सार पदार्थ नहीं, कीर्तिके समान कोई धन नहीं, ज्ञानके समान कोई लाभ नहीं और श्रीरामायणसे बढ़कर कुछ भी नहीं है ।

जगत्का हित करनेवाले जो सज्जन रामायणमें लगे रहते हैं, वे ही सर्वशास्त्रार्थमें पण्डित हैं और धन्य हैं ।

जिस घरमें नित्य रामायणकी कथा होती है, वह घर तीर्थरूप है और दुष्टोंके पापका नाश करनेवाला है ।

रामनामैव नामैव नामैव मम जीवनम् ।
संसारविषयान्धानां नराणां पापकर्मणाम् ॥
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥

रामनाम ही मेरा जीवन है, नाम ही मेरा जीवन है। इस कलियुगमें संसारके विषयोंमें अन्धे हुए पापकर्मी मनुष्योंके लिये दूसरी गति नहीं है, नहीं है। (स्कन्दपुराण)। भगवान् शिवजी कहते हैं—

मुनि दुर्लभ हरि भगति नर पावहिं बिनहिं प्रयास ।
जे यह कथा निरंतर सुनहिं मानि बिस्वास ॥
राम चरन रति जो चह अथवा पद निर्बान ।
भाव सहित सो यह कथा करउ श्रवन पुट पान ॥



श्रीरामचरितमानस सच्चा इतिहास है

कहा तो जाता है कि वर्तमान युग बुद्धिप्रधान और उन्नति-सम्पन्न है, परन्तु गम्भीरताके साथ विचार करनेपर पता लगता है कि बुद्धिकी जगह अश्रद्धा और अविश्वासने ले ली है और उन्नतिका स्थान कलह और द्वेषने ! जहाँ अश्रद्धा और अविश्वासका विस्तार है, वहाँ हम यह कहते हैं कि यहाँ बुद्धिसे काम लिया जाता है, अविवेक या अन्धपरम्परासे नहीं; और जहाँ द्वेष और कलह है, वहाँ हम समाजमें जागृति और उन्नतिका आरोप करते हैं। इसी कारण आज हमारी वास्तविकता नष्ट हो रही है और क्रमशः हमारा जीवन कृत्रिम होता चला जा रहा है। श्रद्धा-विश्वासका तिरस्कार करके हम अपने घरमें रखे हुए पारससे लाभ नहीं उठा रहे हैं, यही विधिकी विडम्बना है। इसी कारण आज अपनी सनातन सभ्यता और इतिहास-परसे हमारी आस्था उठती चली जा रही है। अच्छे-अच्छे विद्वान् और समझदार पुरुष भी आज प्रत्येक सत्यको—यहाँतक कि ईश्वरतकको कवि-कल्पनाका स्वरूप देनेमें ही अपनी शान समझने लगे हैं। यह मानव-जातिका दुर्भाग्य है !

रामायण और महाभारतको सनातनसे हिन्दूजाति अपना गौरवपूर्ण इतिहास मानती चली आ रही है परन्तु आधुनिक विद्वान् उन्हें इतिहास स्वीकार करनेमें हिचकते हैं। सम्भव है इसमें उनकी नीयत बुरी नहीं है परन्तु [illegible] अविश्वासपूर्ण वायुमण्डलका उनपर [illegible] हुआ है कि उनका लक्ष्य और उनकी विचारसरणी [illegible] गयी है। इसीसे प्रत्येक बातको वे [illegible]

राम अनंत अनंत गुन अमित कथा विस्तार।
सुनि आचरजु न मानिहहिं जिन्ह के बिमल बिचार॥

'मैं जो यह नयी कथा कहता हूँ, इसको पहले (किसी भी रामायणमें) न सुना हो तो इसे सुनकर आश्चर्य न करें। जो ज्ञानी पुरुष इस विचित्र (पहले कहीं न सुनी हुई) कथाको सुनते हैं, वे यह जानकर आश्चर्य नहीं करते कि संसारमें रामकथाकी कोई सीमा नहीं है। उनके मनमें ऐसा विश्वास रहता है। नाना प्रकारसे श्रीरामचन्द्रजीके अवतार हुए और करोड़ों अपार रामायण हैं। कल्पभेदके अनुसार श्रीहरिके सुन्दर चरित्रोंको मुनीश्वरोंने अनेक प्रकारसे गाया है। हृदयमें ऐसा विचारकर सन्देह न कीजिये और आदरसहित प्रेमसे इस कथाको सुनिये। श्रीरामचन्द्रजी अनन्त हैं, उनके गुण भी अनन्त हैं और उनकी कथाओंका विस्तार भी असीम है। अतएव जिनके निर्मल विचार हैं, वे इस कथाको सुनकर आश्चर्य नहीं मानेंगे।'

यह जान रखना चाहिये कि महामुनि वाल्मीकिने जिन रामकी कथाका वर्णन किया है, वे भगवान् विष्णुके अवतार हैं और गोसाईंजीके राम समग्र ब्रह्मरूप परात्पर भगवान् हैं। उन दोनों अवतारोंकी लीलाओंमें अन्तर है और उसीके अनुसार दोनों सत्यवादी महर्षि कवियोंने उनका यथार्थ वर्णन किया है। वाल्मीकि और तुलसीदासजी कवि पीछे हैं, भगवद्भक्त महर्षि पहले। इसलिये वे मिथ्या कल्पनाको इतिहासका स्वरूप दें, ऐसा मानना भूल है। तुलसीदासजीने स्वयं अपने रामचरितमानसको 'इतिहास' कहा है—

कहउँ परम पुनीत इतिहासा। सुनत श्रवन छूटहिं भव पासा॥
प्रनत कल्पतरु करुना पुंजा। उपजइ प्रीति राम पद कंजा॥

साधनभक्तिके चौंसठ अंग

१–श्रीगुरु-चरण-कमलोंका आश्रय-ग्रहण।

२–श्रीगुरुदेवसे श्रीकृष्णमन्त्रकी दीक्षा लेकर भगवद्-विषयमें शिक्षा प्राप्त करना।

३–विश्वासके साथ गुरुकी सेवा करना।

४–साधु-महात्माओंके आचरणका अनुसरण करना।

५–भागवतधर्मके सम्बन्धमें विनयपूर्वक प्रश्न करना।

६–श्रीकृष्णकी प्राप्तिके लिये भोगादिका त्याग करना।

७–द्वारका, अयोध्या आदि भगवान्‌के लीलाधामोंमें और गङ्गादि तीर्थोंमें रहना।

८–जितने व्यवहारके बिना काम न चले, नियमपूर्वक उतना ही व्यवहार करना।

९–एकादशी, जन्माष्टमी, रामनवमी आदिका उपवास करना।

१०–आँवला, पीपल, तुलसी आदि पवित्र वृक्ष और गौ-ब्राह्मण तथा भक्तोंका सम्मान करना।

ये दस अङ्ग साधन भक्तिके सहायक हैं और ग्रहण करने योग्य हैं।

११–भगवद्विमुख असाधु पुरुषका सङ्ग बिल्कुल त्याग देना।

१२–अनधिकारीको, प्रलोभन देकर या बलपूर्वक किसीको शिष्य न बनाना, अधिक शिष्य न बनाना।

१३–भगवान्‌के सम्बन्धसे रहित आडम्बरपूर्ण कार्यो
आरम्भ न करना ।

१४–बहुतसे ग्रन्थोंका अभ्यास न करना । व्याख्या
तर्कवितर्क न करना । भगवत्सम्बन्धरहित कलाओंको न सीखना

१५–व्यवहारमें अनुकूलता न होनेपर दीनता न लाना

१६–शोक, मोह, क्रोधादिके वश न होना ।

१७–किसी भी दूसरे देवता या दूसरे शास्त्रका अपमान
न करना ।

१८–किसी भी प्राणीको उद्वेग न पहुँचाना ।

१९–सेवापराध और नामापराधसे सर्वथा बचे रहना ।

२०–श्रीकृष्ण और श्रीकृष्णके भक्तोंके द्वेष और निन्दा
आदिको न सह सकना ।

इन दस अङ्गोंके पालन किये बिना साधन-भक्तिका यथार्थ
उदय नहीं होता ।

२१–वैष्णव-चिह्न धारण करना ।

२२–हरिनामाक्षर धारण करना ।

२३–निर्माल्य धारण करना ।

२४–श्रीभगवान्‌के सामने नृत्य करना ।

२५–श्रीभगवान्‌को दण्डवत् प्रणाम करना ।

२६–श्रीभगवान्‌की मूर्तिको देखते ही खड़े हो जान

२७–श्रीभगवान्‌की मूर्तिके आगे-आगे या पीछे
लना ।

२८–श्रीभगवान्‌के स्थानों अर्थात् उनके धाम
न्दिरोंमें जाना ।

२९—परिक्रमा करना।

३०—श्रीभगवान्‌की पूजा करना।

३१—श्रीभगवान्‌की परिचर्या या सेवा करना।

३२—श्रीभगवान्‌का लीला-सम्बन्धी गान करना।

३३—श्रीभगवान्‌के नाम, गुण, लीला आदिका उच्च स्वरसे कीर्तन करना।

३४—श्रीभगवान्‌के नाम और मन्त्रादिका जप करना।

३५—श्रीभगवान्‌के समीप अपनी दीनता दिखलाकर उनके प्रेमके लिये, सेवा प्राप्त करनेके लिये प्रार्थना करना।

३६—श्रीभगवान्‌की स्तुतियोंका पाठ करना।

३७—महाप्रसादका सेवन करना।

३८—चरणामृत पान करना।

३९—धूप और माला आदिका सुगन्ध ग्रहण करना।

४०—श्रीमूर्तिका दर्शन करना।

४१—श्रीमूर्तिका स्पर्श करना।

४२—आरति और उत्सवादिका दर्शन करना।

४३—श्रीभगवान्‌के नाम-गुण-लीलादिका श्रवण करना।

४४—श्रीभगवान्‌की कृपाकी ओर निरन्तर देखते रहना।

४५—श्रीभगवान्‌का स्मरण करना।

४६—श्रीभगवान्‌के रूप, गुण, लीला, सेवा आदिका ध्यान करना।

४७—सारे कर्म श्रीभगवान्‌को अर्पण करके अथवा उन्हींके लिये सब कर्म करते हुए भगवान्‌का अनन्य दास बन जाना।

४८—दृढ़ विश्वास और प्रीतिके साथ अपनेको श्रीभगवान्‌का सखा मानना।

४९—श्रीभगवान्‌के प्रति आत्मसमर्पण कर देना।

५०—अपनी उत्तम-से-उत्तम और प्यारी-से-प्यारी सब वस्तुएँ भगवान्‌के प्रति निवेदन कर देना।

५१—भगवान्‌के लिये ही सब चेष्टा करना।

५२—सब प्रकारसे सर्वथा श्रीभगवान्‌के शरण हो जाना।

५३—उनकी तुलसीजीका सेवन करना।

५४—उनके शास्त्रोंका सेवन करना।

५५—उनकी पुरियोंका सेवन करना।

५६—उनके भक्तोंका सेवन करना।

५७—अपने वैभवके अनुसार सज्जनोंके साथ मिलकर भगवान्‌का महोत्सव करना।

५८—कार्तिकके व्रत करना।

५९—जन्म और यात्रा-महोत्सव मनाना।

६०—श्रद्धा और विशेष प्रेमके साथ भगवान्‌के चरण-कमलोंकी सेवा करना।

६१—रसिक भक्तोंके साथ मिलकर श्रीमद्भागवतके अर्थ और रसका आस्वादन करना।

६२—सजातीय और समान आशयवाले, भगवान्‌के रसिक महापुरुषोंका सङ्ग करना।

६३—नाम-सङ्कीर्तन करना।

और

६४—व्रज-मण्डलादि मधुर लीलाधामोंमें वास करना।



सेवापराध और नामापराध

सेवापराध

१—सवारीपर चढ़कर अथवा पैरोंमें खड़ाऊँ पहनकर श्रीभगवान्‌के मन्दिरमें जाना।

२—रथ-यात्रा, जन्माष्टमी आदि उत्सवोंका न करना या उनके दर्शन न करना।

३—श्रीमूर्तिके दर्शन करके प्रणाम न करना।

४—अशौच-अवस्थामें दर्शन करना।

५—एक हाथसे प्रणाम करना।

६—परिक्रमा करते समय भगवान्‌के सामने आकर कुछ न घूमकर फिर परिक्रमा करना अथवा केवल सामने ही परिक्रमा करते रहना।

७—श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने पैर पसारकर बैठना।

८--श्रीभगवान्के श्रीविग्रहके सामने दोनों घुटनोंको ऊँचा करके उनको हाथोंसे लपेटकर वैठ जाना ।

९—श्रीभगवान्के श्रीविग्रहके सामने सोना ।

१०--श्रीभगवान्के श्रीविग्रहके सामने भोजन करना ।

११—श्रीभगवान्के श्रीविग्रहके सामने झूठ वोलना ।

१२—श्रीभगवान्के श्रीविग्रहके सामने जोरसे वोलना ।

१३—श्रीभगवान्के श्रीविग्रहके सामने आपसमें वातचीत करना ।

१४—श्रीभगवान्के श्रीविग्रहके सामने चिल्लाना ।

१५—श्रीभगवान्के श्रीविग्रहके सामने कलह करना ।

१६—श्रीभगवान्के श्रीविग्रहके सामने किसीको पीड़ा देना ।

१७—श्रीभगवान्के श्रीविग्रहके सामने किसीपर अनुग्रह करना ।

१८—श्रीभगवान्के श्रीविग्रहके सामने किसीको निष्ठुर वचन वोलना ।

१९—श्रीभगवान्के श्रीविग्रहके सामने कम्वलसे सारा शरीर ढक लेना ।

२०—श्रीभगवान्के श्रीविग्रहके सामने दूसरेकी निन्दा करना ।

२१— श्रीभगवान्के श्रीविग्रहके सामने दूसरेकी स्तुति करना ।

२२—श्रीभगवान्के श्रीविग्रहके सामने अश्लील शब्द वोलना ।

२३—श्रीभगवान्के श्रीविग्रहके सामने अधोवायुका त्याग करना ।

२४–शक्ति रहते हुए भी गौण अर्थात् सामान्य उपचारोंसे भगवान्‌की सेवा-पूजा करना।

२५–श्रीभगवान्‌को निवेदन किये बिना किसी भी वस्तुका खाना-पीना।

२६–जिस ऋतुमें जो फल हो, उसे सबसे पहले श्रीभगवान्‌को न चढ़ाना।

२७–किसी शाक या फलादिके अगले भागको तोड़कर भगवान्‌के व्यञ्जनादिके लिये देना।

२८–श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहको पीठ देकर बैठना।

२९–श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने दूसरे किसीको भी प्रणाम करना।

३०–गुरुदेवकी अभ्यर्थना, कुशल-प्रश्न और उनका स्तवन न करना।

३१–अपने मुखसे अपनी प्रशंसा करना।

३२–किसी भी देवताकी निन्दा करना।

श्रीवाराह-पुराणमें ३२ सेवापराधोंका वर्णन नीचे लिखे अनुसार किया गया है—

१–राजाके अन्नका भक्षण करना।

२–अँधेरेमें श्रीविग्रहका स्पर्श करना।

३–नियमोंको न मानकर श्रीविग्रहका स्पर्श करना।

४–बाजा या ताली बजाये बिना ही श्रीमन्दिरके द्वारको खोलना।

५–अभक्ष्य वस्तुएँ निवेदन करना।

६–पादुकासहित भगवान्‌के मन्दिरमें जाना।

७—कुत्तेकी जूंठन स्पर्श करना ।

८—पूजा करते समय बोलना ।

९—पूजा करते समय मलत्यागके लिये जाना ।

१०—श्राद्धादि किये बिना नया अन्न खाना ।

११—गन्ध और पुष्प चढ़ानेके पहले धूप देना ।

१२—निषिद्ध पुष्पोंसे भगवान्‌की पूजा करना ।

१३—दँतवन किये बिना भगवान्‌के श्रीविग्रहकी पूजा या उनका स्पर्श करना ।

१४—स्त्री-सम्भोग करके ,, ,,

१५—रजस्वला स्त्रीका स्पर्श करके ,, ,,

१६—दीपका स्पर्श करके ,, ,,

१७—मुर्देका स्पर्श करके ,, ,,

१८—लाल वस्त्र पहनकर ,, ,,

१९—नीला वस्त्र पहनकर ,, ,,

२०—बिना धोया हुआ वस्त्र पहनकर ,, ,,

२१—दूसरेका वस्त्र पहनकर ,, ,,

२२—मैला वस्त्र पहनकर ,, ,,

२३—शवको देखकर ,, ,,

२४—अधोवायुका त्याग करके भगवान्‌के श्रीविग्रहकी पूजा या उनका स्पर्श करना ।

२५—क्रोध करके ,, ,,

२६—श्मशानमें जाकर ,, ,,

२७—खाया हुआ अन्न पचनेसे पहले खाकर ,, ,,

२८—पशुओंका मांस खाकर ,, ,,

२९–पक्षियोंका मांस खाकर ,, ,,

३०–गाँजा आदि मादक द्रव्योंका सेवन करके ,, ,,

३१–कुसुम्व साग खाकर ,, ,,

और

३२–शरीरमें तैल मलकर ,, ,,

गङ्गास्नान करनेसे, यमुनास्नान करनेसे, भगवान्‌की सेवा करनेसे, प्रतिदिन गीताका पाठ करनेसे, तुलसीके द्वारा श्रीशालग्रामजीकी पूजा करनेसे, द्वादशीके दिन जागरण करके तुलसीका स्तवन करनेसे, भगवान्‌की पूजा करनेसे और भगवान्‌के नामका आश्रय लेकर नाम-कीर्तन करनेसे सेवापराध छूट जाता है। भगवान्‌के नामसे सारे अपराधोंकी क्षमा हो जाती है। श्रीभगवान् स्वयं कहते हैं—

मम नामानि लोकेऽस्मिञ्छ्रद्धया यस्तु कीर्तयेत् ।
तस्यापराधकोटीस्तु क्षमाम्येव न संशयः ॥

'इस संसारमें जो पुरुष श्रद्धापूर्वक मेरे नामोंका कीर्तन करता है, मैं उसके करोड़ों अपराधोंको क्षमा कर देता हूँ, इसमें कोई सन्देह नहीं है।'

नामापराध

१–सत्पुरुषोंकी निन्दा करना।

२–शिव और विष्णुके नामोंमें ऊँच-नीचकी कल्पना करना।

३–गुरुका अपमान करना।

४--वेदादि शास्त्रोंकी निन्दा करना ।

५--'भगवान्‌के नामकी जो इतनी महिमा कही गयी है, यह केवल स्तुतिमात्र है, असलमें इतनी महिमा नहीं है ।' इस प्रकार भगवान्‌के नाममें अर्थवादकी कल्पना करना ।

६--'भगवान्‌के नामसे पापोंका नाश होता ही है, पाप करके नाम लेनेसे पाप नष्ट हो ही जायँगे, पाप हमारा क्या कर सकते हैं ?' इस प्रकार भगवान्‌के नामका आश्रय लेकर नामके बलपर पाप करना ।

७--यज्ञ, तप, दान, व्रत आदि शुभ कर्मोंको नामके समान मानना ।

८--श्रद्धारहित और सुनना न चाहनेवाले व्यक्तिको उपदेश करना ।

९--नामकी महिमा सुनकर भी नाममें प्रीति न करना ।

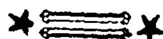
और

१०--'मैं' और 'मेरे' के फेर में पड़कर विषय-भोगोंमें आसक्त होना ।

ये दस नामापराध हैं । नामापराधसे भी छुटकारा नामके जप-कीर्तनसे ही मिलता है ।

नामापराधयुक्तानां नामान्येव हरन्त्यघम् ।
अविश्रान्तप्रयुक्तानि तान्येवार्थकराणि च ॥

'नामापराधयुक्त पुरुषोंका पाप नाम ही हरण करता है और निरन्तर कीर्तन किये जानेपर नाम सारे मनोरथोंको पूरा करता है ।'



भगवदनुराग

क्षणभंगुर मनुष्य-शरीरको शास्त्रकारोंने बहुत दुर्लभ बतलाया है, उनका कहना है कि इसी शरीरसे यथोचित उद्योग करनेपर जीवकी अनन्तकालकी सुख-कामना सर्वथा पूर्ण हो सकती है। भगवान्‌ने कृपा करके इस शरीरमें ऐसा विवेक दिया है, जिससे मनुष्य भले-बुरे और नित्य-अनित्यका विचार कर बुरे और अनित्यका त्याग तथा भले और नित्यका ग्रहण कर सकता है। विवेकके द्वारा वह अपनी अनादिकालकी कामनाको पहचानकर उसकी प्राप्तिके लिये चेष्टा कर सकता है और अन्तमें उसे पा सकता है। जो मनुष्य भगवान्‌के दिये हुए विवेकसे इस कार्यकी पूर्तिमें लगता है, वही मनुष्य कहलाने योग्य है। जो पशुओंकी भाँति केवल उदर-पूर्ति और भोग भोगनेमें ही लगा रहता है, उसको तो मनुष्याकार पशु ही समझना चाहिये। बात भी ठीक है। मनुष्यमें मनुष्योचित गुण होने ही चाहिये। जो रात-दिन जिस-किसी प्रकारसे पैसा कमाने और उससे शरीर सजाने तथा भोग-सामग्रियोंको जुटानेमें लगे रहते हैं, वे यथार्थ ही मनुष्यके कर्तव्यसे गिरे हुए हैं। जिस बुद्धि-विवेकको भगवत्प्राप्तिके साधनमें लगाना चाहिये, उसी विवेक

प्रयोग यदि हाड़-मांसके शरीरको सजानेमें, फैशन बनानेमें, विलासिताका सामान इकट्ठा करनेमें और इन्द्रियोंको आरम्भमें सुखकर प्रतीत होनेवाली परन्तु परिणाममें दु:खदायिनी भोग-सामग्रियोंके संग्रह करनेमें किया जाय तो इससे बढ़कर मूर्खता और क्या होगी ? परन्तु क्या कहा जाय, यहाँ तो आजकल चारों ओर यही हो रहा है। आज प्राय: सारा ही जगत् केवल भोग-सामग्रियोंके लिये ही जूझ रहा है। जिसके पास भोगके पदार्थ अधिक हों, वही बड़ा आदमी और बड़भागी माना जाता है, चाहे वे पदार्थ उसने कितने भी कुकर्मोंके द्वारा इकट्ठे किये हों और कर रहा हो ! यही हालत राष्ट्रोंकी है।

फैशन तथा बाहरी दिखावेके भावने इतनी गहरी जड़ जमा ली है कि आज गृहत्यागी संन्यासियोंके गेरुआ वस्त्रोंमें, उनके दण्ड-कमण्डलुमें, उनकी चरणपादुकाओंमें; धर्माचार्योंके वेश-भूषा और रहन-सहनमें, सादगीका बाना धारण करनेवाले देशभक्तोंके खादीके कुर्ते, चद्दर और चप्पलोंमें और बनावटसे दूर रहनेके लिये निरन्तर वाणी और कलमसे उपदेश करने वाले महानुभावोंकी वाणी और कलममें—सभीमें फैशन आ गया है। उनकी ऊपरकी सादगी दिलकी सादगीका सच्चा प्रतिविम्ब नहीं है। किस प्रकार दूसरे हमें देखकर मुग्ध हों; कैसे कोई हमारी वाणी, कलम, पोशाक, चाल और चाहपर रीझे, हृदयको टटोलकर देखा जाय तो प्राय: अधिकांशके अन्दर ऐसे ही भाव पाये जायँगे। यह सादगीमें छिपी विलासिता है। कर्मेन्द्रियोंको रोककर मनसे विषयोंकी चाह करनेको भगवान्‌ने मिथ्याचार बतलाया है। सच पूछा जाय तो आज जगत्‌में मिथ्याचारका

प्रचार वढ़ रहा है। कपट बढ़ रहा है। भोगेच्छाका दमन नहीं, किन्तु उसकी प्रवलता वढ़ रही है और उन्नतिके नामपर उसको वढ़ाया जा रहा है। सांसारिक भोगोंकी इच्छा जितनी ही अधिक वलवती होती है, जितना ही अधिक भोग पदार्थों की संग्रह की भावना वढ़ती है, उतना ही मनुष्य भगवान् और भगवद्भावोंसे दूर होता चला जाता है। हमारे आजके छात्रावास, आश्रम, विद्यालय और गुरुकुल-ऋषिकुलोंसे, प्राचीन त्यागमय संग्रहशून्य छात्रावास, ऋषियोंके आश्रम, विद्यामन्दिर और गुरुकुल-ऋषिकुलोका मिलान करके देखिये। आकाश-पातालका अन्तर पड़ गया है। त्यागका आदर्श भोगके आदर्शके रूपमें वदल गया है। जीवनका लक्ष्य भगवान् न रहकर जगत्के भोग—सुख-साम्राज्य, यथेच्छाचरणकी स्वतन्त्रता आदि रह गये हैं। आज मनुष्य कितना विवेकशून्य हो गया है, इसका पता मनीषियोंको इन सव वातोंपर विचार करनेसे अनायास ही लग सकता है।

यह स्थिति वड़ी ही भयावनी है। अभी पता नही लगता, परन्तु जव इसका परिणाम सामने आयेगा, तव दुःखकी सीमा न रहेगी। उस परिणामके चित्रकी कल्पना आते ही हृदय काँप उठता है। पता नहीं, विवेकभ्रष्ट मनुष्य कव पुनः विवेकको प्राप्तकर भगवत्-पथ का पथिक होगा।

परन्तु पूर्वपुण्य या साधु पुरुषोंके सङ्गसे जिनके मनमें कुछ भी मानव-जीवनके उद्देश्य-सम्बन्धी विवेक जाग्रत् है, उन लोगोंको तो सावधानीके साथ अपने जीवनका मार्ग स्थिर करके उसपर चलना आरम्भ कर ही देना चाहिये। यह वात ध्यानमें

रखनी चाहिये कि चक्कीके पाटोंके बीच पड़े हुए दानों में जो दाने बीचकी कीलीके आसपास लगे रहते हैं, वे पिसनेसे बच जाते हैं। इस घोर कालमें भी—जो देखनेमें भ्रमसे प्रगतिका, उन्नतिका और अभ्युदयका-सा प्रतीत होता है—जो मनुष्य भगवान्‌की और धर्मकी परायणताको नहीं छोड़ेंगे, वे महान् बुरे परिणामसे अवश्य बच जायेंगे।

सबसे पहले विवेकसे निर्णय करके जीवनका लक्ष्य—ध्येय स्थिर कर लेना चाहिये। यह ध्येय परमात्मा है, जबतक उसकी प्राप्ति नहीं होगी, तबतक जीवके दुःखोंका अन्त किसी प्रकार किसी उपायसे भी नहीं हो सकता। तदनन्तर उस लक्ष्यके विरोधी सभी कार्योंसे मुँह मोड़ लक्ष्यके सम्मुख होकर चलना आरम्भ कर देना चाहिये। इसीका नाम अभ्यास और वैराग्य है। भगवत्-विरोधी सांसारिक विषयोंमें—इस लोक और परलोकके सभी भोग-विषयोंमें अनुरागका सर्वथा त्याग और भगवत्‌के अनुकूल श्रवण, चिन्तन, सेवा, ध्यान आदि सद्वृत्तियों और कार्योंका ग्रहण करना चाहिये। यह बात सदा स्मरण रखनी चाहिये कि मनुष्य-शरीर इन्द्रियोंके तृप्त करनेकी झूठी झाँकी दिखानेवाले भोगोंके लिये नहीं है, झूठी झाँकी इसीलिये कि भोगोंसे कभी तृप्ति हो ही नहीं सकती, 'बुझे न काम-अगिनि तुलसी कहुँ, विषय-भोग बहु घी ते।' यह शरीर है भगवान्‌को प्राप्त करनेके लिये, अतएव भगवत्प्राप्तिके मार्गमें—चाहे जितने कष्टोंका सामना करना पड़े, चाहे जैसी विपत्तियाँ आयें, इन्द्रियोंके समस्त सुखकर भोग नष्ट हो जायँ, उनका प्राप्त होना सर्वथा रुक जाय, सारे ऐश-आराम सपना हो जायँ,

इन्द्रियाँ छटपटायें, जो कुछ भी हो, किसी बातकी भी परवा न करके आगे बढते ही जाना चाहिये, सब कुछ खोकर भी उसे पानेकी चेष्टा करनी चाहिये। जो ममत्व-बुद्धिसे जगत्के इन सब पदार्थोंको बचानेकी चेष्टामें लगा रहता है वह परमात्माको नहीं पा सकता; पर जो सबका मोह छोड़कर मनसे सबका नाता तोड़कर विगतज्वर हो भगवत्प्रेमकी अग्निमें कूद पड़ता है, वह अपने सारे पाप-तापोंको उस धधकती हुई प्रेमाग्निमें भस्मकर परम अमृत—परम शान्तिको प्राप्त करता है।

इसका यह अभिप्राय नही कि मनुष्य गृहस्थी छोड़ दे—कर्त्तव्य-कर्म छोड़ दे; यहाँ गृहस्थ या संन्यासीका सवाल नही है, प्रश्न है जगत्के त्यागका—जगत्के इस मायामय वर्तमान रूपके नष्ट कर देनेका—इस प्रपञ्चको जला देनेका। इसके स्थानमें भगवान्को बैठा दीजिये, जगत्की जगह श्रीहरिकी प्रतिष्ठा कीजिये, जगत्-पत्थरको खोकर हरि-हीरेको प्राप्त कीजिये और उसीकी इच्छासे, उसीकी सामग्री से और उसीके साधनसे उसके सब रूपोमें उसीकी सेवा करते रहिये। फिर कुछ छोड़ने-ग्रहण करनेका सवाल ही नही रह जायगा।

यह भावुकता या कल्पना नही है, ऐसा किया जा सकता है—हो सकता है। जीवनका ध्येय निश्चित करके विरोधी भोग-पदार्थोमें वैराग्य कीजिये, फिर आप ही जीवन हरिमय होने लगेगा। फिर हरि-प्रेमकी आगमें कूदनेमे भय नही होगा, प्रत्युत उत्साह होगा, जल्दी-से-जल्दी कूद पड़नेके लिये तलमलाहट पैदा होगी और हम उसमें बिना आगा-पीछा किये कूद ही पड़ेंगे; क्योंकि वैराग्यके बादकी यही सीढी है।

वाद भगवदनुरागही रह जाता है। यह भगवदनुराग ही मनुष्यको भगवत्स्वरूपतक पहुँचानेका सर्वोत्तम साधन है। जिसके हृदयमें भगवदनुरागकी जितनी अधिक मात्रा होती है, वह वाह्य जगत्‌की निम्न प्रकृति से ऊँचा उठकर उतना ही अधिक अन्तर जगत्—अध्यायत्म-जगत्‌की उच्च भूमिकामें प्रवेश करता है। तव उसे पता लगता है कि इस स्थितिके सामने वहिर्जगत्‌की ऊँची-से-ऊँची स्थिति भी तुच्छ और नगण्य है, परन्तु यहीं उसकी दिव्यधाम-यात्राका मार्ग समाप्त नहीं होता, इससे अभी वहुत ही ऊँचे उठना है और क्रमशः ज्यों-ज्यों ऊँची भूमिकामें प्रवेश होगा, त्यों-ही-त्यों क्रमशः नीचेकी भूमिकाओंका आनन्द, सुख, ऐश्वर्य, शक्ति, मति, ज्ञान आदि सब निम्न श्रेणीके और तुच्छ प्रतीत होते रहेंगे, आखिरी मञ्जिल तै करनेपर परमात्माके स्वप्रकाशित नित्य विशुद्ध राज्यमें—उस दिव्य धाममें प्रवेश होगा, जहाँका वर्णन कोई कर नहीं सकता, जो इस जगत्‌की किसी भी वस्तुसे तुलना करके नहीं वतलाया जा सकता। यहाँके चन्द्र-सूर्य जहाँ प्रवेश नहीं कर पाते। इसीका इशारा भगवान्‌के इन वाक्योंमें है—

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥
अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

(गीता ८। २०-२१)

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

(गीता १५। ६)

(प्रलयके समय जिस अव्यक्तमें समस्त जगत् लय होता है और पुनः सृष्टि-कालमें जिस अव्यक्तसे उत्पन्न हो जाता है) उस अव्यक्तसे भी अति परे एक दूसरी सनातन सत्-चित्-आनन्दमय अव्यक्त सत्ता है, जो सब भूतोंके नष्ट होनेपर भी नष्ट नहीं होती, इसीसे उसे अव्यक्त और अक्षर कहते हैं, उसीको परम गति कहते हैं, जिसको पाकर कोई लौटते नहीं, (उस स्थितिसे कभी नीचे नहीं उतरते) वह मेरा परम धाम है। उस स्वप्रकाशित परम सत्ताको न सूर्य प्रकाशित कर सकता है और न चन्द्रमा और न अग्नि ही। उस परम पदको पाकर कोई वापस नहीं लौटते, वही मेरा परम धाम है।

श्रुति भी इशारा करती है—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥
(कठ० २। २। १५)

उस स्वप्रकाश आनन्दस्वरूप सत्ताको सूर्य, चन्द्र, तारा और विद्युत्-समूह प्रकाशित नहीं कर सकते। प्रत्युत उसीके प्रकाशमें सूर्य, चन्द्र प्रभृति प्रकाश पाते हैं; क्योंकि उसीके तेजसे यह समस्त जगत् प्रकाशित है।

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥

योगी (भगवदनुरागी) पुरुष इस रहस्यको जानकर वेद, यज्ञ, तप और दान आदिसे जो पुण्य फल होता है, (इनके फलसे जिन उच्च भूमिकाओंमें स्थान मिलता है) उन सवको लाँघकर निश्चय ही सनातन परम धामको प्राप्त होता है।

क्षणभङ्गुर मनुष्य-देह इसी उद्देश्यकी सिद्धिके लिये मिला है, इसीसे इसको दुर्लभ कहा है; ऐसे वरदानस्वरूप विवेकसम्पन्न मनुष्यदेहको प्राप्त करके यदि कोई उस विवेकको केवल शरीर सजाने और फैशन वनानेमें ही खर्च करे तो वह अत्यन्त ही दयनीय है। इस वातको स्मरण रखना चाहिये कि मनुष्य-देहसे जीव सन्मार्गमें चलनेपर जैसे उन्नतिके अत्युच्च शिखरपर चढ़ सकता है, वैसे ही कुमार्गमें पड़कर, विषयासक्त होकर, इन्द्रियोंका गुलाम वनकर यह अवनतिके गहरे गड्ढेमें भी गिर सकता है, क्योंकि मनुष्य जीवन कर्म-योनि है, इस जीवनमें—

'कर्म प्रधान विस्व करि राखा। जो जस करै सो तस फल चाखा॥

—की उक्ति चरितार्थ होती है। इस जीवनमें जीव पाप-पुण्य, वन्धन-मुक्तिका साधन कर सकता है। अपने विवेक और वलको चाहे जिस कार्यमें खर्चकर उसीके अनुरूप फलका भागी हो सकता है।

यह मनुष्य-विवेकके दुरुपयोगका ही फल है, जो मनुष्येतर प्राणियोंके लिये आज मनुष्य सवसे वड़ा घातक हो गया है। मनुष्यने अपने दैहिक सुखके लिये ही एक-एक इञ्च भूमिपर, जङ्गलके प्रत्येक पेड़पर अपना अधिकार कर लिया है, जिससे वन्य पशु-पक्षियोंकी वुरी गति हो रही है। रेल, मोटर, वड़ी-वड़ी मिलें, कारखाने, हवाईजहाज, वड़े-वड़े महल आदि मानवी

सुखके सामानोंने इतर प्राणियोंके जीवनको विभीषिकामय और दुःखमय बना दिया है। इस विशाल दानवी कार्योंके प्रारम्भ, विस्तार और सञ्चालनमे कितनी जीवहिंसा होती है, इसका तो कोई हिसाब ही नही! चूल्हे-चक्कीमें होनेवाली प्राणिहिंसाके पापसे मुक्त होनेके लिये नित्य पञ्च-महायज्ञ करनेवाली आर्य-जातिके महापुरुषोंने बड़ी-बडी मशीनोंकी चक्कियोंके जीव-घातक कार्योंसे बचनेका क्या उपाय सोचा है, कुछ पता नहीं। यही नही, आज मनुष्य-सुखके लिये विविध भाँतिसे जीवोंका संहार किया जा रहा है और उसको आवश्यक कार्य समझकर सभी ओरसे उत्साह प्रदान किया जाता है। रेशमके कारखाने, चमड़ेके कारखाने, जूतोंके कारखाने और विदेशी दवाइयोंके कारखाने आदिको देखन-सुननेसे इस बातका पता चल सकता है। मनुष्यने अपने विवेकका यहीतक दुरुपयोग नही किया, अपने ही जलनेके लिये उसने अपने अन्दर भी दुःखकी आग सुलगा दी। विद्या-बुद्धिसे युक्त कहलानेवाले कुछ इने-गिने मनुष्योंने अपने व्यक्तिगत शारीरिक सुखके लिये बड़े-बड़े दानवी यन्त्र और कारखानोंके द्वारा अगणित गरीबोंके मुँहका टुकड़ा छीनकर उन्हें तबाह करना शुरू कर दिया। परिणाममें आत्मकलहका जो युद्ध आज मनुष्य-जातिमें छिड़ गया है, उसका कितना भयानक फल होगा, इस बातको कौन बता सकता है? विवेकके दुरुपयोगसे उत्पन्न उच्छृङ्खलतासे आज सभी ओर अशान्ति हो रही है। परलोक और भगवान्‌को भूलकर प्रायः सभी मनुष्य आज अपने-अपने क्षुद्र सुखके लिये छटपटा रहे हैं और मोहान्ध होकर परिणामज्ञानसे शून्य-से हो दानवोचित साधनोंतकको अपना रहे हैं। क्या यही मनुष्य-जीवनका

ध्येय है ? बड़ी गलती की जा रही है। शीघ्र चेतना चाहिये। मानव-जीवनको पशु या असुर-जीवनमें परिणत न कर इसे देव या भागवत-जीवन बनाना चाहिये। हृदयमें ईश्वरका अधिष्ठान समझकर उसीकी प्रसन्नताके लिये उसके अनुसार चलना चाहिये। यह स्मरण रखना चाहिये, पापकी प्रेरणा हृदयस्थ ईश्वरकी आज्ञा नहीं है। वह तो हमारे हृदयमें छिपे हुए काम, क्रोध, लोभ, अज्ञान प्रभृति असुरोंकी प्रेरणा है, जो भगवान्‌की विस्मृति कराकर हमें भयानक नरकाग्निमें जलानेके लिये हमारे अन्दर डेरा डाले हुए हैं। इन असुरोंको पहचानकर इनसे बचना चाहिये। वैराग्यके शस्त्रसे इन्हें मारना चाहिये। वैराग्यका उदय—वास्तविक विरागकी उत्पत्ति तभी होगी, जब हमारे जीवनका ध्येय निश्चित हो जायगा, जब हमारी बुद्धि मोहके कलिलसे निकल जायगी। जब उसे सांसारिक उन्नति और सांसारिक सुखोंका वास्तविक स्वरूप दीख जायगा।

इसीके लिये सत्सङ्ग, सत्-शास्त्राध्ययन, यम-नियम आदिकी आवश्यकता है। मनुष्य-जीवन बहुत थोड़ा है, प्रतिक्षण हमारे जीवनका नाश हो रहा है, अनेक प्रकारकी विघ्न-बाधाएँ सामने हैं, अतएव बहुत ही शीघ्र उस उपायमें लग जग जाना चाहिये, जिससे हम तुरन्त ही अपने जीवनका ध्येय निश्चित कर उसको पानेके लिये गुरु और शास्त्रकथित मार्गपर आरूढ़ होकर चलना आरम्भ कर दें।

भगवत्-कृपापर विश्वास करके जीवनको उनकी सेवामें लगा दीजिये, फिर देखिये, उनकी कृपासे सारी कठिनाइयाँ आप ही दूर हो जाती हैं।

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।

विषय और भगवान्

संसारके विषयोंमें न मालूम कैसी मोहनी है, देखते और सुनते ही मन ललचाता है, उनकी प्राप्तिके लिये अनेक उचित, अनुचित उपाय किये जाते हैं, मनुष्य मोहवश मन-ही-मन सोचता है कि इनकी प्राप्तिसे सुख हो जायगा, परन्तु उसका विचार कभी सफल होता ही नहीं। कितने ही लोगोंके जीवन तो अभीष्ट विषयकी प्राप्ति होनेके पूर्व ही पूरे हो जाते हैं। सारा जीवन विषय-सुखके लोभमें अनन्त प्रकारकी मानसिक और शारीरिक विपत्तियोंको सहन करते-करते ही चला जाता है। किसीको कोई मनचाही वस्तु मिलती है, तब एक बार तो उसे कुछ सुख-सा प्रतीत होता है, परन्तु दूसरे ही क्षण नयी कामना उत्पन्न होकर उसके चित्तको हिला देती है और फिर तुरन्त ही वह अशान्त और व्याकुल होकर उसको पूरी करनेकी चेष्टामें लग जाता है। यह पूरी होती है तो फिर तीसरी उदय हो जाती है। सारांश यह कि कामनाओंका तार कभी टूटता ही नहीं, वह बराबर बढ़ता चला जाता है। इसका कारण यह है कि संसारका कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है, जो पूर्ण और सारे अभावोंको सदा-सर्वदा मिटा देनेवाला हो। और जबतक अभाव-का अनुभव है, तबतक सुखकी प्राप्ति असम्भव है। सारा संसार इसी अभावके फेरमें पड़ा हुआ है। अच्छे-अच्छे विद्वान्, बुद्धिमान् और चिन्ताशील पुरुष इस अभावकी पूर्तिके लिये ही चिन्तामग्न

हैं। युग वीत गये, नाना प्रकारके नवीन-नवीन औपाधिक आविष्कार हुए और रोज-रोज हो रहे हैं; परन्तु यह अभाव ऐसा अनन्त है कि इसका कभी शेष होता ही नहीं। वड़ी कठिनतासे, वड़े पुरुषार्थसे, वड़े भारी त्याग और अध्ययनसे मनुष्य एक अभावको मिटाता है, तत्काल ही दूसरा अभाव हृदयमें न मालूम कहाँसे आकर प्रकट हो जाता है। यों एक-एक अभावको दूर करनेमें केवल एक ही जीवन नहीं, न-मालूम कितने जन्म वीत गये हैं, वीत रहे हैं और अभावकी जड़ न कटनेतक वीतते ही रहेंगे। कलमी पेड़की डालोंको काटनेसे वह और भी अधिक फैलता है, इसी प्रकार एक विषयकी कामना पूरी होते ही—उसके कटते ही न मालूम कितनी ही नयी कामनाएँ और जाग उठती हैं। किसी कङ्गालको राज्य पानेकी कामना है, वह उसकी प्राप्तिके लिये न मालूम कितने जप, तप, विद्या, वुद्धि, वल, परिश्रम आदिका प्रयोग करता है। उसे कर्मकी सफलताके रूपमें यदि राज्य मिल जाता है तो राज्य मिलते ही अनेक प्रकारकी ऐसी आवश्यकताएँ उत्पन्न हो जाती हैं, जिनका वह पहले विचार भी नहीं कर सका था। अव उन्हीं आवश्यकताओंकी पूर्तिकी कामना होती है और वह फिर वैसा ही दुखी वन जाता है। इसलिये आवश्यकता है अभावकी जड़ काटकर ऐसी वस्तुको प्राप्त करनेकी, जो नित्य, पूर्ण, सत् और सर्वाभावशून्य हो, जिसे पाकर मनुष्य कृतकृत्य हो जाता हो, आप्तकाम और पूर्णकाम हो जाता हो, अभावकी आग सदाके लिये वुझ जाती हो। यह सत् और पूर्ण वस्तु केवल परमात्मा है, परन्तु उस परमात्माकी प्राप्ति तवतक नहीं होती, जवतक जगत्के विषयोंका

मोह त्यागकर मनुष्य परमात्माको पानेके लिये एकान्त इच्छुक नहीं हो जाता। जो इस परम वस्तुको पानेके लिये व्याकुल हो उठता है, उसके हृदयसे भोगोंकी शक्ति नष्ट हो ही जाती है, क्योंकि जहाँ भगवान्का प्रेम रहता है, वहाँ भोग-कामना उसी प्रकार नहीं ठहर सकती जिस प्रकार सूर्यके सामने अन्धकार नहीं ठहरता।

जो चाहो हरि मिलनको, तजो विषय विष मान।
हिय में बसैं न एक सँग, भोग और भगवान ॥

जिन्हें भगवान्के मिलनकी चाह है उन्हे और समस्त इच्छाओंकी जड़ बिल्कुल काट डालनी पड़ेगी। परन्तु वह जड़ बड़ी मजबूत है, केवल बातोंसे उसका कटना सम्भव नहीं, उसके काटनेके लिये वैराग्यरूपी दृढ़ शास्त्रकी आवश्यकता है। विषय-वैराग्य हुए बिना कामनाका नाश नहीं होता। इसके लिये बड़े ही प्रयत्नकी आवश्यकता है। तनिकसे प्रयत्नमे घबरा जानेसे काम नहीं चलेगा। जब संसारके साधारण नाशवान् पदार्थोंको पानेके लिये मनुष्यको बहुत-से त्याग करने पड़ते है, तब अविनाशी परमात्माकी प्राप्तिके लिये तो विनाशी वस्तुमात्रका त्याग कर देना आवश्यक है ही। ऐसा कौन-सा कष्ट है जो अपने इस परम ध्येयकी प्राप्तिके लिये मनुष्यको नहीं सहना चाहिये। जो थोड़ेमें ही घबरा उठते हैं, उनके लिये इस पथका पथिक बनना असम्भव है। यहाँ तो तन-मन और लोक-परलोककी बाजी लगा देनी पड़ती है। सब कुछ न्योछावर कर देना पड़ता है उस प्रेमीके चारु चरणोपर ! महात्मा श्रीकृष्णानन्दजी महाराज कहा करते थे—

एक धनी जमींदारका नौजवान लड़का किसी महात्माके पास जाया करता था, साधु-सङ्गके प्रभावसे उसके मनमें कुछ वैराग्य पैदा हो गया, उसकी महात्मामें बड़ी श्रद्धा थी, वह प्रेमके साथ महात्माकी सेवा करता था। कुछ दिन बीतनेपर महात्माने कृपा करके उसे शिष्य बना लिया, अब वह बड़ी श्रद्धाके साथ गुरु महाराजकी सेवा-शुश्रूषा करने लगा। कुछ दिनतक तो उसने बड़े चावसे सारे काम किये, परन्तु आगे चलकर धीरे-धीरे उसका मन चञ्चल हो उठा, संस्कारवश पूर्वस्मृति जाग उठी और कई तरहकी चाहोंके चक्करमें पड़नेसे उसका चित्त डावाँडोल हो गया। उसे महात्माके सङ्गसे बहुत लाभ हुआ था, परन्तु इस समय कामनाकी जागृति होनेके कारण वह उस लाभको भूल गया और उसके मनमे विषाद छा गया। एक दिन वह दोपहरकी कड़ी धूपमें गङ्गा-जलका घड़ा सिरपर रखकर ला रहा था, रास्तेमें उसने सोचा कि मैंने कितना साधु-सङ्ग किया, कितनी गुरु-सेवा की, कितने कष्ट सहे, परन्तु अभीतक कोई फल तो नहीं हुआ। कहीं यह साधु ढोंगी तो नहीं है? इतने दिन व्यर्थ खोये!*

* जो साधक थोड़ेमें ही बहुत ऊँची स्थिति प्राप्त करनेकी आशा कर बैठता है उसके मनकी इस प्रकारकी दशा समय-समयपर हुआ करती है, यह साधनमें विघ्न है, ऐसे समय घबराकर साधनको छोड़ नहीं बैठना चाहिये। धीरता और दृढ़ताके साथ बिना उकताये साधन किये जाना ही साधकका कर्तव्य है, सच्चे साधकको तो यह विचारनेकी कोई आवश्यकता ही नहीं होती कि मेरी उन्नति हो रही है, या नहीं। जो हरिभजन और गुरुशुश्रूषाके बदलेमें उन्नति चाहता है और उन्नतिकी कामनासे ही हरिभजन और गुरुशुश्रूषा करता है, वह तो हरिभजन और गुरुशुश्रूषारूपी सहज

यह विचारकर उसने घड़ा जमीनपर रख दिया और भागनेका विचार किया। गुरु महाराज बड़े ही महात्मा पुरुष थे और परम योगी थे। उन्होंने शिष्यके मनकी बात जानकर उसे चेतानेके लिये योगबलसे एक विचित्र कार्य किया।

धर्मको—प्रेमके परम कर्तव्यको उन्नतिके मूल्यपर बेचता है, वह सौदागर है, हरिभक्त और शिष्य नहीं। भक्त और शिष्यका तो केवल यही कर्तव्य है कि गुरूपदिष्ट मार्गसे निष्कामभावसे विशुद्ध प्रेमके साथ स्वाभाविक ही साधन करता रहे। मैं साधन कर रहा हूँ, ऐसी भावना ही मनमें न आने दे। ऐसी भावनासे अपने अन्दर साधनपनका अभिमान उत्पन्न होगा और साधनके फलकी स्पृहा जाग्रत् हो उठेगी, ईश्वरेच्छासे इच्छित फल न मिलने या विपरीत परिणाम होनेपर उसके मनमें साधन और साधन बतलानेवाले सद्गुरुके प्रति शङ्का और अश्रद्धा हो जायगी, जिसका फल यह होगा कि वह साधनसे गिर जायगा। सच्चे साधकको फलकी चिन्ता ही न करनी चाहिये, फलकी बात भगवान् जानें, उसे फलसे कोई मतलब नहीं, अनुकूल हो तो हर्ष नहीं और प्रतिकूल हो तो शोक नहीं। भगवान् कहते हैं—

'न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।'

—जिस वस्तुको लोग प्रिय समझते हैं उसकी प्राप्तिमें तो वह हर्षित नहीं होता, और जो वस्तु लोगोंकी दृष्टिमें बहुत ही अप्रिय है, उसको पाकर वह दुःखित नहीं होता। वह तो जानता है केवल अनन्यभावसे भजन करना, उसे लाभ-हानि, स्वर्ग-नरक, सिद्धि-असिद्धि और मोक्ष-बन्धनसे कोई लेन-देन नहीं। यदि भजन होता है तो वह सभी अवस्थाओंमें सदा परम सुखी है। उसके मनमें यदि कोई विपत्ति है, तो यही है कि जब किसी कारणवश प्रभुका स्मरण छूट जाता है—

'कह हनुमंत बिपति प्रभु सोई। जब तव सुमिरन भजन न होई॥'

—वह तभी भयानक मनःपीड़ासे छटपटाता है। जब उसे प्रियतमकी पलभरकी विस्मृति हो जाती है, तब—'तद्विस्मरणे परमव्याकुलता'।

उनकी योगशक्तिसे मिट्टीके जड घड़ेमेंसे मनुष्यकी भाँति आवाज निकलने लगी। घड़ेने पुकारकर पूछा, 'भाई ! तुम कहाँ जा रहे हो ?' शिष्यने कहा, 'इतने दिन यहाँ रहकर सत्सङ्ग किया, परन्तु कुछ भी नहीं मिला, इससे इसे छोड़कर कहीं दूसरी जगह जा रहा हूँ।' घड़ेमेंसे फिर आवाज आयी, 'जरा ठहरो, मेरी कुछ वातें मन लगाकर सुन लो, मैं तुम्हें अपनी जीवनी सुनाता हूँ, उसे सुननेके वाद जाना उचित समझना तो चले जाना।' शिष्यके स्वीकार करनेपर घड़ा वोलने लगा—'देखो, मैं एक तालावके किनारे मिट्टीके रूपमें पड़ा था, किसीकी भी कुछ भी वुराई नहीं करता था, एक जगह चुपचाप पड़ा रहता था, लोग आकर मेरे ऊपर मल-त्याग कर जाते, सियार-कुत्ते विना वाधा पेशाव करते। मैं सभी कुछ सहता, मनका दुःख कभी किसीके सामने नहीं कहता। मेरा किसीके साथ कोई वैर नहीं था, तो भी न मालूम क्यों एक दिन कुम्हारने आकर मुझपर तीखी कुदालका वार किया, मेरे शरीरको जहाँ-तहाँसे काटकर अपने घर ले गया। वहाँ वड़ी ही निर्दयतासे मूसलोंकी मार मारकर मेरा चकनाचूर कर डाला, पैरोंसे रौंदकर मेरी वड़ी ही दुर्दशा की। फिर वह एक चक्रमें डालकर मुझे घुमाने लगा, वड़ी मुश्किलसे जव घूमनेसे पिण्ड छूटा, तव मैंने सोचा कि अव तो इस विपत्तिसे छुटकारा होगा, परन्तु परिणाम उलटा ही हुआ। कुम्हारने कुछ देरतक पीटकर मुझे कड़ी धूपमें डाल दिया और फिर जलती हुई आगमें डालकर जलाने लगा। अन्तमें वह मुझे एक दूकानपर रख आया, मैंने समझा कि अव तो छूट ही जाऊँगा,

लेकिन फिर भी नहीं छूट सका। वहाँ मुझे जो कोई भी लेने आता, ठोंककर बजाये बिना नहीं हटता, यों लोगोंकी थप्पड़ खाते-खाते मेरे नाकोंदम हो गया। इस प्रकार कितना ही काल बीतनेपर मैं इस साधुके आश्रममें पहुँच सका हूँ, यहाँ मुझे पवित्र गङ्गाजलको हृदयपर धारणकर भगवान्‌की सेवा करनेका मौका मिला है। इतने कष्ट, इतनी भयानक यातनाएँ भोगनेके बाद कहीं मैं परम प्रभुकी सेवा में लग सका हूँ। जीवनभर महान् दुःखोंकी चक्कीमें पिसनेपर ही आज विश्वनाथकी चरण-सेवाका साधन बनकर धन्य हो सका हूँ। भाई! उन्नतिके—यथार्थ उन्नतिके ऊँचे सिंहासनपर चढ़नेवालेको प्रथम बाधा-विघ्न-जनित भयानक निराशाके थपेड़े, अटल, अचलरूपसे सहने पड़ते हैं, शून्यताके घोर जलशून्य मरुस्थलको स्थिर धीर भावसे लाँघकर आगे बढ़ना पड़ता है। इस अग्निपरीक्षामें उत्तीर्ण होनेपर फिर कोई भय नहीं है। अतएव मेरे भाई! तुम निराश न होओ, जितना दुःख या कष्ट आये, जितनी ही अधिक निराशा, शून्यता, अभाव और अन्धकारकी काली-काली घटाएँ जीवनाकाशमें चारों ओर फैल जायँ, उतना ही तुम भगवान्‌की ओर अग्रसर हो सकोगे। यातनाकी अग्निशिखा जितनी ही अधिक धधकेगी, तुम उतने ही शान्तिधामके समीप पहुँचोगे।' घड़ेके सदुपदेशसे शिष्यकी आँखें खुल गयीं, उसने अपनी पूर्व स्थितिके साथ वर्तमान स्थितिकी तुलना की तो उसे साधना और गुरुसेवाका प्रत्यक्ष महान् फल दिखायी दिया। वह घड़ेको उठाकर गुरुकी कुटियाको चल दिया और वहाँ पहुँचकर गुरुके चरणोंमें लोट गया।

इस दृष्टान्तसे यह समझना चाहिये कि हमें यदि

चित्, आनन्द, नित्य निरञ्जन परमात्माको प्राप्त करना है तो किसी भी विपत्ति और कष्टसे घबराना नहीं चाहिये। संसारी विपत्तियाँ और कष्ट तो इस मार्गमें पद-पदपर आयेंगे। वास्तवमें अपने मनसे सारे भोगोंका सर्वथा नाश ही कर देना पड़ेगा। विरागकी आगमें विषयोंकी पूर्णाहुति दे देनी पड़ेगी। भगवान् तो कहते हैं—

यस्तु मां भजते नित्यं वित्तं तस्य हराम्यहम्।
करोमि वन्धुविच्छेदं स तु दुःखेन जीवति॥
संतापेष्वेषु कौन्तेय यदि मां न परित्यजेत्।
ददामि स्वीयपदं च देवानामपि दुर्लभम्॥

'जो मेरा प्रेमसे भजन करता है, मैं उसके वित्तको (उसकी सम्पत्तिको) हर लेता हूँ (सम्पत्तिसे केवल रुपये ही नहीं समझने चाहिये, जिसका मन जिस वस्तुको सम्पत्ति समझता है वही उसकी सम्पत्ति है—जैसे लोभी धनको, कामी स्त्रीको और मानी मानको सम्पत्ति मानता है) और उसका भाइयोंसे, घरवालोंसे विच्छेद करवा देता हूँ, इससे वह बड़े ही दुःखसे जीवन काटता है। इतना सन्ताप प्राप्त होनेपर भी जो मेरा त्याग नहीं करता, प्रेमसे मेरा भजन करता ही रहता है, उसे मैं अपना देव-दुर्लभ परमपद प्रदान कर देता हूँ।' श्रीमद्भागवतमें एक दूसरी जगह भगवान् कहते हैं—

यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः।
ततोऽधनं त्यजन्त्यस्य स्वजना दुःखदुःखितम्॥
स यदा वितथोद्योगो निर्विण्णः स्याद्धनेहया।
मत्परैः कृतमैत्रस्य करिष्ये मदनुग्रहम्॥

तद्ब्रह्म परमं सूक्ष्मं चिन्मात्रं सदनन्तकम् ।
अतो मां सुदुराराध्यं हित्वाऽन्यान्भजते जनः ॥
ततस्त आशुतोषेभ्यो लब्धराज्यश्रियोद्धताः ।
मत्ताः प्रमत्ता वरदान् विस्मरन्त्यवजानते ॥
(१० । ८८ । ८—११)

'जिसपर मैं कृपा करता हूँ, उसके सारे धन (रत्न-धन, स्वर्ण-धन, गो-धन, कीर्ति-धन) आदिको शनैः-शनैः हर लेता हूँ, तब उस दुःखोंसे घिरे हुए निर्धन मनुष्यको उसके स्वजन लोग भी छोड़ देते हैं । यदि फिर भी वह घरवालोंके आग्रहसे धन कमानेका कोई उद्योग करता है तो मेरी कृपासे उसके सारे उद्योग व्यर्थ हो जाते हैं । तब वह विरक्त होकर मत्परायण भक्तोंके साथ मैत्री करता है, तदन्तर उसपर मैं अनुग्रह करता हूँ, उसे मुझ परमसूक्ष्म, सत्-चैतन्य-घन, अनन्त परमात्मा-की प्राप्ति होती है । इसीलिये लोग मेरी आराधनाको कठिन समझकर दूसरोंको भजते हैं और उन शीघ्र ही प्रसन्न होनेवाले दूसरोंसे राज्यलक्ष्मी पाकर उद्धत, मतवाले और असावधान होकर अपने उन वरदान देनेवालोंको भूलकर उन्हींका अपमान करने लगते हैं ।'

इसका यह अभिप्राय नहीं कि जिनके पास धन है, उनपर भगवत्की कृपा और उन्हें भगवत्प्राप्ति होती ही नहीं । अवश्य ही जबतक धनका अभिमान है और धनमें आसक्ति है, तबतक भगवत्कृपा और भगवत्प्राप्ति नहीं होती । जिन्होंने अपना माना हुआ सर्वस्व भगवान्के चरणोंमें अर्पण कर दिया, जिनकी सारी अहंता-ममतापर भगवान्का अधिकार हो गया, वे

ही धन रहते हुए भी अकिञ्चन हैं, ऐसे धनी अकिञ्चनोंपर भगवान्‌की कृपा अवश्य ही है। त्याग मनसे ही होना चाहिये। परन्तु जो लोग मनसे त्याग नहीं करते, जिनके अहङ्कार और ममत्वकी बीमारी बहुत बढ़ी हुई होती है, उन्हींके लिये भगवान् कृपाकर उपर्युक्त दिव्योपधिकी व्यवस्था कर उन्हें रोगसे छुड़ाते हैं।

अतएव भगवान्‌के विधान किये हुये प्रत्येक फलमें मनुष्यको आनन्दका अनुभव होना चाहिये। जो हमारे परम पिता हैं, परम सुहृद् हैं, परम सखा हैं, परम आत्मीय हैं, उनकी प्रेमभरी देनपर जो मनुष्य मन मैला करता है, वह प्रेमी कहाँ है, वह परमात्माकी प्राप्तिका साधक कहाँ है, वह तो भोगोंका गुलाम और कामका दास है। ऐसे मनुष्यको नित्य, परम सुखरूप समस्त अभावोंका सदाके लिये अभाव कर देनेवाले 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती। इसलिये प्रत्येक कष्ट और विपत्तिको भगवान्‌के आशीर्वादके रूपमें आदरपूर्वक सिर चढ़ाना चाहिये और सब विषयोंसे मन हटाकर सच्ची लगनसे एक चित्तसे उस परम सुहृद् परमात्माकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करना चाहिये।

हमलोग बहुत ही भूलमें हैं जो सर्वाधार भगवान्‌को छोड़कर बाह्य विनाशी वस्तुओंके पीछे भटक-भटककर अपना अमूल्य मानव-जीवन व्यर्थ खो रहे हैं। कामनाके इस दासत्वने—आठों पहरके भिखमङ्गेपनने हमें बहुत ही नीचाशय बना दिया है। हम बड़े ही अभिमानसे अपनेको 'महत्त्वाकाङ्क्षा' वाला प्रसिद्ध करते हैं, परन्तु हमारी वह महत्त्वाकांक्षा होती है प्रायः उन्हीं पदार्थोंके

लिये जो विनाशी और वियोगशील हैं। असत् और अनित्यकी आकांक्षा—महत्वाकाङ्क्षा कदापि नहीं है। हमें उस अनन्त, महान्‌की आकाङ्क्षा करनी चाहिये, जिसके सङ्कल्पमात्रसे विश्व चराचरकी उत्पत्ति और लय होता है और जो सदा सबमें समाया हुआ है। जबतक मनुष्य उसे पानेकी इच्छा नहीं करता, तबतक उसकी सारी इच्छाएँ तुच्छ और नीच ही हैं। इन तुच्छ, नीच इच्छाओंके कारण ही हमें अनेक प्रकारकी यातनाओंका शिकार बनना पड़ता है। यदि किसी प्रकार भी हम अपनी इन इच्छाओंका दमन न कर सकें तो कम-से-कम हमें अपनी इन इच्छाओंकी पूर्ति चाहनी चाहिये—भक्तराज ध्रुवकी भाँति—उस परम सुहृद् एक परमात्मासे ही। माँगना ही है तो फिर उसीसे माँगना चाहिये, उसीका 'अर्थार्थी' भक्त बनना चाहिये, जिसके सामने इन्द्र, ब्रह्मा सभी हाथ पसारते हैं और जो अपने सामने हाथ पसारनेवालेको अपनाकर उसे बिना पूर्णताकी प्राप्ति कराये, बिना अपनी अनूप-रूप-माधुरी दिखाये कभी छोड़ना ही नहीं चाहता। परम भक्तवर गोसाईं श्रीतुलसीदासजी महाराज कहते हैं—

जाकें बिलोकत लोकप होत, बिसोक लहैं सुरलोग सुठौरहि।
सो कमला तजि चंचलता, करि कोटि कला रिझवै सिरमौरहि॥
ताको कहाइ, कहै तुलसी, तूँ सज्जाहि न मागत कूकुर-कौरहि।
जानकी-जीवनको जनु ह्वै जरि जाउ सो जीह जो जाचत औरहि॥
जग जाचिअ कोउ न, जाचिअ जौं, जियँ जाचिअ जानकीजानहि रे।
जेहि जाचत जाचकता जरि जाइ, जो जारति जोर जहानहि रे॥
गति देखु बिचारि बिभीषनकी, अरु आनु हिएँ हनुमानहि रे।
तुलसी! भजु दारिद-दोष-दवानल, संकट-कोटि-कृपानहि रे॥



सच्चा भिखारी

जग जाचिअ कोउ न, जाचिअ जौं,
जियँ जाचिअ जानकीजानहि रे।
जेहि जाचत जाचकता जरि जाइ,
जो जारति जोर जहानहि रे॥
गति देखु बिचारि बिभीषनकी,
अरु आनु हिएँ हनुमानहि रे।
तुलसी! भजु दारिद-दोष-दवानल,
संकट-कोटि-कृपानहि रे॥

सारा संसार भिखारी है, सदासे भिखारी है, कुछ परमात्माके प्रेम-पागलोंको छोड़कर संसारमें ऐसा कोई नहीं जिसे कुछ भी न चाहिये। कोई भी अपनी स्थितिसे सन्तुष्ट नहीं है, इसीलिये जीव सदासे भिक्षापरायण है; परन्तु उसकी भीखकी झोली कभी भरती नहीं। वह माँग-माँगकर जितना ही झोलीमें डालता है उतनी ही उसकी झोली खाली होती जाती है। अतएव उसका भिखारीपन कभी नहीं मिटता। कारण यही है कि वह माँगना नहीं जानता, वह उनसे माँगता है जो स्वयं भिखारी हैं या उन वस्तुओंको माँगता है जो सदा अभावमयी हैं। इसलिये मित्रो! यदि माँगते-माँगते थक गये हो, अपमान सहते-सहते तुम्हारे प्राण व्याकुल हो उठे हों तो एक बार उस

गानकीजीवन श्रीरामसे माँगकर देखो! प्रसिद्ध परमहंस स्वामी कृष्णानन्दजीने एकवार कहा था—

असली भिखारी जगत्में द्वार-द्वारपर तभीतक भटकता है, जबतक कि उसकी भीखकी झोली पूर्ण परमात्माके कृपा-कणोंसे नहीं भर जाती। भीखके लिये ही भगवान्ने हमें अन्तःकरणरूपी भीखकी झोली दी है, परन्तु हम भीख माँगना नहीं जानते। इसीसे संसारके कीचड़से सने हुए घृणित चावलोंकी कनीसे ही झोली भर रहे हैं। जिस पवित्र अन्नसे अमृतपूर्ण भोजन वन सकता है, उसका तो एक कण भी हमें नहीं मिला। आओ भिखारी! एक वार कल्पतरुके नीचे खड़े हो मनचाही चीज माँग लो! सदाके लिये माँग लो! अपने रीते जीवन-कमण्डलुको अमृत रससे भर लो। 'माँ' 'माँ' पुकारकर, 'प्राण-प्रिय प्रियतम' पुकारकर, 'जगत्-पति' के नामसे पुकारकर वाणी सफल कर लो! उस त्रिभुवन-मोहन रूपकी माधुरीधारासे नयनोंको धो डालो, दर्शनकी तृष्णा मिटा लो। अपने मन, प्राण और इन्द्रियसमूहके प्रत्येक परमाणुको सुधासिन्धुके विन्दु-पानसे मतवाला वना दो। माँग लो, इस मनुष्य-शरीरके रहते-रहते ही। फिर सूअर होकर माँगना न पड़े, वहाँ तो विष्ठाकी ही भीख मिलेगी। अरे मनुष्य! जल्दी करो, 'नीके दिन बीते जा रहे हैं।' मनुष्य-वृत्तियोंसे पूर्ण अन्तःकरणरूपी पात्रमें ही उस राजराजेश्वरसे मनकी वस्तु माँगकर सदाके लिये तृप्त हो जाओ! अपने इस पवित्र पात्रको उसके प्रसादसे भर लो। तुम्हारी अनन्तकालकी कमी और कामना सदाके लिये पूरी हो जायगी। अच्छे अवसरकी प्रतीक्षामें जन्मको न गँवाओ।

भिखारीपर ही भगवान्‌की कृपा हुआ करती है। दीनता ही भगवान्‌की कृपादृष्टिको आकर्षित करती है, अभाव ही भाव-शक्तिका आह्वान करता है। सर्वशून्य दरिद्रता ही दयाके पूर्ण प्रकाशका प्रधान कारण है। अतएव सच्चा भिखारी वन सकना दुर्दशाकी वात नहीं, किन्तु वड़े सौभाग्यका विषय है; परन्तु प्रकृत भिक्षुक वनना वहुत ही कठिन है। ऐसा होनेके लिये अभिमानको भगा देना पड़ता है, अहङ्कारको चूर्ण कर देना पड़ता है। जिसका हृदय अभिमानसे भरा है वह क्या कभी यथार्थ अभावग्रस्त भिखारी वन सकता है? अभिमानसे अभिभूत हृदयमें क्या कभी दीनता टिक सकती है? महाप्रभु कहते हैं—

तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना।

तृणकी अपेक्षा भी दीन और वृक्षके समान सहनशील बनकर भगवान्‌की सेवा करनी चाहिये। वड़ी कठिन बात है। इसीसे लोग इस पथपर नहीं चल सकते।

वास्तवमें भिखारी होना, नम्र वनना, निरभिमान होना जितना कठिन है, भगवान्‌को प्राप्त करना उतना कठिन नहीं है। एक सच्ची घटना है। एक आधुनिक सभ्यताभिमानी वावू साहव वीमार हुए, वहुत तरहसे इलाज करवाया गया, परन्तु कुछ भी लाभ नहीं हुआ। ऐलोपैथिक, होमियोपैथिक, वैद्यक, हकीमी आदि सभी तरहके इलाज हुए परन्तु रोग दूर नहीं हुआ। अन्तमें श्रद्धालु गृहिणीकी सलाहसे देवकार्य करना निश्चय हुआ। पण्डितजीने सूर्यकी उपासना वतलायी। कहा कि 'वावूजी प्रतिदिन प्रातःकाल सूर्यनारायणको साष्टाङ्ग प्रणाम करके अर्घ्य दें।' वावूने कहा,

'साष्टाङ्ग प्रणाम कैसा होता है, मैं नहीं जानता, आप दिखला दें।' पण्डितजीको तो अभ्यास था ही, उन्होंने पृथ्वीपर लेटकर साष्टाङ्ग प्रणामकी विधि बतला दी। इस प्रणामका ढङ्ग देखकर बाबू बड़े असमञ्जसमें पड़ गये, परन्तु क्या करें, बड़े कष्टसे घुटने नीचे किये, माथा भी कुछ झुकाया परन्तु जमीनपर पड़नेकी कल्पना आते ही वे दुखी हो गये। उन्होंने उठकर पण्डितजीसे कहा—'महाराज! बीमारी दूर हो या न हो, मुझसे ऐसा बेढङ्गा प्रणाम नहीं होगा।' सारांश यह कि, जिसके शरीर-मन-प्राण अभिमानके विषसे जर्जरित हैं, वह देवताके चरणोंमें अपना सिर क्यों झुकायेगा? जगत्‌में जो पार्थिव अभिमान फूट निकला है, महारुद्रके संहार-शूलका दर्शन किये बिना वह मुरझायेगा नहीं। ऐसे अभिमानका त्याग करना जितना कठिन है, भगवान्‌को प्राप्त करना उतना कठिन नहीं है। जो चीज बहुत दूर होती है, उसीका मिलना कठिन होता है। भगवान् जगत्-प्रभु तो तुम्हारे निकटसे भी निकट देशमें रहते हैं, परन्तु वे तुम्हारे पास क्यों आवें? तुम तो स्वयं ही प्रभु (अहं) बन रहे हो। जगत्प्रभुके लिये तुमने जो हृदयासन बिछा रक्खा है, वह तो बहुत ही क्षुद्र है। इतने छोटे आसनपर वे और तुम दोनों एक साथ नहीं बैठ सकते।

इसीसे गोसाईंजी महाराजने कहा है—

जहाँ राम तहँ काम नहिं, जहाँ काम नहिं राम।
'तुलसी' कबहुँ कि रहि सके, रबि रजनी इक ठाम॥

जहाँ श्रीराम रहते हैं, वहाँ काम या विषय-परायण 'अहम्' *नहीं रह सकता और जहाँ यह काम*

नहीं रहते। सूर्य और रात्रि कभी एक साथ रह सकते हैं? अतएव 'मैं' और 'भगवान्' दोनों अन्धकार-प्रकाशकी भाँति एक साथ नहीं रह सकते। 'मैं' इस पदको हटाना पड़ेगा। तभी 'वे' यहाँ पधारकर विराजित हो सकेंगे। वे तो दुर्लभ नहीं है। साधक! झूठमूठ ही भगवान्को दुर्लभ बताकर उनपर कलङ्क क्यों लगाते हो? वे तुम्हारे हृदय-देशमें निवास करनेके लिये आते हैं, परन्तु दरवाजा बन्द पाकर लौट जाते हैं, तुम्हारे हृदय-कपाट खुले नहीं रहते, इसीसे ध्यानके समय श्रीराधाकृष्णकी मूर्ति-से वे तुम्हारे 'सामने' खड़े रहते हैं। यह कलङ्क असलमें हमारा है, उनका नहीं।

भीख ही ऐश्वर्य-शक्तिको बुलाती है। जो 'भिक्षायां नैव-नैव च' कहते हैं, वे भ्रमसे ऐसा कहते हैं। यथार्थ भिखारी बन जानेपर तो ऐश्वर्य-शक्ति दौड़ी हुई आकर उसका आश्रय लेती है। इसीसे तो जगद्धात्री अन्नपूर्णा राजराजेश्वरी भिक्षुकप्रवर महादेवकी गृहिणी बनी हैं। महापण्डित महाप्रभुने भिखारी बनकर ही—कन्था-कौपीन धारण करके ही—तर्काभिमान चूर्ण करके ही अमूल्य 'नीलकान्त-मणि' को प्राप्त किया था। यह भिक्षा ही उसके राज्यकी व्यवस्था है। पूर्ण दीन, पूर्ण निरभिमानी हुए बिना वह प्रियतम नहीं मिल सकता है। दीन बनकर यही समझना होगा कि 'मेरा' कुछ भी नहीं है—वही मेरा सर्वस्वधन है। 'मैं' कुछ भी नहीं हूँ, विराट्रूपसे विश्वमें एकमात्र वही विराजित है। वास्तवमें वही तो सबकी सत्ता (आत्मा) रूपसे स्थित है। तुम और मैं (देहेन्द्रियादि जडपिण्ड) पीछेसे आकर उसको भगानेवाले कौन हैं? हमें इतना घमण्ड किस बातपर

हैं ? यह मनुष्यकी देह मिट्टीसे ही पैदा हुई है और एक दिन पुनः मिट्टी ही हो जायगी। फिर अभीसे मिट्टी क्यों नहीं वन जाते। भगवान्‌के सखा अर्जुनने मिट्टी होकर ही—दीन वनकर कहा था—

शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।

इसीलिये गीताका अमृतमय उपदेश देकर भगवान्‌ने उसके ज्ञानचक्षु खोल दिये। पूर्ण दीनतामय भावके सूक्ष्म सूत्रका अवलम्बन करके ही भावस्वरूप भगवान् प्रकट होते हैं। पापियोंके अत्याचारसे जव पृथ्वीपर दीनता छा जाती है, पुण्यका जब पूर्ण अभाव हो जाता है, तभी भगवान्‌का अवतार होता है। साठ हजार शिष्योंको साथ लेकर जिस समय ऋषि दुर्वासा वनमें पाण्डवों की कुटियापर पहुँचे, उस समय द्रौपदीके सूर्यप्रदत्त पात्रमें अन्नका एक कण भी नहीं था। उस पूर्ण अभावके समय—पूरी दीनताके कालमें—द्रौपदीने पूर्णरूप प्रभुको कातरस्वरसे पुकारकर कहा था—'हे द्वारकाधीश ! इस कुसमयमें दर्शन दो ! दीनवन्धो ! विपत्तिके इस तीरहीन समुद्रमे तुम्हें देखकर कुछ भरोसा होगा।' द्रौपदीकी आर्त-प्रार्थना सुनकर जगत्-प्रभु स्थिर नहीं रह सके। ऐश्वर्यशालिनी रुक्मिणी और सत्यभामाको छोड़कर भिखारिणी दरिद्रा द्रौपदीकी ओर दौड़े। द्वारकाके अतुलनीय ऐश्वर्यस्तम्भको भेदकर अरण्यवासी पाण्डवोंकी पर्णकुटीरमें विभूतिस्वरूपकी प्रखर प्रभा प्रकाशित हो गयी। द्रौपदीने कहा, 'नाथ ! क्या इतनी देर करके आना चाहिये ?' भगवान् वोले, 'तुमने मुझको द्वारकाधीशके नामसे क्यों पुकारा था, प्राणेश्वर क्यों नहीं कहा ? जानती नहीं हो, द्वारका यहाँसे कितनी दूर है ? इसीसे आनेमें देर हुई है।'

जो हमारे प्राणोंके अन्दरकी प्रत्येक क्रियाको जानते हैं, उनके सामने माँगनेके लिये मुंह खोलना बुद्धिमानी नहीं है। भीखकी झोली वगलमें लेकर दरवाजेपर खड़े होते ही वे दया करते हैं। वस, हमें तो चुपचाप उनकी सेवा करनी चाहिये। हम दीन-हीन कङ्गाल हैं, द्वारपर पड़े रहना ही हमारा कर्तव्य है। उनका कर्तव्य वे जानते हैं, हमें उसके लिये क्यों चिन्ता करनी चाहिये ? सेवकका दुःख-दर्द दूर करना चाहिये, इस वातको प्रभु स्वयं सोचेंगे, हमें तो मनमें भी कुछ नहीं कहना चाहिये। यही निष्काम-भिखारीकी भाषा है। यथार्थ भिखारी तो प्रभुके दर्शन पानेके लिये ही व्याकुल रहता है। उनका दर्शन होनेपर माँगनेकी नौवत ही नहीं आती, सारे अभाव पहले ही मिट जाते हैं, समस्त कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं। भिखारीकी घास-पातकी झोंपड़ी अमूल्य रत्नराशिसे भर जाती है। फिर माँगनेका मौका ही कहाँ रहता है ? श्रीमद्भागवतमें कथा है—

सुदामा पण्डित लड़कपनसे ही भगवान् श्रीकृष्णके सखा थे—दोनों मित्र एक ही गुरुजीके यहाँ साथ ही पढ़ा करते थे। विद्या पढ़ लेनेपर दोनोंको अलग होना पड़ा। वहुत दिन वीत गये। परस्पर कभी मिलना नहीं हुआ। भगवान् श्रीकृष्ण द्वारकाके राजराजेश्वर हुए और गरीव सुदामा अपने गाँवमें भीख माँगकर काम चलाने लगे। सुदामाकी गृहस्थी वड़ी ही कठिनतासे चलती थी। एक दिन उनकी स्त्रीने कहा,—'आप इतने वड़े पण्डित होकर भी कुछ कमाई नहीं करते। फिर इस विद्यासे क्या लाभ होगा ?' सुदामा वोले, 'ब्राह्मणी ! मेरी विद्या इतनी तुच्छ नहीं है कि मैं उसे केवल नगण्य धन कमानेमें

लगाऊँ ?' इसपर ब्राह्मणी बोली, अच्छी बात है आप इसे धन कमानेमें मत लगाइये ! परन्तु आप कहा करते हैं 'श्रीकृष्ण मेरे बालमित्र हैं', सुना है वे इस समय द्वारकाके राजा हैं, उनसे मिलनेपर तो सहज ही आपको खूब धन मिल सकता है।' सुदामाने कहा, 'तुम तो खूब सलाह दे रही हो ! भगवान्से मेरी मित्रता है, इसलिये क्या मैं उनसे धन माँगू ? मुझसे ऐसा नहीं होगा। मैं भक्तिको इतनी छोटी चीज नहीं समझता, जो तुच्छ धनके बदलेमें उड़ा दी जाय ! तुम पगली हो गयी हो इसीसे ऐसा कह रही हो।' ब्राह्मणी बोली, 'स्वामिन् ! मैं कहाँ कहती हूँ कि आप उनके पास जाकर धन माँगें। मैं तो यही कहती हूँ, जब वे आपके बालसखा हैं, तब एक बार उनसे मिलनेमें क्या हानि है ? आप उनसे कुछ भी माँगियेगा नहीं।' स्त्रीके बहुत समझाने-बुझानेपर सुदामाने सोचा कि चलो, इसी बहाने मित्रके दर्शन तो होंगे और वे वहाँसे चल पड़े। थोड़ेसे चिउड़ोंकी कनी पल्ले बाँध ली।

सुदामाजी द्वारकाजी पहुँचे। वहाँके बड़े-बड़े सोनेके महलोंको देखकर उनकी आँखें चौंधिया गयीं। श्रीकृष्णके महल-पर पहुँचकर उन्होंने द्वारपालसे कहा कि, 'जाओ, अपने स्वामीसे कह दो कि आपके एक बालसखा मिलने आये हैं।' महलोंकी छटा देखकर गरीब ब्राह्मण सोचने लगा कि कहीं श्रीकृष्ण मुझे भूल तो नहीं गये होंगे। परन्तु अन्तर्यामीसे कुछ भी छिपा नहीं था। उनको पता लग गया कि पुराने प्राणसखा सुदामा द्वारपर खड़े हैं। भगवान् पलङ्गपर लेट रहे थे, श्रीरुक्मिणीजी चरण-सेवा कर रही थीं। भगवान् चमककर उठे और दरवाजेपर

खड़े हुए वाल-वन्धुको आदरके साथ अन्दर लिवा लानेके लिये दौड़े । पटरानियाँ भी पीछे-पीछे दौड़ीं ।

साधक ! तुम उनकी ओर एक पैर आगे वढ़ोगे तो वे तीन पैर वढ़ेंगे । उनकी अतुल दया ऐसी ही है । सखाको साथ लेकर भगवान् अन्तःपुरमें पधारे । पटरानियोंने मिलकर सुदामाके चरण धोये । उन्हें पलङ्गपर विठाकर भगवान् स्वयं चमर डुलाने लगे । भगवान्ने प्रेमसे कहा, 'सखे ! वहुत दिन वाद तुम मिले हो, मेरे लिये क्या लाये हो ?' सुदामाने लज्जासे सिर नीचा कर लिया । इतने वड़े धनीको चिउड़ोंकी टूटी कनी देते सुदामाको वड़ा सङ्कोच हुआ, परन्तु भगवान् श्रीकृष्णने उनकी वगलसे पुटलिया छीन ली और लगे चिउड़ा फाँकने । भक्तके प्रेमभरे उपहारकी वे उपेक्षा क्यों करते ? भगवान्ने एक मुट्ठी फाँककर ज्यों ही दूसरी हाथमें ली, त्योंही भगवती रुक्मिणीजीने उन्हें रोक लिया । भगवान् मुट्ठी छोड़कर मुसकराने लगे । तदनन्तर वे वोले—भक्तमाल-रचयिता महाराजा श्रीरघुराजसिंहजी कहते हैं—

ऐसे सुनि प्यारी वचन, जदुनन्दन मुसकाइ ।
मन्द मन्द वोले वचन, आनँद उर न समाइ ॥

व्रजमें यशोदा मैया मन्दिरमें माखन औ
मिश्री मही मोहन त्यों मोदक मलाई है ।
खायो मैं अनेक वार तैसे मथुरामें आइ,
व्यंजन अनेक मोहि जननी जेंवाई है ।
तैसे द्वारिकामें जदुवंशिन के गेह-गेह,
सहित सनेह पायो भोजन में लाई है ।

रघुराज आजलौं त्रिलोकहुमें मीत ऐसी ,
राउर के चाउर ते पाई ना मिठाई है ॥

खायो अनेकन यागन भागन मेवा-रमा कर भागन दीठे ,
देवसमाजके साधुसमाजके लेत निवेदन नाहि उबीठे ।
मीत जु साँची कहौ रघुराज इते कत मैं भये स्वाद ते सीठे ,
पायो नहीं कतहूं अस मैं जस राउर चाउर लागत मीठे ॥

सुदामाके चिउडोंकी महिमा वर्णन करनेके बाद सभी सुदामाजीकी सेवामें लग गये । कुछ दिन मित्रके घर रहनेके बाद सुदामाने विदा माँगी । भगवान्ने सङ्कोचसे अनुमति दे दी । ब्राह्मण खाली हाथों लौट चले । घरके पास पहुँचकर ब्राह्मणने देखा तो झोपड़ी नहीं है । वहाँ एक बड़ा सुन्दर महल बना हुआ है । ब्राह्मण सुदामाने सोचा, किसी राजाने जमीन छीनकर महल बनवा लिया होगा । ब्राह्मणको बड़ी चिन्ता हुई । फूसकी मड़ैया और पतिव्रता ब्राह्मणी भी गयी । इतनेमें सुदामा देखते हैं कि उनकी स्त्री महलके झरोखेमें खड़ी उन्हें पुकार रही है । ब्राह्मणने सोचा, दुष्ट राजाने ही स्त्रीको भी हर लिया है, पर वह बुला क्यों रही है ? ब्राह्मण डरकर दौड़े । बड़ी कठिनतासे नौकर उन्हें समझा-बुझाकर घरमें ले गये । गृहिणीने बहुत ही नम्रतासे चरणोंमें प्रणाम करके कहा, 'प्राणेश्वर ! डरें नहीं ! यह अतुल सम्पत्ति आपकी ही है, आपके मित्रने यह आपको भेंट की है ।' सुदामा बोले, 'मैंने तो उनसे कुछ माँगा ही नहीं था ।' ब्राह्मणीने कहा, 'आपने प्रत्यक्ष नहीं माँगा, इसीसे उन्होंने आपको प्रत्यक्षमें कुछ भी नहीं दिया ।' अन्तर्यामी यों ही किया करते है । ब्राह्मणकी दोनों आँखोंसे आँसुओंकी

धारा बह चली। प्राणसखाके प्रेमकी स्मृतिसे सुदामा भावावेशसे विह्वल हो गये।

जगत्! देख जाओ, आज इस कङ्गालके ऐश्वर्यको देख जाओ! जो कल राहका भिखारी था, वही आज रत्नसिंहासनपर आसीन है। देख जाओ! आज पर्णकुटीरमें त्रिभुवनव्यापिनी माधुरी छा रही है। संसार! तुम जिस भिखारीको उपेक्षाकी दृष्टिसे देखते थे, जिसको पद-दलित समझते थे, देख जाओ, आज वही भिखारी दीनताके रूपको भेदकर अखिल विश्वब्रह्माण्डमें वरणीय हो गया है।

भिखारी! जगत्की चुटकियोंकी ओर न देखो। जगत्के अपमानकी ओर दृष्टि मत डालो। विविध विपत्तियोंसे डरकर मत काँपो। तुम अपना काम अचल चित्तसे किये जाओ। जितने ही बाधा-विघ्न और सङ्कट बढ़ेंगे, उतना ही यह समझो कि तुम्हें गोदमें लेनेके लिये जगत्-जननीका हाथ तुम्हारी ओर बढ़ रहा है। स्नेहमयी माता पुत्रको गोद लेनेसे पहले अँगोछेसे उसके शरीरको रगड़-रगड़कर साफ करती है। साधक! इसी प्रकार जगज्जननी भी तुम्हें गोदमें लेनेसे पूर्व एक बार रगड़ेगी। इस रगड़से घबराना नहीं—डरना नहीं। यह समझना कि, इस वेदनासे तुम्हारी यम-वेदना विध्वंस हो गयी है। इस कष्टसे तुम्हारा सारा कष्ट नष्ट हो गया है, अतएव साधक! हताश न होना!



चोर-जार-शिखामणि

व्रजे वसन्तं नवनीतचौरं गोपाङ्गनानां च दुकूलचौरम् ।
अनेकजन्मार्जितपापचौरं चौराग्रगण्यं पुरुषं नमामि ॥

अहिमकरकरनिकरमृदुमुदितलक्ष्मी-
सरसतरसरसिरुहसदृशदृशि देवे ।
व्रजयुवतिरतिकलहविजयिनिजलीला-
मदमुदितवदनशशिमधुरिमणि लीये ॥

एक सज्जन पूछते हैं—'गोपालसहस्रनाम'में भगवान्का एक नाम 'चोर-जार-शिखामणि' आया है। चोरी और जारी दोनों ही अत्यन्त नीच वृत्तियाँ हैं। भगवान्के भक्तकी तो बात ही दूर, जब साधारण विवेकवान् पुरुष भी 'चोरी-जारी' से बचे रहते हैं, तब फिर भगवान्में चोरी-जारीका होना कैसे सम्भव है ? और यदि उसमें चोरी-जारी नहीं है तो फिर उनको चोर-जारोंका मुकुटमणि कहना क्या उन्हें गालियाँ देना नहीं है ? और यदि वास्तवमें भगवान्में चोरी-जारीका होना माना जा सकता है तो फिर वे भगवान् कैसे हुए और उनके आदर्शसे दुनियाके लोग डूबे बिना कैसे बचेंगे ? मेरी समझसे बुरी नीयतसे किसीने उनका यह नाम रख दिया है। इस सम्ब[illegible] मत जानना चाहता हूँ।

इसके उत्तरमें अल्पमतिके अनुसार कुछ लिखनेका प्रयत्न किया जाता है। प्रश्नकर्त्ता महोदयको इससे कुछ सन्तोष हुआ तो अच्छी बात है। नहीं तो, इसी बहाने कुछ समय भगवच्चर्चामें बीतेगा और इस सुअवसरकी प्राप्तिके कारण प्रश्नकर्त्ता महोदय हैं, इसलिये मैं तो उनका कृतज्ञ हूँ ही।

यह बात सर्वथा सत्य है कि 'चोरी' और 'जारी' बहुत ही नीच वृत्तियाँ हैं और ऐसी वृत्तियाँ जिन लोगोंमें हैं, वे कदापि विवेकवान् और सदाचारी नहीं हैं। भक्तमें ऐसे दुर्गुण रह ही नहीं सकते और भगवान्‌में तो इनकी कल्पना करना भी मूर्खता-की सीमा है। इतना होनेपर भी 'गोपालसहस्रनाम' में आया हुआ श्रीभगवान्‌का यह 'चोर-जार-शिखामणि' नाम न तो भगवान्‌को गाली देनेके लिये है और न किसीने बुरी नीयतसे ही इस नामको गढ़ लिया है। दृष्टिविशेषके अनुसार भगवान्‌में इस नामकी पूर्ण सार्थकता है और इसका रहस्य समझ लेनेपर फिर कोई शङ्का भी नहीं रहती।

सबसे पहले भगवान्‌का स्वरूप समझना चाहिए। स्वरूप-भूत दिव्यगुणविशिष्ट भगवान्‌में लौकिक गुणोंका—जो प्रकृतिसे उत्पन्न त्रिगुणके विकार हैं—सर्वथा अभाव है, इसलिये वे निर्गुण हैं। भक्तोंके परम आदर्श, लोकसंग्रहके आचार्य और विश्वके भरण-पोषण-कर्त्ता, होनेसे वे समस्त सात्त्विक गुणोंको अपनेमें धारण करते हैं, इसलिये वे अशेष सद्गुणालङ्कृत हैं और प्रकृतिके द्वारा अखिल जगत्-रूपमें इन्हींका प्रकाश होनेके कारण वे समस्त सदसद्गुणसम्पन्न हैं। भगवान् ही समस्त विश्वके निमित्त और उपादान कारण हैं। इस दृष्टिसे संसारके सभी भाव उन्हींसे

उत्पन्न होते हैं,* सभी भावोंका सम्बन्ध उनसे जुड़ा हुआ है। इतना होनेपर भी उनके स्व-स्वरूपमें कोई दोष नहीं आता। उनके द्वारा सब कुछ होनेपर भी वे किसीके बन्धनमें नहीं हैं।†

किसी दृष्टिविशेषके हेतुसे उन्हें यदि संसारसे सर्वथा पृथक् माना जाय तो फिर यह तो मानना ही पड़ेगा कि संसारमें जो कुछ है, सभी भगवान्का है; क्योंकि वे 'सर्वलोकमहेश्वर'‡ हैं, और संसारमें जितने भी पुरुष हैं, सबके देहमें 'देही' या आत्मारूपसे वे ही स्वयं विराजित हैं।£ इस दृष्टिसे समस्त संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंके सत्त्वपर अधिकार करनेसे और समस्त स्त्रियोंके पति होनेसे भी उनपर न तो परधनापहरणका दोष आ सकता है और न औपपत्यका ही।

परन्तु यहाँ सर्वलोकमहेश्वर और विश्वात्मारूपमें स्थित भगवान्के सम्बन्धमें प्रश्न नहीं है, यहाँ तो प्रश्नकर्त्ता महोदय विश्वात्मा और सर्वलोकमहेश्वरसे भिन्न समझकर उन साकार-मङ्गलविग्रह भगवान्के सम्बन्धमें पूछते हैं, जो धर्मसंस्थापनार्थ

---

* ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि ... ... (गीता ७ । १२)
अर्थात् सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणसे उत्पन्न होनेवाले जितने भाव हैं, सबको तू मुझसे ही (उत्पन्न) जान।

† न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय। (गीता ९ । ९)
अर्थात् हे अर्जुन ! वे कर्म मुझको नहीं बाँधते।

‡ सर्वलोकमहेश्वरम् (गीता ५ । २९)

£ अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः। (गीता १० । २०)
अर्जुन ! सब भूतोंके हृदयमें आत्मारूपसे मैं ही स्थित हूँ।

ही धरातलपर अवतीर्ण होते हैं। उनका कहना है कि 'धर्म-संस्थापनार्थ अवतार ग्रहण करनेवाले भगवान् क्या ऐसा कोई भी कार्य कर सकते हैं जो स्वरूपतः धर्मविरुद्ध हो और जिससे शुभ आदर्श नष्ट होनेके साथ ही धर्मस्थापनाके स्थानपर धर्मकी हानि होती हो।'

इसके उत्तरमें यों तो यह कहना भी सर्वथा युक्तियुक्त और सत्य ही है कि भगवान्पर माया-जगत्के धर्मका कोई बन्धन लागू नहीं पड़ता, वे सर्वतन्त्रस्वतन्त्र हैं। वे जो कुछ करते हैं, वही उनका धर्म है। और वे जो कुछ कहते हैं वही शास्त्र है। अवश्य ही उनकी क्रियाका अनुकरण करना हरेकके लिये न तो उचित है और न सम्भव ही है; क्योंकि भगवान्की क्रिया भगवान्के स्वधर्मानुकूल होती है। जीवमें भगवत्ता न होनेसे वह भगवान्के धर्मका आचरण नहीं कर सकता। भगवान् श्रीकृष्ण आग पी गये, वे वरुणलोकसे नन्दको ले आये, यमराजके यहाँसे गुरुपुत्रको लौटा लाये, उन्होंने दिनमें ही सूर्यको छिपा दिया, बाललीलामें कनिष्ठिका अँगुलीपर पहाड़ उठा लिया और अपने चरित्रोंसे ब्रह्माको भी मोहित कर दिया। जीव इनमेंसे कोई-सा भी कार्य नहीं कर सकता। इसीलिये भगवान्की क्रियाका अनुसरण भी मनुष्य नहीं कर सकता। हाँ, उनकी वाणीका—उनके उपदेशोंका पालन अवश्य करना चाहिये और इसीमें जीवोंका कल्याण है!

ऐसा होनेपर भी साकार-मङ्गलविग्रह भगवान्की लीलामें वस्तुतः ऐसी कोई क्रिया नहीं होती जो शास्त्रविरुद्ध हो या जिसे हम चोरी-जारी या किसी पापकी श्रेणीमें रख सकते हों। मोहवश मूढ़ लोग उनके स्वरूपको न समझनेके कारण ही उनकी क्रियाओं-

पर दोषारोपण कर वैठते हैं * । तव फिर इस 'चोरी-जारी' का क्या अर्थ है ? अब इसीपर संक्षेपमें विचार करना है । यों तो वेदोंमें भी भगवान्‌को 'स्तेनानां पतये नमः' चोरोंके सरदार कहकर प्रणाम किया गया है। भगवान् श्रीरामको भी प्राचीन सद्‌ग्रन्थोंके आधारपर श्रीरामस्वरूपके अनुभवी गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने 'लोचन सुखद विश्व-चितचोरा' कहा है । परन्तु प्रधानरूपसे यह 'चोर-जार-शिखामणि' नाम भगवान् श्रीकृष्णके लिये ही प्रयुक्त हुआ है । श्रीमद्भागवतके अनुसार यह स्पष्ट है कि श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं । 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' । गीतामें तो भगवान् श्रीकृष्णने अपने ही श्रीमुखसे वारम्वार अपनेको साक्षात् सर्वाधिपति सच्चिदानन्दघन परात्पर तत्त्व घोषित किया है । और इन भगवान्‌का 'चोर-जार-शिखामणि' नाम रक्खा गया है उन व्रज-गोपियोंके द्वारा, जिनके चरणोंकी पावन धूलि पानेके लिये देवश्रेष्ठ ब्रह्मा और ज्ञानिश्रेष्ठ उद्धव तिर्यगादि योनि और लता-गुल्मादि जड शरीर धारण करनेमें भी अपना सौभाग्य समझते हैं†,

---

* अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥
(गीता ९ । ११)

सब भूतोंके महेश्वररूप मेरे परमभावको न जाननेवाले मूढ़ मनुष्य ही मानव-शरीरधारी मुझ भगवान्‌को न पहचानकर मुझे तुच्छ समझते हैं ।

† तद् भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां
यद् गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम् ।
यज्जीवितं तु निखिलं भगवान् मुकुन्द-
स्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव ॥
(श्रीमद्भा० १० । १४ । ३

और स्वयं भगवान् जिनका अपनेको ऋणी घोषित करते हैं।*

गोपियोंके घर माखन खाकर और यमुनातटपर उनके वस्त्रोंको कदम्बपर रखकर भगवान् श्रीकृष्ण 'चोर' कहलाये। और शारदीया पूर्णिमाकी रात्रिको गोपियोंमें आत्मरमणकर भगवान् 'जार' कहलाये।

श्रीब्रह्माजी कहते हैं—'भगवन्! मुझे इस धरातलपर व्रजमें विशेषतः गोकुलमें किसी कीड़े-मकोड़ेकी योनि मिल जाय जिससे मैं गोकुल-वासियोंकी चरण-रजसे अपने मस्तकको अभिषिक्त करनेका सौभाग्य प्राप्त कर सकूं, जिन गोकुलवासियोंका जीवन आप भगवान् मुकुन्दके परायण है, जिनकी चरण-रजको अनादिकालसे अबतक श्रुति खोज रही है [परन्तु पाती नहीं]।'

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥
[श्रीमद्भा० १०।४७।६२]

वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः।
यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम्॥
[श्रीमद्भा० १०।४७।६४]

श्रीउद्धवजी कहते हैं—

'अहो! इन गोपियोंकी चरण-रजको सेवन करनेवाली वृन्दावनमें उत्पन्न हुई गुल्म, लता और ओषधियोंमेंसे मैं कुछ हो जाऊं, (जिससे उन गोपियोंकी चरण-रज मुझे भी प्राप्त हो) क्योंकि इन गोपियोंने बहुत ही कठिनतासे त्याग किये जाने योग्य स्वजनोंको और आर्यपथको त्यागकर भगवान् मुकुन्दके मार्गको प्राप्त किया है, जिनको श्रुतियाँ अनादिकालसे खोज रही हैं। मैं उन श्रीनन्दजीके व्रजकी स्त्रियोंकी चरण-रेणुको बार-बार नमस्कार करता हूँ, जिनका भगवान्की लीला-कथाओंका पान त्रिभुवनको पवित्र करता है।'

* न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या माभजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना॥
(श्रीमद्भा० १०।३२।२२)

परन्तु इस माखन-चोरी, चीर-चोरी और रास-रमणके प्रेमराज्य-सम्बन्धी रहस्यका किञ्चित् भी तत्त्व समझमें आ जाय तो फिर यह बात भलीभाँति जान ली जाती है कि न तो यह 'चोरी' वस्तुतः चोरी ही है और न वह 'रमण' कोई परस्त्रीमङ्गरूप व्यभिचार ही है।

शब्दोंको लेकर झगड़नेकी बात तो दूसरी है। तत्त्वज्ञ लोग शब्दोंपर ध्यान नहीं दिया करते, वे प्रसङ्गानुकूल उनके अर्थोंपर ध्यान देते है। वेदोमें और गीतामे भी अच्छे भावोमें 'काम' शब्दका प्रयोग हुआ है। भगवान् स्वय एकसे अनेक होनेकी 'कामना' करते है।* धर्मसे अविरुद्ध 'काम' को वे अपना स्वरूप बतलाते है।† गोपियोके दिव्य प्रेमको शास्त्रमें 'काम' कहा गया है।‡‡ श्रुतियोमे और गीतामे 'रति' शब्द आता है।£ गीतामें 'रमन्ति' शब्द भी आया है।— परन्तु इन सबका अर्थ ही दूसरा है। एक 'जन्म' शब्दको ही लीजिये।× गीतामें

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—'प्रियाओ! तुमने घरकी कठिन बेड़ियों-को तोड़कर मेरी सेवा की है, तुम्हारी इस साधुताका बदला मैं देवताओंकी आयुमें भी नहीं चुका सकता। तुम अपने ही उदारतासे मुझे इस ऋणसे मुक्त कर सकती हो।'

भगवान्‌के लिये 'जन्म' शब्द आता है। भगवान् अजन्मा हैं परन्तु वे स्वयं अर्जुनसे कहते हैं, मेरे कई जन्म हो चुके हैं साथ ही यह भी कहते हैं कि मेरे जन्मके तत्त्वको जाननेवाला 'जन्म' से छूट जाता है। जरा सोचना चाहिये, जिसके 'जन्म' के तत्त्वको जाननेवाला जन्मसे छूट जाता है, उसका जन्म क्या उसी जातिका जन्म है, जिस जातिका उस जन्मसे छूटनेवाले साधारण मनुष्यका जन्म होता है ? वह अजन्माका जन्म है। दिव्य जन्म है। जन्म होनेपर भी वस्तुतः वह जन्म नहीं है। इसी प्रकार भगवान्‌का 'काम' उनकी 'चोरी', उनकी जारी, उनकी 'रति', उनका 'रमण' आदि सभी दिव्य हैं। जिन भगवान्‌का अनन्य भजन करनेवाले मनुष्य गुणातीत हो जाते हैं, उन नित्य निर्गुण भगवान्‌में बहिरङ्गा प्रकृतिके मलिन विकाररूप दुर्गुणोंकी कल्पना करना मूर्खता नहीं तो और क्या है ?

तब फिर ये क्या हैं ? ये हैं भगवान् श्रीकृष्णकी स्वरूपभूता दिव्य लीलाएँ, जो दिव्य व्रजधाममें, दिव्य व्रजवासियों और दिव्य व्रजबालाओंके साथ दिव्य देहमें दिव्यरूपसे होती हैं। इनमें न प्राकृत चोरी है, न प्राकृत रमण है और न प्राकृत देह है। अधिक क्या, वहाँकी प्रकृति ही प्राकृत नहीं है। इसीलिये यह रहस्य हमारी प्राकृत बुद्धिके ध्यानमें नहीं आता। हमारी बुद्धि बहिरङ्गा प्रकृतिके कार्यरूप समष्टिबुद्धिका एक

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ (गीता ४ । ९)

अर्थात् 'अर्जुन ! मेरा जन्म और कर्म दिव्य है, इसको जो पुरुष तत्त्वतः जान लेता है, वह शरीरको त्यागकर फिर जन्मको नहीं प्राप्त होता, वह मुझको ही पाता है।'

अत्यन्त स्थूल रूप है, जो स्वयं प्रकृतिसम्भूत अज्ञानसे इतनी आच्छादित है कि अपने कारणरूप बहिरङ्गा प्रकृतिका भी रहस्य नहीं जान सकती, फिर इस प्रकृतिसे सर्वथा अतीत दिव्य-राज्यके खेलको यह बुद्धि कैसे समझ सकती है ? इसीलिये ऐसे शब्दोंको पढ़-सुनकर हमारी बुद्धिमें मोह होता है और हम श्रीभगवान्‌को अपने ही सरीखे प्राकृत शरीरधारी मनुष्य मानकर और उनकी दिव्य लीलाओंको प्राकृत मनुष्योचित लौकिक क्रिया समझकर उनपर दोषारोपणकर, मोहवश उनका अनुकरण करने जाकर या पापबुद्धिकी प्रेरणासे उनकी दिव्य लीलाओंकी आड़में अपने पापका समर्थन करनेकी चेष्टा कर घोर नरककुण्डमें गिर पड़ते हैं ! यह हमारा ही अज्ञान है। अप्राकृत भगवान्‌की अप्राकृत लीलाओंका रहस्य अप्राकृत स्थितिमें पहुँचनेपर ही कोई जान सकता है। इसीलिये गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने ब्रह्मभूत होनेके पश्चात् ही पराभक्तिके द्वारा अपने स्वरूपके यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति बतलायी है।* यह दुर्लभ स्थिति भगवत्कृपासे ही प्राप्त होती है। इस स्थितिमें पहुँचनेपर भगवान्‌की दिव्य लीलाओंका जो यथार्थ प्रत्यक्ष

* ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
(गीता १८ । ५४-५५)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

'ब्रह्मभूत होनेपर प्रसन्नात्मा पुरुष न तो किसी वस्तुके लिये शोक करता है, न किसीकी आकाङ्क्षा करता है, वह सब भूतोंमें समभावसे ब्रह्मको देखता है, तब उसे मेरी पराभक्ति प्राप्त होती है और उस पराभक्तिके द्वारा वह मेरे स्वरूप-तत्त्वको यथार्थरूपमें जानता है !'

होता है, वे मन-वाणीके अगोचर भगवत्स्वरूपमय होती हैं, उनका कोई भी वर्णन नहीं कर सकता।

हाँ, प्रेमराज्यके बाह्य स्तरकी कुछ स्थूल बातें, जो भगवत्कृपासे शुद्धान्तःकरणवाले पुरुषोंकी समझमें किसी अंशमें आ सकती हैं, उन्हींपर विचार किया जा सकता है और उनके अनुसार गोपियोंके घरमें दधि-माखनकी चोरीलीलाको हम भगवान्की 'भक्तपूजा-ग्रहण-लीला', वस्त्रचोरीको 'आवरण-हरण-लीला' और रास-रमणको अत्यन्त गोपनीय 'प्रेम-मिलन-लीला' कह सकते हैं।

भला, क्या कोई कह सकता है कि भगवान् श्रीकृष्णने किसी दिन भी किसी ऐसी गोपीके घरमें घुसकर माखन चुराया था जो उस माखनको अपनी चीज समझती थी और जो भगवान्के द्वारा उसके चुरा लिये जानेपर दुखी होती थी? श्रीकृष्णगतप्राणा, श्रीकृष्णभावित-मति गोपिकाओंका तन-मन-धन सभी कुछ श्यामसुन्दर प्राणप्रियतम श्रीकृष्ण का था। वे संसारमें जीती थीं श्रीकृष्णके लिये, घरमें रहती थीं श्रीकृष्णके लिये और घरके सारे काम करती थीं श्रीकृष्णके लिये। उनकी निर्मल और योगीन्द्रदुर्लभ पवित्र बुद्धिमे श्रीकृष्णके सिवा अपना कुछ था ही नहीं। श्रीकृष्णके लिये ही, श्रीकृष्णको सुख पहुँचानेके लिये ही, श्रीकृष्णकी निज सामग्रीसे ही श्रीकृष्णको पूज-कर—श्रीकृष्णको सुखी देखकर वे सुखी होती थीं। प्रातःकाल निद्रा टूटनेके समयसे लेकर रातको सोनेतक वे जो कुछ भी करती थीं सब श्रीकृष्णकी प्रीतिके लिये ही करती थीं। यहाँ तक कि उनकी निद्रा भी श्रीकृष्णमें ही होती थी। स्वप्न और

सुषुप्ति दोनोंमें ही वे श्रीकृष्णकी मधुर और शान्त लीला देखा करती थीं। रातको दही जमाते समय श्यामसुन्दरकी माधुरी छविका ध्यान करती हुई प्रेममयी प्रत्येक गोपिका यह अभिलाषा करती थी कि 'मेरा दही सुन्दर जमे, श्रीकृष्णके लिये उसे विलोकर मैं बढ़िया-सा और बहुत-सा माखन निकालूँ और उसे उतने ही ऊँचे छींकेपर रखूँ जितनेपर श्रीकृष्णका हाथ आसानी से पहुँच सके, फिर मेरे प्राणधन श्रीकृष्ण अपने सखाओंको साथ लेकर हँसते और क्रीडा करते हुए घरमें पदार्पण करें, माखन लूटें, आनन्दमें मत्त होकर मेरे आँगनमें नाचें और मैं किसी कोनेमें छिपकर इस लीलाको अपनी आँखोंसे देखकर जीवनको सफल करूँ।' रातभर गोपी इसी विचारमें रहती। प्रातःकाल जल्दी-जल्दी दही विलोकर माखन निकालकर छींकेपर रखती। कहीं प्राणधन आकर लौट न जायँ, इसलिये वह सब कामोंको छोड़कर सबसे पहले दही बिलोती और छींकेपर माखन रखनेके बाद श्रीकृष्णकी प्रतीक्षामें व्याकुल हुई मन-ही-मन सोचती,—'हा! आज प्राणधन क्यों नहीं आये, इतना विलम्ब क्यों हो गया! क्या आज इस दासीका घर पवित्र न करेंगे? क्या आज मेरे समर्पण किये हुए माखनका भोग लगाकर स्वयं सुखी होकर मुझे सुखी न करेंगे?' इन्हीं विचारोंमें आँसू बहाती हुई गोपी क्षण-क्षणमें दौड़कर दरवाजे-पर जाती; लज्जा छोड़कर राहकी ओर ताकती। 'श्यामसुन्दर आ रहे हैं या नहीं'—सखियोंसे पूछती। एक-एक निमेष उसके लिये युगके समान बीतता। भक्तवाञ्छाकल्पतरु भगवान् श्रीकृष्ण भी अनेक रूपोंमें एक ही साथ ऐसी प्रत्येक गोपीके घर पधारकर

भोग लगानेको सुखी देखकर सुखी होते और अपने सुखसे भक्तके सुखको अनन्तगुना बढ़ा देते !

अब आप ही बतलाइये, क्या इसका नाम चोरी है ? जिस चोरीको स्मृतियोंमें अपराध माना गया है, दूसरेके धनपर मन ललचानेवाले कामनाके गुलाम विषयासक्त पामर प्राणी जिस घृणित चोरीको अपना पेशा मानते हैं, क्या उस चोरीसे इस चोरीकी किसी अंशमें भी तुलना हो सकती है ? बड़े पुण्य-बलसे अनन्त जन्मोंके अनन्त सुकृतोंके फलस्वरूप भगवच्चरणोंमें मनुष्यकी मति होती है और उस निर्मल मतिसे साधना करते-करते भगवत्कृपासे कभी किसी भक्ति-विशेषके द्वारा ही भगवान्‌के प्रति सर्वस्व समर्पित होता है, तब कहीं गोपिकाओंके इस महान् आदर्शकी कोई छाया उसमें आती है। फिर स्वरूपभूता गोपिकाओंके साथ भगवान्‌की इस प्रेमलीलाको मामूली चोरी समझना बुद्धिभ्रमके सिवा और क्या हो सकता है ?

दूसरी चोरी भगवान् श्रीकृष्णने यमुना-तटपर उन महाभाग्यवती गोपकुमारियोंके वस्त्रोंकी की, जो कात्यायनी देवीकी साधना करके प्राणप्रियतम श्रीकृष्णको प्राणनाथ-रूपमें प्राप्त करना चाहती थीं। गोपियोंका भगवान्‌को प्राप्त करनेकी साधना करना भी प्रेमराज्यकी एक लीला ही थी। स्वरूपभूता गोपिकाओंको श्रीकृष्ण कब अप्राप्त थे ? प्रेमका मार्ग दिखलानेके लिये,—प्रेमराज्यमें प्रवेश किस प्रकार हो सकता है, कितने त्यागकी इसमें आवश्यकता है, इसीका दिग्दर्शन करानेके लिये ये सब लीलाएँ थीं ! जिस प्रेमराज्यकी माधुरी भक्तोंको चखाने के लिये साक्षात् रसराज रसिकशेखर श्रीकृष्णने

दिव्य परिकर और अपने दिव्यधामसहित अवतीर्ण होकर व्रजमें मधुर प्रेमलीलाएँ की थीं, उन्हींमें वस्त्रहरण भी एक अनोखी लीला थी । यह लीला अत्यन्त रहस्यमयी है। विषयोंके आपातरमणीय नरकराज्यसे निकलकर दिव्य प्रेमराज्यमें प्रवेश किये विना आनन्दसिन्धु रसराज श्रीकृष्णकी इस लीलाका रहस्य समझमें नहीं आ सकता । विषयमोहसे आवृत लौकिक दृष्टिसे तो भगवान्‌की इस दिव्य लीलामें दोष ही दिखलायी देगा और ऐसे लोगोंके लिये इतना ही उत्तर पर्याप्त है कि 'श्रीकृष्ण उस समय छः वर्षके बहुत छोटे बालक थे। किसी बुरी नीयतसे गोपियोंके वस्त्रोंको चुराना उनके लिये बन ही नहीं सकता । अथवा श्रीकृष्णने नदीमें नङ्गी होकर नहानेकी कुप्रथाको दूर करनेके लिये ऐसा किया था और इसीलिये उनसे कहा भी कि वस्त्रहीन होकर नहानेमें देवताओंका अपमान होता है;* ऐसा नहीं करना चाहिये । परन्तु प्रेममार्गके साधक भक्तोंके लिये यही बात नहीं है। उनके लिये तो भगवान् सर्वत्यागका—सारे आवरणोंको हटाकर अपने सामने आनेका पाठ सिखानेके लिये ही यह लीला करते हैं। भगवत्-तत्त्वके ज्ञानमें—मल और विक्षेपरूपी दो बड़े प्रतिबन्धकोंके नाश होनेपर भी—जबतक आवरण रहता है, तबतक बहुत बड़ी बाधा वर्तमान रहती है। आवरणका नाश सहजमें नहीं होता । अज्ञान इस सुकौशलसे जीवकी बुद्धिको ढके रखता है कि वह किसी तरह भी भगवान्‌के सामने निवारण—बेपर्द होकर जानेकी

* 'यूयं विवस्त्रा यदपो धृतव्रता व्यगाहतैतत्तदु देवहेलनम् ।'
(श्रीमद्भा० १० । २२ । १९)

अनुमति नहीं देती ! इस वस्त्र-हरणकी लीलामें भक्तके बाह्या-भ्यन्तर सभी प्रकारके आवरण नष्ट हो जानेका तत्त्व निहित है। आनन्द-सौन्दर्य-सुधा-निधि रसराजका चिदानन्द-रसमय रूप ही ऐसा मधुर है कि उसके सामने आनेपर किसी प्रकारकी सुधि नहीं रहती। देह-गेह, लज्जा-सङ्कोच, मान-अपमान, अपना-पराया, लोक-परलोक—सभी कुछ उस अनुपम रूपसरिताकी प्रखर धारामें बह जाते हैं। फिर बाह्य वस्त्रोंके आवरणकी तो बात ही क्या है ? गोपियोंमें बाह्याभ्यन्तर भगवान्के साथ कोई आवरण था—यह बात नहीं है। जिन श्रीकृष्णके एक बार सच्चे हृदयसे स्मरणमात्र करनेसे मायाके समस्त बन्धन सदाके लिये टूट जाते हैं, अज्ञानका मोटा पर्दा हमेशाके लिये फट जाता है, उन भगवान्का साक्षात् सङ्ग प्राप्त करनेवाली—उनके तत्त्वका नित्य अनुभव करनेवाली—उनकी दिव्य प्रेमलीलाओं-में सहायता करनेके लिये ही, उन्हींकी इच्छासे प्रकट होने-वाली उन्हींकी अपनी स्वरूपभूता दिव्य शक्तियें विभिन्न स्वरूपोंमें प्रकट हुई गोपिकाओंमें किसी आवरणकी कल्पना करना तो भगवदपराध ही है। गोपिकाओंकी और भगवान्की ये लीलाएँ तो प्रेममार्गीय भक्तोंके लिये आदर्श मार्गदर्शिकारूपमें हुई हैं ! जिस प्रेमके प्राकट्यमें तन-मनकी कुछ भी सुधि नहीं रहनी चाहिये, जिस प्रेमके दिव्य देशमें प्रेमास्पदके सामने उसकी प्राप्तिमें व्यवधानरूप या प्रेममें कलङ्करूप कोई भी आवरण नहीं रहना चाहिये, उस प्रेममें गोपिकाओंको आवरणरहित बनानेकी चेष्टामें भगवान्का वस्त्र-हरण-लीला करना कैसे दूषित हो सकता है ? जब साधारण लौकिक प्रेममें भी प्रेमी और प्रेमा-

स्पदमें किसी आवरणकी गुञ्जाइश नहीं, तब एक ही भगवान्के द्विविधरूप रसराज और महाभावके पूर्ण मिलनमें वस्त्रावरणकी बाधा कैसे रह सकती है? प्रेमसाम्राज्यके सम्राट्, प्रेमतत्त्वके मूलाधार दिव्यप्रेमविग्रह और समस्त जीवोंके आत्मारूप श्रीकृष्णके सामने कौन पर्देमें रह सकता है? अणु-अणुमें व्यापक विभु परमात्मा श्रीकृष्णके सामने अपना कोई भी अङ्ग कैसे छिपाकर रक्खा जा सकता है? मोहग्रस्त जीव अज्ञानवश अन्तर्यामीको न पहचानकर ही उनसे छिपने-छिपानेकी व्यर्थ चेष्टा किया करता है। परन्तु भक्त अपने आपेको उन्हींकी चीज मानकर उनके सामने खोल देता है और जहाँ भक्त होकर भी कोई इस आपेको खोलनेमें उसे किसी कारणसे सङ्कोच होता है, वहाँ भक्तवत्सल भगवान् स्वयं उसको निरावरण कर अपने और उसके बीचके व्यवधानको पूर्णतया दूर करके दृढ़ आलिङ्गनके साथ उसे अपने आनन्दमय रससिन्धुमें डुबोकर रसमय बनानेके उद्देश्यसे जबरदस्ती उसके आवरणको हर लेते हैं। यही वस्त्रहरणलीलाका स्थूल रहस्य है। क्या इस लीलामें किसी भी समझदार पुरुषको बुरी नीयतका सन्देह हो सकता है? क्या इस आवरण-भङ्गलीलाको कोई विज्ञ पुरुष चोरी कह सकते हैं?

भगवान् तो इतना ही नहीं करते, वे सबसे पहले तो भक्तके मनको चुरा लेनेका प्रयत्न करते हैं और जो भक्त भगवान्को अपना मन देना चाहता है अन्तमें उस मनको वे चुरा ही लेते हैं! जिसका मन चोरा गया वह फिर उस मनचोरसे अलग कैसे हो सकता है? इसीलिये गोपियोंकी लीलामें गोपियोंका श्रीकृष्णमें निरन्तर निवास दिखलाया जाता है। भक्तराज लीलाशुक चोरशिरोमणि बालकृष्णके लिये कहते हैं—

मा यात पान्थाः पथि भीमरथ्या
दिगम्बरः कोऽपि तमालनीलः ।
विन्यस्तहस्तोऽपि नितम्वविम्वे
धूर्तः समाकर्षति चित्तवित्तम् ॥

'अरे पथिको ! उस पथसे न जाना, वह गली बड़ी भयानक है। वहाँ अपने नितम्वविम्वपर हाथ रक्खे जो तमालके तुल्य नीलवर्णका एक दिगम्बर बालक खड़ा है, वह केवल देखनेमात्र को ही अवधूत है, असलमें तो वह अपने समीपसे निकलनेवाले किसी भी मुसाफिरके मनरूपी धनको लूटे विना नहीं रहता।' धन्य है इस चोरको और इसकी चित्तहरनी चोरीको !

अवतक तो चोरीके महत्त्वपर विचार हुआ, अव जारके अर्थ पर कुछ विचार करना है। यह वात तो पहले कही ही जा चुकी है कि सव जीवोंके आत्मा होनेके कारण भगवान्‌में कभी औपपत्य-की—जारपनेकी कल्पना ही नहीं हो सकती; परन्तु यहाँ साकार दिव्य मङ्गल-विग्रह भगवान्‌को जो 'जारशिखामणि' कहा गया—इसीपर विचार करना है। भगवत्सम्वन्धी रसोंमें प्रधान रस पाँच हैं—(१) शान्त, (२) दास्य, (३) सख्य, (४) वात्सल्य और (५) माधुर्य। इन पाँच रसोंका प्रयोग लौकिक प्रेममें भी होता है, परन्तु भगवान्‌के साथ सम्वन्ध होनेसे ये पाँचों रस भक्तिके या भगवत्-प्रेमके उत्तरोत्तर वढ़े हुए पाँच भाव वन जाते हैं। इन पाँचोंमें सवसे ऊँचा रस है—माधुर्य। माधुर्यमें शान्त, दास्य, सख्य और वात्सल्य चारों ही रहते हैं। यह रस प्रेमका सर्वोच्च विकसित रूप होनेसे अत्यन्त ही स्वादु है। इस रसके रसिक लोग भोग-मोक्ष सवको तृणवत् त्यागकर भगवत्प्रेममें

मतवाले रहते हैं। इसीसे इसका नाम मधुर है। शान्तरसमें शुद्धान्तःकरणकी भगवदभिमुखी वृत्तिका विकासमात्र होता है। दास्यमें भगवत्सेवाका तो अधिकार है, परन्तु भगवान् इसमें ऐश्वर्यशाली हैं, स्वामी हैं, सेव्य हैं और भक्त दीन है, दास है और सेवक है। इसमें कुछ अलगाव-सा है; भय और सङ्कोच-सा है। परन्तु सख्य, वात्सल्य और माधुर्यमें क्रमशः भगवान् अधिकाधिक निकटतम निजजन होते चले जाते हैं। सख्यमें ऐश्वर्य अप्रकट-सा और प्रेम प्रकट-सा रहता है। वात्सल्यमें ऐश्वर्यकी कभी-कभी छायासी आती है,—भक्तमें स्नेहका विकास रहता है और माधुर्यमें तो भगवान् अपने सारे ऐश्वर्यको भुलाकर-अपनी विभूतिको मिटाकर प्रियतम कान्तरूपमें भक्तके सामने प्रकट रहते हैं। इस रसमें न प्रार्थना है, न कामना है, न भय है और न सङ्कोच है। समयविशेषपर प्रसङ्गानुकूल व्यवहारमें पूर्वोक्त चारों रसोंके दर्शन होनेपर भी प्रधान रस मधुर ही रहता है। प्रियतम मेरा है और मैं प्रियतमका हूँ; उसका सब कुछ मेरा है और मेरा तो एकमात्र प्रियतमको छोड़कर और कुछ है ही नहीं। इस रसमें भगवान्‌की जो सेवा होती है वह मालिककी नहीं, प्रियतमकी होती है। प्रियतमके सुखी होनेमें ही प्रेमीको अपार सुख है, इसलिये सेवा भी अपार ही होती है। इस माधुर्यभावमें दो प्रकार हैं—स्वकीया और परकीया। अपनी स्त्रीके साथ विवाहित पतिका जो प्रेम होता है उसे स्वकीया-भाव कहते हैं और अन्य स्त्रीके साथ जो पर पुरुषका प्रेमसम्बन्ध होता है उसे परकीयाभाव कहते हैं। लौकिक प्रेममें इन्द्रियसुखकी प्रधानता होनेके कारण परक

यह सदा स्मरण रखना चाहिये कि यह परकीयाभाव केवल व्रजमें अर्थात् लौकिक विषयवासनासे सर्वथा विमुक्त दिव्य प्रेमराज्यमें ही सम्भव है ! इसीलिये श्रीचैतन्यचरितामृतमें कहा गया है—

परकीयाभावे अति रसेर उल्लास।
व्रज बिना इहार अन्यत्र नाहि वास ॥

सर्वोच्च मधुर रसके उच्चतम परकीयाभावका उल्लास व्रजको अर्थात् दिव्य प्रेमराज्यको छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं होता। इसलिये इस प्रेमराज्यके सम्राट् भगवान् श्रीकृष्ण व्रजको छोड़कर इस रूपमें अन्यत्र कहीं नहीं मिलते—

विचरते हैं, तब आपको न देख सकनेके कारण हमारे लिये एक-एक पल युगके समान बीतता है। फिर शामको जब वनसे लौटते समय हम घुँघराली अलकावलियोंसे सुशोभित आपके श्रीमुखको देखती हैं, तब हमें आँखोंकी पलक बनानेवाले ब्रह्मा मूर्ख प्रतीत होते हैं। (क्योंकि पलक पड़ना हमें सहन नहीं होता)।'

† या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः ॥
(श्रीमद्भा० १० । ४४ । १५)

'जो गोपियाँ गायोंका दूध दुहते समय, धान आदि कूटते समय, दही बिलोते समय, आँगन लीपते समय, बालकोंको पालना झुलाते समय, रोते हुए शिशुओंको लोरी देते समय, घरोंमें झाड़ू लगाते समय प्रेमभरे हृदयसे आँखोंमें आँसू भरकर गद्गद वाणीसे श्रीकृष्णका नाम-गुण-गान किया करती हैं, उन श्रीकृष्णमें चित्त निवेशित करनेवाली गोपरमणियोंको धन्य है।'

मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान्
स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकसः ॥

(श्रीमद्भा० १०।३३।३८)

अर्थात् व्रजवासियोंने रासमें गयी हुई अपनी पत्नियोंको अपने पासमें ही सोयी हुई देखा।

ये सब जाती हैं दिव्य भावदेहसे जो स्थूल, सूक्ष्म और कारणसे परे केवल व्रजप्रेमलीलाके सम्पादनार्थ ही प्रकट हुआ था और उन्हीं दिव्य-भावदेहोंमें सच्चिदानन्दघन, योगेश्वरेश्वर, साक्षात् मन्मथ-मन्मथ, आप्तकाम, सत्यकाम, पूर्णकाम, दिव्य, चिदानन्दमय मङ्गलविग्रह भगवान् [illegible] आश्रित करके रमणकी इच्छा करते हैं और प्रत्येक भावदेहरूपा चिदानन्दमयी गोपीके साथ एक ही साथ अनेक रूपोंमें प्रकट होकर रासक्रीडा करते और आत्मारामरूपसे रमण करते हैं। वह रमण किस प्रकारका होता है। इसपर मुनिवर [illegible] कहते हैं—

रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभि-
र्यथार्भकः [illegible]विम्बविभ्रमः ॥

[[illegible] १०।३३।[illegible]]

'जैसे बालक दर्पणमें [illegible]
स्वच्छन्द खेलता है, उसी [illegible]
व्रजसुन्दरियोंके साथ [illegible]
जाररूपकी स्थूल व्या[illegible]
परमात्माको और [illegible]
आदरणीय मिलन[illegible]

केवल दही, माखन और वस्त्र ही नहीं, समस्त गोपियोंके सम्पूर्ण मन-प्राणको चुरा लेनेके कारण और एक-दोके साथ नहीं किन्तु असंख्य देहोंमें, असंख्य आत्मारूपसे निवास करनेवाले परमात्माके खेलकी भाँति, अगणित चिदानन्दमयी गोपियोंके साथ आत्म-रमण करनेके कारण रसानुभूतिको प्राप्त भाग्यवती गोपियोंने डङ्केकी चोट भगवान् श्रीकृष्णको 'चोर-जार-शिखा-मणि' कहा और ठीक ही कहा !!

अवश्य ही कुछ विषयकामी पुरुषोंने भगवान्की इस दिव्यलीलाको लौकिक चोरी-जारी मानकर इसका दुरुपयोग किया और अब भी कर रहे हैं, परन्तु उनके ऐसा करनेसे न तो भगवान्के दिव्यभावमें कोई अन्तर पड़ सकता है और न गोपियों... का ही कुछ बिगड़ सकता है ! हाँ, बुरी नीयतसे कवितामें भावोंमें, आचरणमें, उपदेशमें और समझनेमें इसका दुरुपयो... करनेवाले नर-नारी अवश्य ही पापके भागी और नरकगा... होते हैं !



श्रीवृषभानुनन्दिनीसे प्रार्थना

सच्चिदानन्दघन दिव्यसुधा-रस-सिन्धु व्रजेन्द्रनन्दन राधा-वल्लभ श्यामसुन्दर श्रीकृष्णचन्द्रका नित्य निवास है प्रेमधाम व्रजमें और उनका चलना-फिरना भी है व्रजके मार्गमें। यह मार्ग चित्तवृत्तिनिरोध-सिद्ध महाज्ञानी योगीन्द्र-मुनीन्द्रोंके लिये अत्यन्त दुर्गम है। व्रजका मार्ग तो उन्हींके लिये प्रकट होता है, जिनकी चित्तवृत्ति प्रेमघन-रस-सुधा-सागर आनन्दकन्द श्री-कृष्णचन्द्रके चरणारविन्दोंकी ओर नित्य निर्बाध प्रवाहित रहती है,— जहाँ न निरा निरोध है और न उन्मेष ही, बल्कि दोनोंकी परम सीमाका अपूर्व मिलन है। इस पथपर अबाध विहरण करती हुई वृषभानुनन्दिनी रासेश्वरी श्रीश्रीराधारानीका दिव्य वसनाञ्चल विश्वकी विशिष्ट चिन्मय सत्ताको कृतकृत्य करता हुआ नित्य खेलता रहता है, किसी समय उस वसनाञ्चलके द्वारा स्पर्शित धन्यातिधन्य पवन-लहरियोंको अपने श्रीअङ्गसे स्पर्श पाकर योगीन्द्र-मुनीन्द्र-दुर्लभ-गति श्रीमधुसूदनपर्यन्त अपनेको परम कृतार्थ मानते हैं, उन श्रीराधारानीके प्रति हमारे मन, प्राण, आत्मा सबका नमस्कार!

यस्याः कदापि वसनाञ्चलखेलनोत्थ-
धन्यातिधन्यपवनेन कृतार्थमानी।
योगीन्द्रदुर्गमगतिर्मधुसूदनोऽपि
तस्या नमोऽस्तु वृषभानुभुवो दिशेऽपि॥

जो सबके हृदयान्तरालमें नित्य-निरन्तर साक्षी और नियन्तारूपसे विराजमान रहनेपर भी सबसे पृथक गोपवधू-विटरूपमें वर्तमान रहते हैं, जो समस्त व -

सर्वथा उच्छृङ्खलताको प्राप्त हैं, जिनके स्वरूपका सम्यक् ज्ञान ब्रह्मा, शङ्कर, शुक, नारद और भीष्मादि 'महतो महीयान्' पुरुषोंको भी नहीं है, अतएव वे हार मानकार मौन हो जाते हैं, उन सर्वनियमातीत, सर्ववन्धनविमुक्त, नित्य-स्ववश, परात्पर परम पुरुषोत्तमको भी जो श्रीराधिका-चरण-रेणु इसी क्षण वशमें करनेकी अनन्त शक्ति रखता है, उस अनन्तशक्ति श्रीराधिका-चरण-रेणुका हम अपने अन्तस्तलसे वार-वार भक्तिपूर्वक स्मरण करते हैं।

यो ब्रह्मरुद्रशुकनारदभीष्ममुख्यै-
रालक्षितो न सहसा पुरुषस्य तस्य।
सद्यो वशीकरणचूर्णमनन्तशक्ति
तं राधिकाचरणरेणुमनुस्मरामि ॥

विश्वप्रकृतिके प्रत्येक स्पन्दनमें विन्दुरूपसे जो विदग्ध-भाव, अनुराग, वात्सल्य, कृपा, लावण्य, रूप (सौन्दर्य) और केलिरस (माधुर्य) वर्तमान है—रासेश्वरी नित्य-निकुञ्जेश्वरी श्रीवृषभानुनन्दिनी उन्हीं सातों रसोंकी अनन्त अगाध उदधि हैं। इस प्रकार नित्यानन्दरसमय सप्त-समुद्रवती श्रीराधिका श्याम-सुन्दर आनन्दकन्दके नित्य दिव्य रमणानन्दमें अनादिकालसे ही उन्मादिनी हैं—नित्य कुलत्यागिनी हैं। इन्हींके सहज सरल स्वच्छभावके शुद्ध रससे, इन्हींके भावानुरागरूप दधिमण्डसे, इन्हींकी वात्सल्यमयी दुग्ध-धारासे, इन्हींकी परम स्निग्ध घृतवत् अपार कृपासे, इन्हींकी लावण्य-मदिरासे, इन्हींके छवि-रूप सुन्दर मधुर इक्षुरससे और इन्हींके केलिविलासविन्यासरूप क्षारतत्त्वसे समस्त अनन्त विश्वब्रह्माण्ड नित्य अनुरञ्जित, अनु-

प्राणित और ओतप्रोत हैं। ऐसी अनन्त विचित्र सुधारसमयी, प्राणमयी, विश्वरहस्यकी चरम तथा सार्थक मीमांसामूर्ति श्रीवृषभानुनन्दिनीका दिव्य स्फुरण जिसके जीवनमें नहीं हो पाया, उसका सभी कुछ व्यर्थ—अनर्थ है। देवी राधिके! अपने ऐसे दिव्य स्फुरणसे मेरे हृदयको कृतार्थ कर दो।

वैदग्ध्यसिन्धुरनुरागरसैकसिन्धु-
वात्सल्यसिन्धुरतिसान्द्रकृपैकसिन्धुः।
लावण्यसिन्धुरमृतच्छविरूपसिन्धुः
श्रीराधिका स्फुरतु मे हृदि केलिसिन्धुः॥

श्रीराधिके! वह शुभ सौभाग्य-क्षण कब होगा, जब तुम्हारे नाम-सुधा-रसका आस्वादन करनेके लिये मेरी जिह्वा विह्वल हो जायेगी, जब तुम्हारे चरणचिह्नोंसे अङ्कित वृन्दारण्यकी वीथियोंमें मेरे पैर भ्रमण करेंगे—मेरे सारे अङ्ग उनमें लोट-लोटकर कृतार्थ होंगे, जब मेरे हाथ केवल तुम्हारी ही सेवामें नियुक्त रहेंगे, मेरा हृदय तुम्हारे चरण-पद्मोंके ध्यानमें लगा रहेगा और तुम्हारे इन भावोत्सवोंके परिणामरूप मुझे तुम्हारे प्राणनाथके चरणोंकी रति प्राप्त होगी—मैं तुम्हारे ही सुख-साधनके लिये तुम्हारे प्राणनाथकी प्रणयिनी बननेका अधिकार प्राप्त करूँगा।

राधानामसुधारसं रसयितुं जिह्वास्तु मे विह्वला
पादौ तत्पदकाङ्कितासु चरतां वृन्दाटवीवीथिषु।
तत्कर्मैव करः करोतु हृदये तस्याः पद ध्यायतात्
तद्भावोत्सवतः परं भवतु मे तत्प्राणनाथे रतिः॥

श्रीराधाजी कौन थीं ?

प्रश्न–१.'ऐसा कहा जाता है कि श्रीराधाजी श्रीभगवान्‌की ह्लादिनी शक्ति या आदिशक्ति हैं। अगर श्रीभगवान्‌की आदि-शक्ति श्रीराधाजी हैं तो श्रीरुक्मिणीजी कौन शक्ति हैं ? हम-जैसे लोग जैसे श्रीसीताजीको आदिशक्ति मानते हैं, वैसे ही श्रीरुक्मिणीजीको भी। श्रीराधाजीका नाम श्रीमद्भागवतमें कहीं नहीं है। अगर आदिशक्ति थीं तो ये भगवान्‌के साथ क्यों नहीं रहीं ? लौकिक रीतिसे इनसे विवाह होना चाहिये था।'

प्रश्न–२.'गोपियोंका प्रेम शुद्ध कामरहित था या कैसा ?'

उत्तर–आपके प्रश्नोंका उत्तर देना बहुत ही कठिन है; क्योंकि मेरे विश्वासके अनुसार श्रीराधाकृष्णतत्त्व सर्वथा अप्राकृत है, इनका विग्रह अप्राकृत है, इनकी समस्त लीलाएँ अप्राकृत हैं, जो अप्राकृत क्षेत्रमें, अप्राकृत मन-बुद्धि-शरीरसे अप्राकृत पात्रोंमें हुई थीं।* अप्राकृत लीलाको देखने, सुनने, कहने और समझनेके लिये अप्राकृत नेत्र, कर्ण, वाणी और मन-बुद्धि चाहिये। अतएव

---

*श्रीभगवान्‌के देहादि यदि उस मायाके कार्य पञ्चमहाभूतोंसे निर्मित प्राकृत होते जो माया आवरणरूपा है, तो मायातीत, गुणातीत; आत्माराम मुनिगण भगवान्‌के सौन्दर्य, उनके अङ्ग-गन्ध, उनकी चरण-धूलिके लिये लालायित न होते।

मुझसा प्राकृत प्राणी, प्राकृत मन-बुद्धिसे कैसे इस तत्त्वको जान सकता है और कैसे प्राकृत वाणीमें उसका वर्णन कर सकता है ? अतएव इस सम्बन्धमें मैं जो कुछ भी लिख रहा हूँ, उससे किसीको यह न समझना चाहिये कि मैं जो कहता हूँ यही तत्त्व है, इससे परे और कुछ नहीं है; न यह मानना चाहिये कि मैं किसी मतविशेषपर आक्षेप करता हूँ, या किसी तार्किकका मुँह बन्द करनेके लिये ऐसा लिखता हूँ, अथवा आग्रहपूर्वक अपना विश्वास दूसरोंपर लादना चाहता हूँ। मेरा यह कहना कदापि नहीं है कि मेरी लिखी बातोंको पाठक मान लें। यह तो सिर्फ अपने विश्वासकी बात—शास्त्र और सन्तोंद्वारा सुनी हुई—अपने कल्याणके लिये लिखी जा रही है। जिन सज्जनने ये प्रश्न किये, उनका मैं हृदयसे कृतज्ञ हूँ; क्योंकि इसी बहाने मुझ क्षुद्रका थोड़ा-सा समय श्रीभगवान्‌की चर्चामें चला गया। मैं प्रश्नोत्तर और तर्कके लिये कोई बात नहीं लिख रहा हूँ। अतएव मेरी प्रार्थना है कि पाठकगण तर्क-बुद्धिका आश्रय कर मुझसे इसके सम्बन्धमें कोई प्रश्नोत्तरकी आशा कृपया न रक्खें। विवादमें तो मैं अपनी हार पहले ही स्वीकार कर लेता हूँ; क्योंकि मैं इस विषयपर तर्क करना ही नहीं चाहता। अवश्य ही मेरे विश्वासका बदलना तो अन्तर्यामी प्रभुकी इच्छापर ही अवलम्बित है।

परिपूर्णतम, परमात्मा, परात्पर, सच्चिदानन्दघन, निखिल ऐश्वर्य, माधुर्य और सौन्दर्यके सागर, दिव्य सच्चिदानन्दविग्रह आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्ण और भगवान् श्रीराममें कोई भी भेद नहीं मानता और इसी प्रकार भगवती श्रीराधाजी, श्रीरुक्मिणीजी और श्रीसीताजी आदिमें भी मेरी दृष्टिसे कोई

भेद नहीं है। भगवान्‌के विभिन्न सच्चिदानन्दमय दिव्य लीला-विग्रहोंमें विभिन्न नाम-रूपोंसे उनकी ह्लादिनी शक्ति साथ रहती ही है। नाम-रूपोंमें पृथक्ता दीखनेपर भी वस्तुतः वे सब एक ही हैं। स्वयं श्रीभगवान्‌ने ही श्रीराधाजीसे कहा है—

यथा त्वं राधिका देवी गोलोके गोकुले तथा।
वैकुण्ठे च महालक्ष्मीर्भवती च सरस्वती॥
भवती मर्त्यलक्ष्मीश्च क्षीरोदशायिनः प्रिया।
धर्मपुत्रवधूस्त्वं च शान्तिर्लक्ष्मीस्वरूपिणी॥
कपिलस्य प्रिया कान्ता भारते भारती सती।
द्वारवत्यां महालक्ष्मीर्भवती रुक्मिणी सती॥
त्वं सीता मिथिलायां च त्वच्छाया द्रौपदी सती॥
× × × × ×
रावणेन हृता त्वं च त्वं च रामस्य कामिनी॥

(ब्रह्मवैवर्तपुराण, कृष्णखण्ड, अ० १२६)

'हे राधे! जिस प्रकार तुम गोलोक और गोकुलमें श्रीराधिका-रूपसे रहती हो, उसी प्रकार वैकुण्ठमें महालक्ष्मी और सरस्वतीके रूपमें विराजमान हो। तुम ही क्षीरसागरशायी भगवान् विष्णुकी प्रिया मर्त्यलक्ष्मी हो। तुम ही धर्मपुत्रकी कान्ता लक्ष्मी-स्वरूपिणी शान्ति हो। तुम ही भारतमें कपिलकी प्रिय कान्ता सती भारती हो, तुम ही द्वारकामें महालक्ष्मी रुक्मिणी हो। तुम्हारी ही छाया सती द्रौपदी है। तुम ही मिथिलामें सीता हो। तुम्हींको रामकी प्रिया सीताके रूपमें रावणने हरण किया था।'

भगवान्‌के दिव्यलीलाविग्रहोंका प्राकट्य ही वास्तवमें आनन्दमयी ह्लादिनी शक्तिके निमित्तसे ही है। श्रीभगवान् अपने निजानन्दको परिस्फुट करनेके लिये अथवा उसका नवीन रूपोंमें आस्वादन करनेके लिये ही स्वयं अपने आनन्दको प्रेम-विग्रहोंके रूपमें प्रकट करते है और स्वयं ही उनसे आनन्दका आस्वादन करते हैं। भगवान्‌के उस आनन्दकी प्रतिमूर्ति ही प्रेमविग्रह रूपा श्रीराधारानीजी है, और यह प्रेमविग्रह सम्पूर्ण प्रेमोंका एकीभूत समूह है। अतएव श्रीराधिकाजी प्रेममयी हैं और भगवान् श्रीकृष्ण आनन्दमय हैं। जहाँ आनन्द है वहीं प्रेम है और जहाँ प्रेम है वहीं आनन्द है। आनन्दरससारका घनीभूत विग्रह श्रीकृष्ण हैं और प्रेमरससारकी घनीभूत मूर्ति श्रीराधारानी हैं। अतएव श्रीराधा और श्रीकृष्णका विछोह कभी सम्भव ही नहीं। न श्रीराधाके विना कभी श्रीकृष्ण रह सकते हैं और न श्रीकृष्णके विना श्रीराधाजी। श्रीकृष्णके दिव्य आनन्दविग्रहकी स्थिति ही दिव्य प्रेमविग्रहरूपा श्रीराधाजीके निमित्तसे है। श्रीराधारानी ही श्रीकृष्णकी जीवनस्वरूपा हैं और इसी प्रकार श्रीकृष्ण ही श्रीराधाके जीवन हैं। दिव्य प्रेमरससारविग्रह होनेसे ही श्रीराधारानी महाभावरूपा हैं और वह नित्य-निरन्तर आनन्द-रससार, रसराज, अनन्त ऐश्वर्य—अनन्त-सौन्दर्य-माधुर्य-लावण्य-निधि, सच्चिदानन्दसान्द्राङ्ग, अविचिन्त्यशक्ति, आत्माराम-गणाकर्षी, प्रियतम श्रीकृष्णको आनन्द प्रदान करती रहती हैं। इस ह्लादिनी शक्तिकी लाखों अनुगामिनी शक्तियाँ मूर्तिमती होकर प्रतिक्षण सखी, सहेली, सहचरी और दूती आदि रूपोंसे श्री-

राधाकृष्णकी सेवा किया करती हैं; श्रीराधाकृष्णको सुख पहुँचाना और उन्हें प्रसन्न करना ही इनका एकमात्र कार्य होता है। इन्हींका नाम श्रीगोपीजन है।

नित्य आनन्दमय, नित्य तृप्त, नित्य एकरस, कोटि-कोटि-ब्रह्माण्ड-विग्रह, पूर्णब्रह्म परमात्मामें सुखेच्छा कैसे हो सकती है? यह प्रश्न युक्तिसङ्गत प्रतीत होनेपर भी इसीको सिद्धान्त नहीं माना जा सकता। भाव और प्रेम परमात्मासे पृथक् वस्तु नहीं हैं। प्रेमाश्रयका भाव प्रेमविषयमें और प्रेम-विषयका भाव प्रेमाश्रयमें अनुभूत हुआ करता है। श्रीगोपीजन प्रेमका आश्रय हैं और श्रीकृष्ण प्रेमके विषय हैं। श्रीगोपियोंका अप्राकृत दिव्य भाव ही परब्रह्ममें दिव्य सुखेच्छा उत्पन्न कर देता है। प्रेमका महान् उच्च भाव ही उस पूर्णकाममें कामना, नित्यतृप्तिमें अतृप्ति, क्रियाहीनमें क्रिया और आनन्दमयमें आनन्दकी वासना जाग्रत् कर देता है। अवश्य ही यह सुखेच्छा, कामना, अतृप्ति, क्रिया या वासना जड इन्द्रियजन्य नहीं है, इस मर्त्य जगत्‌की मायामयी वस्तु नहीं है; क्योंकि वह दिव्य आनन्द और दिव्य प्रेम अभिन्न हैं। श्रीकृष्ण और श्रीराधारानी सदा अभिन्न हैं। श्रीभगवान् कहते हैं—

यथा त्वं च तथाहं च भेदो हि नावयोर्ध्रुवम्।
यथा क्षीरे च धावल्यं यथाग्नौ दाहिका सति॥
यथा पृथिव्यां गन्धश्च तथाहं त्वयि संततम्॥

(ब्रह्मवैवर्त०, कृष्णखण्ड, १४। ५८-५९)

'जो तुम हो, वही मैं हूँ। हम दोनोंमें किञ्चित् भी भेद

नहीं है, जैसे दूधमें सफेदी, अग्निमें दाहिका शक्ति और पृथिवीमें गन्ध रहती है उसी प्रकार मैं सदा तुममें रहता हूँ।'

यही बात भगवान् श्रीराम और मिथिलेशकुमारी श्रीसीताजी, भगवान् श्रीमहाविष्णु और जगज्जननी महालक्ष्मी, भगवान् श्रीशङ्कर और महामाया श्रीगौरीदेवीके विषयमें समझनी चाहिये। भगवान् श्रीकृष्ण और माता श्रीरुक्मिणीके लिये भी यही बात है। अब रही श्रीराधिकाजीके विवाहकी बात, सो इस रूपमें इनका लौकिक विवाह कैसा ? वृन्दावन-लीला ही लौकिक लीला नहीं है। लौकिक लीलाकी दृष्टिसे तो ग्यारह वर्षकी अवस्थामें ही श्रीकृष्ण व्रजका परित्याग कर मथुरा पधार गये थे। इतनी छोटी अवस्थामें स्त्रियोंके साथ प्रणयकी बात ही कल्पनामें नहीं आती। और अलौकिक जगत्‌में दोनों सर्वदा एक ही हैं। फिर भी भगवान्‌ने ब्रह्माजीको श्रीराधाजीके दिव्य चिन्मय प्रेमरससारविग्रहका दर्शन करानेका वरदान दिया था, उसकी पूर्तिके लिये एकान्त अरण्यमें ब्रह्माजीको श्रीराधिकाजीके दर्शन कराये और वहीं ब्रह्माजीके द्वारा रसराज और महाभावकी विवाहलीला भी सम्पन्न हुई। ये विवाहिता श्रीराधाजी नित्य ही भगवान् श्रीकृष्णके सङ्ग रहती हैं। अवश्य ही छिपी रहती हैं। श्रीकृष्णकृपा होनेपर ही किन्हीं प्रेमी महानुभावको इस 'जुगल जोड़ी' के दुर्लभ दर्शन होते हैं। श्रीमद्भागवतमें श्रीराधाका नाम प्रकटरूपमें नहीं आया है, यह सत्य है; परन्तु वह उसमें इसी प्रकार छिपा हुआ है जैसे शरीरमें आत्मा। प्रेमरससार-चिन्तामणि श्रीराधाजीका अस्तित्व ही आनन्दरससार श्रीकृष्णकी दिव्य प्रेमलीलाको प्रकट

करता है। जहाँ श्रीकृष्ण हैं, वहाँ श्रीराधा नहीं हैं—यह कहना ही नहीं बनता। तार्किकोंको नहीं, भक्तों और शास्त्रके सामने सिर झुकानेवालोंको तो भगवान्‌के ये वाक्य सदा स्मरण रखने चाहिये—

आवयोर्भेदबुद्धिं च यः करोति नराधमः॥
तस्य वासः कालसूत्रे यावच्चन्द्रदिवाकरौ।
पूर्वान् सप्त परान् सप्त पुरुषान् पातयत्यधः।
कोटिजन्मार्जितं पुण्यं तस्य नश्यति निश्चितम्॥
अज्ञानादावयोर्निन्दां ये कुर्वन्ति नराधमाः।
पच्यन्ते नरके घोरे यावच्चन्द्रदिवाकरौ॥

(ब्रह्मवैवर्तपुराण, कृ०, १५। ६७-७०)

'जो नराधम हम दोनोंमें (श्रीकृष्ण और श्रीराधामें) भेद-बुद्धि करता है, वह जबतक चन्द्र-सूर्य रहते हैं, तबतकके लिये कालसूत्र नामक नरकमें रहता है। उसके पहलेके सात और पीछेके सात पुरुष अधोगामी होते हैं और उसका कोटि जन्मार्जित पुण्य निश्चय ही नष्ट हो जाता है। जो नराधम अज्ञानवश हमलोगोंकी निन्दा करता है, वह पापात्मा भी चन्द्र-सूर्यकी स्थितिकालतक घोर नरक भोगता है।'

अब रही गोपियोंके प्रेमके शुद्ध होनेकी बात। इसपर रासपञ्चाध्यायीका यह श्लोकार्द्ध स्मरण करना चाहिये—

रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभिर्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः॥

'छोटे बालक जैसे अपने प्रतिबिम्बके साथ खेला करते हैं, वैसे ही रमेश भगवान्‌ने भी व्रजसुन्दरियोंके साथ क्रीड़ा की।' लीलारसमय आनन्दकन्द भगवान् स्वभावसे ही प्रेमवश हैं। अतएव उन्होंने प्रेमभावसे ही अपनी आनन्दस्वरूपा शक्ति द्वारा अपने ही प्रतिबिम्बरूप प्रेमस्वरूपा महाभागा गोपियोंके साथ

क्रीड़ा की। उनका तो यह आत्मरमण था और गोपियोंका इसमें श्रीकृष्णसुख ही एकमात्र उद्देश्य था। अतएव प्रेममयी गोपी और आनन्दमय श्रीकृष्णकी यह लीला सर्वथा कामगन्ध-शून्य थी। गोपियोंका प्रेम अत्युच्च पराकाष्ठाका भाव था। इसीसे उसे 'रूढ़ महाभाव' कहते हैं। इसमें निजेन्द्रिय-तृप्तिकी इच्छाके संस्कारकी भी कल्पना नहीं थी। यह इस जगत्‌की काम-क्रीड़ा नहीं थी। यह तो दिव्य आनन्दमय, पवित्र प्रेममय जगत्‌की अति दुर्लभ रहस्यमय लीला थी, जिसका रसास्वादन करनेके लिये बड़े-बड़े देवता और सिद्ध महात्मागण भी लालायित थे। और कहा जाता है कि इसीलिये उन्होंने व्रजमें आकर पशु-पक्षियों तथा वृक्ष-लता-पताके रूपमें जन्म लिया था। श्रीगोपियोंके इस कामशून्य प्रेम-भावको, श्रीकृष्णकान्ताशिरोमणि श्रीराधारानी के महाभावको और निजानन्द में नित्यतृप्त परमात्मामें सुखेच्छा क्यों उत्पन्न होती है और कैसे उन्हें प्रेमरूपा शक्तियों के साथ लीला करने मे सुख मिलता है, इस बातको समझने-समझानेका अधिकार श्रीकृष्णगतप्राण, भजन-परायण, प्रेमी रसिक भक्तोंको ही श्रीकृष्णकृपासे प्राप्त होता है। मुझ-जैसा विषयी मनुष्य इसपर क्या कहे-सुने ? मेरी तो हाथ जोड़कर सबसे यही प्रार्थना है कि अपने मनकी मलिनताका आरोप भगवान्‌के पवित्र चरित्रोंपर कोई कदापि न करें और शङ्का छोड़कर जिसको भगवान्‌का जो नाम-रूप प्रिय लगता हो, जिसकी जिसमें रुचि हो, भगवान्‌के दूसरे नाम-रूपको उससे नीचा न समझकर वल्कि अपने ही इष्टदेवका एक भिन्न स्वरूप समझकर, अनन्यभावसे अपने उस इष्टकी सेवामें लगे रहें।

परा और अपरा विद्या

पराशर मुनिने ऋषि मैत्रेयसे कहा—मैत्रेयजी ! बुद्धिमान् पुरुष आध्यात्मिकादि तीनों तापोंको जानकर ज्ञान-वैराग्यद्वारा आत्यन्तिक लयको प्राप्त होते हैं। आध्यात्मिक ताप शारीरिक और मानसिक भेदसे दो प्रकारका है। इनमेंसे शारीरिक दुःखके अनेक प्रकार हैं—मस्तक-रोग, ज्वर, शूल, भगन्दर, गुल्म, अर्श, श्वास, शोथ, छर्दि, चक्षुरोग, अतीसार, कुष्ट और जलोदर आदि भेदसे वहुत प्रकारसे शारीरिक क्लेश होते हैं। मानस दुःखोंमें काम, क्रोध, भय, द्वेष, लोभ, मोह, विषाद, शोक असूया, अपमान, ईर्षा और मात्सर्यादिसे उत्पन्न अनेक भेद हैं। द्विजश्रेष्ठ ! इन विविध दुःखोंको आध्यात्मिक ताप कहते हैं।

पशु पक्षी, मनुष्य, पिशाच, सर्प, विच्छू, राक्षस आदि ूत-प्राणियोंसे जिन दुःखोंकी उत्पत्ति होती है, उनका नाम ाधिभौतिक ताप है। सर्दी, गरमी, वायु, अनावृष्टि, अतिवृष्टि, पात आदिसे जो दुःख उत्पन्न होते हैं, उनको आधिदैविक प कहते हैं।

मुनिराज ! इनके अतिरिक्त गर्भवास, जन्म, जरा ढ़ापा), अज्ञान, मृत्यु और नरकादिमें हजारों प्रकारके दुःख

हैं। बहुत-से मलद्वारा ढके हुए गर्भमें सुकुमार शरीरको उदरके कीडे काटते हैं, जेरसे लिपटा हुआ वह बालक माताके खाये हुए खट्टे, कड़वे, तीखे, गरम और नमकीन भोजनके द्वारा अत्यन्त कष्टसे जीता है। हाथ, पैरको पूरी तरह फैला नही सकता, मल-मूत्रमें पड़ा रहता है, श्वासहीन रहनेपर भी सचेतन भावसे पूर्वजन्मके कर्मोंका स्मरण करता हुआ पराधीनतामें समय बिताता है।

इसके बाद जन्म होनेके समय मल, मूत्र, शुक्र, रुधिरद्वारा लिपटकर वह प्राजापत्य नामक वायुसे बड़ी ही पीड़ाको प्राप्त होता है, उसी समय अत्यन्त प्रबल सूति नामक वायु उसके मुखको नीचेकी ओर कर देती है, तदनन्तर वह जीव बड़े क्लेशसे माताके पेटसे योनिद्वारा बाहर निकलता है।

मुनिसत्तम! जीव जन्म होते ही मूर्च्छित हो जाता है, फिर बाहरकी वायुके लगनेसे क्रमशः उसमें चेतना आती है और पूर्वसंस्कारोंको भूल जाता है, तब वह काँटोंसे बिंधे हुए और आरेसे विदीर्ण किये हुए कृमिकी तरह जमीनपर पड़ जाता है। उसमें अपने आप करवट बदलने और देह खुजलानेतककी शक्ति भी नहीं होती। दुग्धपानादि आहारके लिये भी वह पराधीन ही रहता है। मल-मूत्रमें पड़ा रहता है, कीडे और मच्छर काटते हैं पर उसमें यह सामर्थ्य नही कि वह इन दुःखोंसे अपनेको छुड़ा सके। इस प्रकार जन्म और बालकपनमें जीव अनेक प्रकारसे आधिभौतिकादि दुःख भोगता है।

अज्ञानान्धकारसे आच्छादित विमूढ़ अन्तःकरणवाला मनुष्य, 'मैं कहाँसे आया हूँ, कौन हूँ, कहाँ जाऊँगा और

इन्द्रियोंके [illegible] न रहनेसे वह मृत्युके समीप पहुँच जाता है, [illegible] पदार्थोंका भी स्मरण नहीं रहता। एक [illegible] ही वह थक जाता है, श्वास-खाँसीकी [illegible] सुख सदाके लिये नष्ट हो जाता है। दूसरेके [illegible] वह उठ-बैठ सकता है। ऐसी हालतमें स्त्री-पुत्र-नौकर [illegible] उसका अपमान करने लगते हैं। उसकी पवित्रता [illegible] नहीं है, परन्तु आहार विहारकी तृष्णा बनी रहनेसे [illegible] लोग उसकी हँसी उड़ाते और उसे अपने लिये [illegible] समझने लगते हैं। जवानीके भोगोंको पूर्वजन्मके [illegible] याद करके वह लम्बे-लम्बे श्वास लेता है पर कोई [illegible] चलता। यों कष्ट सहते-सहते मृत्युकाल आ जाता है।

[illegible] हाथ टूट-से जाते हैं, शरीर काँपने लगता है, [illegible] मूर्छा होने लगती है। ऐसी अवस्थामें वह 'मेरे [illegible] होगा? मेरे पीछे मेरे स्त्री-पुत्रोंकी क्या दशा होगी? [illegible] क्या हालत होगी? मेरा धन-ऐश्वर्य [illegible]।' इस प्रकारकी ममताजनित चिन्तासे व्याकुल हो जाता है। मर्मभेदी महारोगरूपी यमराजके दारुण बाणोंसे उसके देहकी हड्डियाँ टूट जाती हैं, आँखें उलट जाती हैं, तालु, कण्ठ और होंठ सूख जाते हैं। उस समय वह भीषण यन्त्रणासे बारम्बार हाथ-पैर पीटता है, कण्ठ रुक जाता है, श्वासकी गति ऊर्ध्व हो जाती है, गलेमें कफ अटक जानेसे 'घुर-घुर' शब्द होने लगता है; भूख-प्याससे वह अत्यन्त पीड़ित हो जाता है। अन्तमें यम-किङ्करोंके दीखनेसे भयभीत हो उठता है। मृत्युसमय प्राणियोंको इस प्रकारके अनेक

मृत्युके बाद पापी मनुष्योंको यमदूत बाँधकर अनेक तरहसे पीड़ा देते हैं, नाना प्रकारके भयङ्कर मार्ग देखने पड़ते हैं, फिर यमराजके दर्शन होते हैं। गरम बालू, अग्नि, यन्त्र और शस्त्रादिद्वारा नरकोंकी भयानक यातना भोग करनी पड़ती है। यमदूत करौतसे काटते हैं, जलते हुए कड़ाहेमें डाल देते हैं, कुठारसे आघात करते हैं, जमीनमें गाड़ देते हैं, शूलीपर चढ़ा देते हैं, बाघके मुखमें डाल देते हैं, गृध्रोंसे शरीर नुचवाते हैं, हाथियोंके पैरों तले रुँदवाते हैं, उबलते हुए तैलमें डाल देते हैं, क्षार और कादेसे लिपेट देते हैं, ऊपरसे नीचे डालते हैं और फेंकनेके यन्त्र द्वारा दूर फेंक देते हैं। इस प्रकार नारकी जीवोंको नरकोंमें नाना प्रकारसे इतनी यातना दी जाती है कि जिनकी कोई गिनती नहीं हो सकती !

द्विजराज ! केवल नरकमें ही दुःख है सो बात नहीं है, स्वर्गवासी पुण्यात्मा पुरुष भी पतनके भयसे सदा दुखी रहते हैं। इस प्रकार कर्मफल भोगनेपर जीव फिर गर्भमें आकर जन्म ग्रहण करता है तथा पुनः उसी तरह मृत्युको प्राप्त हो जाता है। कोई जन्मते ही, कोई लड़कपनमें, कोई जवानीमें, कोई प्रौढ़ अवस्थामें और कोई वृद्ध होकर मृत्युके मुखमें चला जाता है। जैसे कपासका बीज कपाससे व्याप्त रहता है, इसी प्रकार यह जीव भी जीवनभर नाना प्रकारके दुःखोंसे व्याप्त रहता है। अर्थके उपार्जन, पालन और नाशमें तथा प्रियजनोंकी विपत्तिमें मनुष्यको नानाप्रकारसे कष्ट सहन करने पड़ते हैं।

मैत्रेय ! जो सब पदार्थ मनुष्यको पहले प्रीतिकर मालूम होते हैं, वे ही परिणाममें दुःखके कारण हो जाते हैं। स्त्री,

स्वामी, भृत्य, घर, धन, परिवार और जमीन आदिद्वारा मनुष्यको जितना क्लेश होता है, सुख उसकी अपेक्षा बहुत ही थोड़ा हुआ करता है । इन सब दुःखरूप सूर्यके तापसे तापितचित्त मनुष्योंको मुक्तिरूपी वृक्षकी शीतल छायाको छोड़कर अन्यत्र कहीं भी सुख नहीं मिल सकता ! गर्भ, जन्म, जरा आदिसे उत्पन्न इन त्रिविध दुःखोंकी एकमात्र परम ओषध भगवत्-प्राप्ति ही है– 'भैषज्यं भगवत्प्राप्तिः ।' अतएव बुद्धिमान् पुरुषोंको उस भगवत्-प्राप्तिके लिये ही प्रयत्न करना चाहिये ।–'तस्मात्तत्प्राप्तये यत्नः कर्तव्यः पण्डितैर्नरैः ।'

महामुने ! भगवत्-प्राप्तिमें कर्म और ज्ञान दोनों ही हेतु हैं । ज्ञान दो प्रकारका है–एक आगमशास्त्रसे उत्पन्न और दूसरा विवेकसे उत्पन्न । इनमें आगमसे उत्पन्न ज्ञानसे शब्दब्रह्म और विवेकसे उत्पन्न ज्ञानद्वारा परमब्रह्म जाननेमें आता है । जैसे दीपकसे अन्धकारका नाश होता है, वैसे ही शास्त्रजन्य ज्ञानसे शब्दमय ब्रह्मके जाननेपर कुछ अंशोंमें तो अज्ञानका नाश होता है, परन्तु जैसे सूर्यके उदय होनेपर अन्धकारका पूर्ण नाश हो जाता है, इसी प्रकार विवेकजन्य ज्ञानसे परमब्रह्मको जान लेनेपर सम्पूर्ण अज्ञान नष्ट हो जाता है ।

मनु महाराजने कहा है–'ब्रह्म दो प्रकारका है। प्रथम शब्दमय और दूसरा परम । शब्द-ब्रह्मका ज्ञान हो जानेके बाद परब्रह्मका होता है। विद्या भी कर्म और ज्ञानरूपसे दो प्रकारकी है, आथर्वणी श्रुतिमें ऐसा ही कहा गया है । पराविद्याद्वारा अक्षरब्रह्मकी प्राप्ति होती है । ऋग्वेदादिमयी विद्या ही पराविद्या है । अव्यक्त, अजर, अचिन्त्य, नित्य, अव्यय, अनिर्देश्य, अरूप, हस्तपदादि–

मात्मा सब भूतोंमें निवास करता है और सबके आत्मस्वरूप उस वासुदेवमें ही सब भूत निवास करते हैं। प्राचीनकालमें खाण्डिक्यके द्वारा पूछे जानेपर केशिध्वजने 'वासुदेव' नामका यथार्थ अर्थ यही बतलाया था कि "समस्त भूतप्राणी उसमें निवास करते हैं और वही समस्त भूतोंमें जगत्‌के धाता-विधातारूपसे विराजमान है, इसीलिये उस प्रभुका नाम 'वासुदेव' है।"

महामुने! वह परमात्मा स्वयं सम्पूर्ण आवरणोंसे मुक्त रहकर अखिल विश्वके आत्मरूपमें सब भूतोंकी प्रकृति, विकार, गुण और दोष आदि त्रिभुवनमें जो कुछ भी है, सबमें व्याप्त हो रहा है। समस्त कल्याण-गुण-स्वरूप वह परमात्मा अपनी शक्तिके कणमात्रसे सम्पूर्ण भूतप्राणियोंको आवृतकर, अपनी इच्छासे अनेक प्रकारके रूप धारण करके जगत्‌का अनन्त कल्याण कर रहा है। जो तेज, बल, ऐश्वर्य तथा महाबोध-स्वरूप है, अपने वीर्य और शक्तिका एकमात्र आधार है, परात्पर है, जिसमें क्लेशका लेश भी नहीं है, वही ईश्वर व्यष्टि और समष्टिरूप है, वही व्यक्त और अव्यक्तरूप है, वही सबका स्वामी और सर्वत्रगामी है, वही सर्ववेत्ता और सबका शक्तिस्वरूप है और उसीका नाम परमेश्वर है।

जिस ज्ञानके द्वारा इस प्रकारके निर्दोष, विशुद्ध, निर्मल और एकरूप परमेश्वरको जाना और देखा जा सकता है, वही ज्ञान है और उसीका नाम परा विद्या है। जो इससे विपरीत है सो अज्ञान है और उसीको अपरा विद्या कहते हैं। (विष्णुपुराणके आधारपर)

——०ο——

नहीं है जो तुम्हें प्रायश्चित्तका यथार्थ विधान बतला सके। तुम चाहो तो उनके पास जाकर पूछ सकते हो।' यज्ञका विघ्न दूर करनेकी इच्छासे केशिध्वजने कहा कि'मुने ! मैं इस कार्यके लिये अभी खाण्डिक्यके पास जाता हूँ । यदि वे मुझे अपना शत्रु समझकर मार डालेंगे तब तो मुझे आत्मबलिदानके फलस्वरूप यज्ञका फल यों ही मिल जायगा। यदि वे मुझे शास्त्रोक्त प्रायश्चित्त बतला देंगे तो मैं तदनुसार करके यज्ञकी पूर्ति कर दूँगा।'

यों कहकर महामति राजा केशिध्वज कृष्णाजिन पहनकर रथपर सवार हो तुरन्त उस वनकी ओर चले, जहाँ खाण्डिक्य अपने परिवार सहित निवास करते थे। खाण्डिक्य अपने शत्रुको दूरसे अपनी ओर आते देखकर, उसकी दुर्भावना समझकर बड़े क्रोधित हुए। क्रोधसे लाल-लाल आँखें करके पुकारकर कहने लगे—केशिध्वज ! क्या तुम इसीलिये कृष्णाजिन (काले मृगका चर्म) धारण करके आये हो कि इसको देखकर मैं तुम्हें नहीं मारूँगा ? तुमने और मैंने न मालूम कितने कृष्ण-चर्मधारी मृगोंको तीक्ष्ण बाणोंसे मारा होगा। अतएव इस वेषके कारण मैं तुम्हें नहीं छोड़ सकता।' केशिध्वजने कहा—'मैं आपको मारनेके लिये नहीं आया हूँ, सन्देहकी निवृत्तिके लिये आपसे कुछ पूछने आया हूँ, आप किसी प्रकारका सन्देह न करें और क्रोध तथा बाणको त्यागकर मेरे प्रश्नका उत्तर देनेकी कृपा करें।'

केशिध्वजके ये वचन सुनकर बुद्धिमान् खाण्डिक्य अपने पुरोहित और मन्त्रियोंको एकान्तमें ले जाकर उनसे परामर्श करने लगे। मन्त्रियोंने कहा, 'महाराज ! ऐसा अवसर

नही है जो तुम्हें प्रायश्चित्तका यथार्थ विधान वतला सके । तुम चाहो तो उनके पास जाकर पूछ सकते हो ।' यज्ञका विघ्न दूर करनेकी इच्छासे केशिध्वजने कहा कि'मुने ! मैं इस कार्यके लिये अभी खाण्डिक्यके पास जाता हूँ । यदि वे मुझे अपना शत्रु समझकर मार डालेंगे तव तो मुझे आत्मवलिदानके फलस्वरूप यज्ञका फल यों ही मिल जायगा । यदि वे मुझे शास्त्रोक्त प्रायश्चित्त वतला देंगे तो मैं तदनुसार करके यज्ञकी पूर्ति कर दूंगा ।'

यों कहकर महामति राजा केशिध्वज कृष्णाजिन पहनकर रथपर सवार हो तुरन्त उस वनकी ओर चले, जहाँ खाण्डिक्य अपने परिवार सहित निवास करते थे । खाण्डिक्य अपने शत्रुको दूरसे अपनी ओर आते देखकर, उसकी दुर्भावना समझकर बड़े क्रोधित हुए । क्रोधसे लाल-लाल आँखें करके पुकारकर कहने लगे—केशिध्वज ! क्या तुम इसीलिये कृष्णाजिन (काले मृगका चर्म) धारण करके आये हो कि इसको देखकर मैं तुम्हें नहीं मारूँगा ? तुमने और मैंने न मालूम कितने कृष्ण-चर्मधारी मृगोंको तीक्ष्ण वाणोंसे मारा होगा । अतएव इस वेपके कारण मैं तुम्हें नही छोड़ सकता ।' केशिध्वजने कहा—'मैं आपको मारनेके लिये नहीं आया हूँ, सन्देहकी निवृत्तिके लिये आपसे कुछ पूछने आया हूँ, आप किसी प्रकारका सन्देह न करें और क्रोध तथा वाणको त्यागकर मेरे प्रश्नका उत्तर देनेकी कृपा करे ।'

केशिध्वजके ये वचन सुनकर बुद्धिमान् खाण्डिक्य अपने पुरोहित और मन्त्रियोंको एकान्तमें ले जाकर उनसे परामर्श करने लगे । मन्त्रियोंने कहा, 'महाराज ! ऐसा अवसर कव

मिलेगा ? शत्रु आपके हाथोंमें आ गया है, अब तो इसका काम तमाम ही कर डालना चाहिये । इस वैरीके मरते ही सारी पृथ्वी आपके अधीन हो जायगी !' खाण्डिक्यने उनके वचन सुनकर गम्भीरतासे कहा, 'निःसन्देह इसके मरनेसे पृथ्वीपर एकाधिपत्य हो जायगा, परन्तु ऐसा करनेसे मेरा परलोक बिगड़ जायगा। मेरी समझसे पृथ्वीके राज्यकी अपेक्षा परलोकमें विजयी होना—जीव-जीवनका उच्चतर अवस्थामें पहुँच जाना कहीं अधिक महत्त्वका विषय है; क्योंकि—

परलोकजयोऽनन्तः स्वल्पकालो महीजयः ।

परलोकका जय अनन्तकालके लिये होता है, पर पृथ्वीकी विजय तो अल्पकालस्थायी होती है, अतएव......'एनं न हिंसिष्ये यत्पृच्छति वदामि तत् ।' मैं इसे मारूँगा नहीं, यह जो कुछ पूछेगा सो बतलाकर इसे विदा करूँगा ।' धन्य धर्मपरायणता और साधुता !

खाण्डिक्य-जनक अपने शत्रु केशिध्वजके पास जाकर शान्ति और प्रेमसे कहने लगे 'आपको जो कुछ पूछना हो मुझसे पूछिये, मैं आपको यथार्थ उत्तर दूंगा ।' केशिध्वजने धर्म-धेनुके वधकी घटना सुनाकर उसके प्रायश्चित्तका विधान पूछा, खाण्डिक्यने बड़ी सरलतासे विस्तारपूर्वक विधान बतला दिया। केशिध्वजने वहाँसे अपनी यज्ञभूमिमें लौटकर यथाविधि प्रायश्चित्त और क्रमशः यज्ञकी समस्त क्रियाएँ कीं । यज्ञ समाप्त होनेपर राजाने सब ऋत्विक् और सदस्योंका पूजन-सम्मान किया, अतिथियोंको अनेक प्रकारसे विविध दान देकर प्रसन्न किया । तब भी राजाके मनमें शान्ति नहीं हुई । इसका कारण सोचते-सोचते केशिध्वजके

मनमें यह भावना हुई कि 'मैंने प्रायश्चित्तका विधान बतलानेवाले खाण्डिक्यको अभी गुरुदक्षिणा नहीं दी, इसीसे मेरा मन अशान्त है ।' इस विचारके पैदा होते ही केशिध्वज फिर खाण्डिक्यके निवासस्थानकी ओर चले । इस बार भी खाण्डिक्यने नीतिके अनुसार उसपर सन्देह करके शस्त्र उठाये, परन्तु केशिध्वजने वहाँ जाते ही नम्र वचनोंसे खाण्डिक्यसे कहा—'खाण्डिक्य ! मैं आपकी कोई बुराई करने नहीं आया हूँ, आप क्रोध न करें । आपके उपदेशसे मेरा यज्ञ भलीभाँति पूर्ण हो चुका है, मैं अभी गुरु-दक्षिणा नहीं दे सका, उसीको देने आया हूँ, आपकी जो इच्छा हो सो माँग सकते हैं ।'

केशिध्वजकी यह बात सुनकर खाण्डिक्यने अपने मन्त्रियोंसे सम्मति पूछी, उन्होंने कहा, 'राजन् ! आप इससे सारा राज्य माँग लीजिये । बिना ही युद्धके जहाँ राज्यकी प्राप्ति होती हो वहाँ बुद्धिमान् पुरुष राज्य ही लिया करते हैं ।' मन्त्रियोंकी इस उक्तिपर महामति खाण्डिक्य हँस पड़े और कहने लगे, 'मित्रो ! आप अन्य सभी कार्योंमें मुझे उचित परामर्श दिया करते हैं, परन्तु परमार्थ वस्तु क्या है और उसकी प्राप्ति कैसे होती है, इस बातको आपलोग बिल्कुल नहीं जानते । क्या मुझ-जैसे व्यक्तिके लिये ऐसे अवसर पर कोई लौकिक पदार्थकी याचना-कामना करना उचित है ? 'अल्पकालं महीराज्यं मादृशैः प्रार्थ्यते कथम् ।' आपलोग देखिये, मैं उससे क्या माँगता हूँ ।' ऐसा कहकर खाण्डिक्यने केशिध्वजसे जाकर कहा, 'क्यों ! क्या सचमुच तुम मुझे गुरु-दक्षिणा दोगे ?' केशिध्वजने कहा—

कहा, 'हाँ, अवश्य दूंगा।' तब खाण्डिक्य कहने लगे—केशिध्वज !

भवानध्यात्मविज्ञानपरमार्थविचक्षणः ॥
यदि चेद्दीयते मह्यं भवता गुरुनिष्क्रयः ।
तत्क्लेशप्रशमायालं यत् कर्म तदुदीरय ॥

'अध्यात्म-विज्ञानरूप परमार्थ ज्ञानमें आप प्रवीण हैं, यदि आप गुरुदक्षिणा देना चाहते हैं तो मुझे वह उपाय बतलाइये, जिससे मेरे समस्त क्लेश सम्पूर्ण रूपसे नष्ट हो जायँ।'

केशिध्वजने कहा, 'आप मुझसे निष्कण्टक राज्य क्यों नहीं चाहते ? क्षत्रियोंको तो राज्यके समान और कोई पदार्थ इतना प्रिय नहीं होता।' खाण्डिक्य कहने लगे,—'केशिध्वज ! मूर्ख मनुष्य जिसके लिये सदा लालायित रहते हैं, ऐसे विशाल राज्यको मैंने क्यों नहीं माँगा, इसका कारण आपको बतलाता हूँ।

'प्रजाका पालन करना और धर्मयुद्धमें राज्यके शत्रुओंका संहार करना ही क्षत्रियोंका धर्म है। मेरा राज्य आपने छीन लिया है, इससे प्रजापालन न करनेका दोष इस समय तो मुझपर कुछ भी नहीं है, परन्तु यदि राज्य ग्रहण करके न्यायपूर्वक उसका पालन न किया जायगा तो मुझे अवश्य पापका भागी होना पड़ेगा। इसके सिवा भोग-पदार्थोंकी इच्छा न करनेमें एक हेतु यह भी है कि क्षत्रिय कभी माँगकर राज्य नहीं लिया करते, यह सज्जनोंका सिद्धान्त है। फिर राज्यकी प्राप्तिमें वास्तवमें सुख ही कौन-सा है ? जो मूर्ख अहङ्काररूपी मदिरा पीकर पागल हो रहे हैं या जिनका मन ममताके मायाजालमें फँस रहा है, वे ही राज्यका लोभ किया करते हैं, मैं ऐसे राज्यसे

कोई लाभ नहीं समझता, इसीलिए मैंने इस अविद्याके अन्तर्गत राज्यकी कामना नहीं की।'

खाण्डिक्यके इन वचनोंसे प्रसन्न होकर केशिध्वजने उन्हें साधुवाद देते हुए कहा—'खाण्डिक्य-जनक ! मैं प्रजापालन आदि अविद्या की क्रियाओंद्वारा काम-क्रोधादिसे छूटनेके लिये राज्यका पालन तथा अनेक यज्ञोंका अनुष्ठान करता हूँ और भोगद्वारा पुण्योंका क्षय कर रहा हूँ। ईश्वरेच्छासे आपके मनमें विवेक जाग्रत् हो गया है, यह बड़े ही आनन्दका विषय है। मैं आपको अविद्याका स्वरूप बतलाता हूँ। कुलनन्दन ! अनात्ममें आत्मबुद्धि और जो वस्तु अपनी नहीं है, उसको अपनी समझना, ये दो अविद्या-वृक्षके बीज हैं। दुष्टबुद्धि जीव मोहरूपी अन्धकारसे आच्छन्न होकर पाँच भूतोंसे बने हुए इस स्थूल शरीरको ही आत्मा समझते हैं। आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वीसे जब आत्मा सर्वथा अलग है, तब ऐसा कौन बुद्धिमान् और प्राज्ञ मनुष्य होगा जो इस पञ्चभूतात्मक शरीरको आत्मा और शरीरद्वारा भोग किये जानेवाले घर, जमीन, धन, ऐश्वर्य आदि भोगोंको अपना समझे ? जब शरीर ही अपना नहीं है, तब उसके द्वारा उत्पन्न हुए पुत्र-पौत्रादिको अपना समझकर बुद्धिमान् मनुष्यको कभी मोहमें नहीं पड़ना चाहिये।

'मनुष्य इस देहके भोगके लिये ही सारे कर्म करता है, यह देह जब आत्मासे भिन्न है तब जीवका इस देहमें आत्मबुद्धि करना केवल संसारमें बन्धनके लिये ही होता है। जैसे मिट्टीके घरकी रक्षाके लिये मिट्टी और जलसे उसपर लेप किया जाता है, वैसे ही यह पार्थिव शरीर भी अन्न-जलके द्वारा रक्षित होता है। इस

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
बन्धस्य विषयासङ्गि मुक्तं निर्विषयं तथा ॥

मन ही मनुष्योंके बन्ध और मोक्षका कारण है । जब यह मन विषयोंमें आसक्त होता है, तब बन्धनका और जब विषयोंका त्याग कर देता है, तब यही मुक्तिका कारण बन जाता है । ज्ञानके साधक मुनिगण इस मनको विषयोंसे हटाकर मुक्तिके लिये उस परब्रह्म परमेश्वरमें लगाते हैं । श्रेष्ठ ! जैसे चुम्बक पत्थरसे स्वाभाविक ही लोहेका आकर्षण होता है, उसी प्रकार मनके द्वारा निरन्तर चिन्तन किये जानेपर ब्रह्म भी योगीको अपनी ओर स्वाभाविक ही खींच लेता है । मनकी यह गति आपके ही यत्नपर निर्भर करती है । मनकी गतिका ब्रह्मके साथ संयोग कर देना ही 'योग' कहलाता है । इस प्रकारके योगकी साधना करनेवाले व्यक्तिको ही योगी और मुमुक्षु कहते हैं । योगयुक्त पुरुष पहले 'युञ्जान' कहलाता है । तदनन्तर वह क्रमशः समाधिसम्पन्न होकर ब्रह्मज्ञानको प्राप्त होता है । युञ्जान योगी यदि किसी कारणवश इस जन्ममें सिद्धिको प्राप्त नहीं होता तो उसका मन दोषरूप विघ्नसे रहित होनेके कारण वह जन्मान्तरमें पूर्वके अभ्यास-बलसे मुक्त हो जाता है । परन्तु समाधिसम्पन्न योगी तो इसी जन्ममें मुक्तिको प्राप्त होता है, कारण उसके समस्त अदृष्ट योगकी अग्निके द्वारा बहुत ही शीघ्र भस्म हो जाते हैं ।

'योगीको चाहिये कि वह अपने मनको तत्त्वज्ञानके उपयोगी बनानेके लिये निष्कामभावसे ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह आदि नियमोंका अवलम्बन कर संयत-

चित्तसे स्वाध्याय, शौच, सन्तोष तथा तप करते हुए मनको निरन्तर परब्रह्म परमेश्वरके चिन्तनमें लगाये रक्खे। यही दस प्रकारके यम-नियम हैं। इनका सकामभावसे पालन करनेवालेको उत्तम फलकी प्राप्ति होती है और निष्काम आचरण करनेवाले-को मुक्ति मिलती है। भद्र आदि आसनोंमेंसे किसी एक आसनका अवलम्बन करके सद्गुणी पुरुषको यम-नियमसे सम्पन्न होकर वशमें किये हुए चित्तसे योगका अभ्यास करना चाहिये।

'अभ्यासमें प्राण नामक वायुको वशमें करनेवाली क्रियाका नाम प्राणायाम है। प्राणायाम सबीज और निर्बीज भेदसे दो प्रकारका है। जब प्राण और अपान वायु सद्विधानसे परस्परको जीत लेते हैं, तब इन दोनोंके संयमित हो जानेपर कुम्भक नामक तीसरा प्राणायाम होता है। योगी जब पहले-पहल प्राणायामका अभ्यास करते हैं, तब भगवान्‌का स्थूल रूप ही उनके चित्तका अवलम्बन रहता है। योगीको चाहिये कि वह क्रमशः प्रत्याहार-परायण होकर शब्द, स्पर्शादि विषयोंमें आसक्त इन्द्रियोंका निग्रह करके उन्हें चित्तका अनुसरण करनेवाली बना ले, इन अत्यन्त चञ्चल स्वभाववाली इन्द्रियोंको वशमें करनेकी बड़ी आवश्यकता है। जबतक इन्द्रियाँ वशमें नहीं होतीं, तबतक योगी योगकी साधनामें समर्थ नहीं हो सकता। इस प्रकार प्राणायामद्वारा प्राणवायुको और प्रत्याहारद्वारा इन्द्रियोंको वशमें करके योगीको कल्याणका आश्रय लेकर अपना चित्त भलीभाँति स्थिर करना चाहिये।'

खाण्डिक्यने कहा—'महाभाग! जिस कल्याणके आश्रयसे चित्तके सारे दोष नष्ट हो जाते हैं वह क्या वस्तु है सो कृपा

करके मुझे समझाइये।' केशिध्वज कहने लगे—'राजन्! ब्रह्म ही चित्तका शुभ आश्रय है। वह स्वभावतः ही दो प्रकारका है,—मूर्त्त और अमूर्त्त, जिसको पर और अपर भी कहते हैं। इस जगत्‌में तीन प्रकारकी भावनाएँ होती हैं—एक ब्रह्मभावना, दूसरी कर्मभावना और तीसरी ब्रह्म-कर्मभावना। सनन्दन आदि ऋषिगण ब्रह्मभावनावाले हैं, देवताओंसे लेकर जड़-चेतन समस्त प्राणी कर्मभावनावाले हैं और हिरण्यगर्भ आदिमें ब्रह्म-कर्म दोनों भावनाएँ हैं। जिसका जैसा ज्ञान और अधिकार है उसकी वैसी ही भावना हुआ करती है।

'भेद-ज्ञानके हेतु कर्म जबतक बने रहते हैं तभीतक जीवोंको विश्व और परमात्मामें भेद दीखता है। जिस ज्ञानसे सारे भेद मिट जाते हैं, जो ज्ञान सत्तामात्र है, जो मन, वाणीसे अगोचर है और जिसको केवल आत्मा ही जानता है उसीका नाम ब्रह्मज्ञान है। वही अज, अक्षर तथा अरूप विष्णुका नित्य और परमरूप है और वह समस्त विश्वरूपसे विलक्षण है। आरम्भमें योगी उस परमरूपका चिन्तन नहीं कर सकते, इसीलिये उन्हें परमात्माके विश्वगोचर स्थूल रूपका चिन्तन करना चाहिये। हिरण्यगर्भ, इन्द्र, प्रजापति, वायु, वसु, रुद्र, आदित्य, नक्षत्र, ग्रह, गन्धर्व, यक्ष और दैत्य आदि समस्त देव-योनियाँ,—मनुष्य, पशु, पर्वत, समुद्र, नदी और वृक्ष आदि अगणित प्राणी, उनके कारण और प्रधान आदितक एकपाद, द्विपाद, बहुपाद अथवा अपाद चेतन और अचेतन सभी विविध भाव-नात्मक परमात्मा हरिका मूर्त्त रूप है। यह समस्त चराचर विश्व उस परब्रह्मस्वरूप भगवान् विष्णुकी शक्तिसे समन्वित है

'भगवान्‌की यह शक्ति तीन प्रकारकी है—(१) विष्णु-शक्ति, (२) अपरा क्षेत्रज्ञशक्ति और (३) कर्म नामक अविद्या-शक्ति, जिससे आवृत होकर सर्वव्यापी क्षेत्रज्ञशक्ति भी संसार-के समस्त तापोंका भोग करती है। इस अविद्याशक्तिके द्वारा ढकी रहनेके कारण ही क्षेत्रज्ञशक्ति सब भूतोंमें समान होनेपर भी न्यूनाधिकरूपसे दिखायी देती है। प्राणहीन पदार्थोंमें वह बहुत ही कम प्रमाणमें दीख पड़ती है, स्थावरोंमें उससे कुछ अधिक दीखती है, साँपोंमें उससे अधिक, पक्षियोंमें उससे अधिक, मृगोंमें उससे अधिक, मनुष्योंमें रहनेवाले पशुओंमें उससे अधिक, पशुओंसे मनुष्योंमें अधिक, मनुष्योंसे नागोंमें अधिक, उनसे गन्धर्वोंमें अधिक, गन्धर्वोंसे यक्षोंमें, यक्षोंसे देवताओंमें, देवताओंसे इन्द्रमें, इन्द्रसे प्रजापतिमें और प्रजापतिसे भी अधिक क्षेत्रज्ञशक्तिका विकास हिरण्यगर्भमें पाया जाता है। ये सभी उस अशेषरूप भगवान्‌के ही रूप हैं; क्योंकि ये सभी आकाशकी भाँति उन्हींकी शक्तिद्वारा व्याप्त हैं।

'अब उस ब्रह्मके दूसरे रूपका ध्यान बतलाता हूँ, बुद्धि-मान् लोग इस रूपको सत् और अमूर्त कहा करते हैं। जिस रूपमें पूर्वोक्त समस्त शक्तियाँ प्रतिष्ठित हैं यही विश्वरूपका स्वरूप है। भगवान्‌के और भी अनेक रूप हैं। देवता, तिर्यक् और मनुष्य आदिकी चेष्टासे जो सब रूप प्रकट होते हैं, जिन्हें भगवान् जगत्‌के उपकारके लिये लीलासे धारण करते हैं ऐसे रूपोंकी समस्त चेष्टाएँ स्वतन्त्र होती हैं, किसी कर्मके अधीन होकर नहीं होतीं। योगी साधकको अपनी चित्तशुद्धिके लिये सारे पापोंके नाश करनेवाले विश्वरूपके उसी रूपका चिन्तन

करना चाहिये जैसे वायुके जोरसे बढ़ी हुई, धधकती हुई अग्नि सूखे घासको क्षणभरमें भस्म कर डालती है, वैसे ही चित्तमें स्थित भगवान् विष्णु भी *योगियोंके सारे पापोंको भस्म* कर देते हैं। इसलिये समस्त शक्तियोंके आधार उन परमेश्वरमें ही चित्त स्थिर करना चाहिये, इसीका नाम विशुद्ध धारणा है।

'सर्वव्यापी आत्माका भी आश्रय और तीनों भावनाओंसे अतीत वह परमात्मा ही मुक्तिके लिये योगियोंके चित्तका एकमात्र शुभ अवलम्बन है। इसके अतिरिक्त दूसरे कर्मयोनि देवताओंका आश्रय शुद्ध नहीं है। भगवान्‌का मूर्तरूप चित्तको दूसरे विषयोंसे नि.स्पृह कर देता है। कारण, चित्त उसीकी ओर दौड़ता है, इसीलिये इसको धारणा कहते हैं।

'अनाधार विष्णुके अमूर्त रूपको चित्त सहसा धारण नहीं करता, इसीसे उसके मूर्त रूपका चिन्तन करना चाहिये, वह मूर्तरूप इस प्रकारका मनोहर है—जिसका सुन्दर प्रसन्नमुख है, कमलकी पँखड़ियोंके समान नेत्र हैं, सुन्दर कपोल हैं, विशाल और उज्ज्वल मस्तक है, लम्बे कानोंमें मनोहर कर्णभूषण शोभित हो रहे हैं, सुन्दर कण्ठ है, चौड़ा वक्ष.स्थल श्रीवत्सके चिह्नसे अङ्कित है, गम्भीर नाभि और उदरपर त्रिवली शोभित हैं, आजानुलम्बित आठ या चार भुजाएँ हैं ऊरु और जङ्घाएँ समभावसे स्थित हैं, हाथ और पैर सुस्थिर हैं, निर्मल पीत वस्त्र और शार्ङ्ग धनुष, गदा, खड्ग, शङ्ख, चक्र, अक्ष तथा वलय धारण किये हुए हैं। भगवान्‌को ऐसी पवित्र विष्णुमूर्तिमें जबतक मन रम न जाय तबतक मनका संयम करके चिन्तन करते ही रहना चाहिये। जब कहो भी जाने-आने, बैठने-उठने या

रूपसे विनाश हो जानेपर आत्मा और ब्रह्मके भेदकी चिन्ता कौन करे ? खाण्डिक्य ! यही योग है, इसीको जानकर मनुष्य परमात्माकी प्राप्तिके लिये प्रयास कर सकता है । मैंने संक्षेप और कुछ विस्तारसे यह महायोग आपको बतलाया, अब कहिये, मुझे और क्या करना होगा ?'

खाण्डिक्यने कहा—'महाभाग ! आपने मुझे यह महायोग बतलाकर सब कुछ दे दिया है, आज आपके उपदेशसे मेरे चित्तका सभी मल नष्ट हो गया । इसमें कोई सन्देह नहीं कि मैं जो यह 'मेरा' 'मेरा' कहता हूँ सो सर्वथा मिथ्या है । 'मैं' और 'मेरा' के द्वारा व्यवहार होता है, परन्तु वास्तवमें यह अविद्या ही है । परमार्थ वाणीके अगोचर होनेसे जबानकी चीज नहीं है । केशिध्वज ! आपने मुझको मुक्ति देनेवाला यह महायोग बतलाकर मेरा बहुत ही उपकार किया है, अब आप अपने कल्याणके लिये घर पधारिये ।'

तदनन्तर केशिध्वज खाण्डिक्यके द्वारा पूजित होकर अपने घर लौट आये । खाण्डिक्यने यम-नियमादिकी साधनाके द्वारा परमात्मामें चित्त लगाकर अन्तमें निर्मल परब्रह्मको प्राप्त किया । इधर केशिध्वज भी योगके द्वारा अदृष्टका क्षय करके निष्काम कर्म करते हुए निर्मलचित्त होकर परमसिद्धिको प्राप्त हो गये । (विष्णुपुराणके आधारपर)

★═══★

भोग और त्याग

आधुनिक मनोविज्ञानके विश्लेषण (New Psycho-analysis) का सिद्धान्त यह प्रतिपादित करनेकी भरपूर चेष्टा कर रहा है कि 'भोगोंको अतिमात्रामें भोग लेनेसे ही शान्ति मिलती है और तभी भोगोंसे हमारी विरति होती है। इस मतके अनुसार मनुष्य भोगोंसे भागकर उनसे पिण्ड नहीं छुड़ा सकता। भाग जानेपर भी वह बार-बार उनमें फँसेगा, इसलिये आवश्यक है कि भोगोंको खूब भोगकर, उनका खूब अनुभव करके, उनके आनन्द और उपभोगकी अतिमात्राके कारण विरसताका भी अनुभव करके उन्हें सदाके लिये छोड़ दिया जाय। भोगोंका अतिभोग ही सच्ची विरक्ति ला सकता है न कि उसके प्रति अज्ञान या अवहेलना।'

दूसरा मत जो हमारे यहाँ बहुत ही प्राचीन कालसे चला आ रहा है और जिसकी घोषणा हमारे शास्त्र और सन्त डङ्केकी चोट कर रहे हैं—यह है कि भोगोंके त्यागसे ही शान्ति मिल सकती है; भोगोंकी कोई इति नहीं। अस्तु उनसे अलग हो जाना ही, उनको त्याग देना ही कल्याणकामियोंके लिये सर्वथा उचित तथा उपादेय है। इस मतके लोगोंका कथन यह है कि भोगोंकी अतिसे क्षणिक विरति भले ही हो, पर बार-बार मन उनमें फिर भी जा सकता है।

दोनों ही मत अपने-अपने विचारसे ठीक हैं; क्योंकि एक बात तो दोनोंमें ही है और वही मुख्य है—वह है शान्तिकी

इच्छा। किसी प्रकार हो लोग शान्तिकी खोजमें हैं, शान्ति चाहते हैं और उसी शान्तिके लिये भिन्न-भिन्न मार्ग तथा मत स्थापित करते हैं। भगवान्‌ने गीताजीमें शान्ति-प्राप्तिके बहुतसे उपाय विभिन्न अधिकारियोंके लिये बतलाये हैं, उनमेंसे एक यह है—

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति ॥
(२।७१)

इस श्लोकमें भगवान्‌ने चार बातें बतलायी हैं—जो पुरुष (१) सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर, (२) सर्वथा ममतारहित होकर, (३) अहङ्काररहित, और (४) स्पृहारहित हुआ वर्तता है, वह शान्तिको प्राप्त करता है। और जब भीतर शान्ति नहीं है, चित्त अशान्त है, तब सुख कहाँ—'अशान्तस्य कुतः सुखम् ?' मनमें किसी कामनाका उदय होना ही यह सूचित करता है कि कोई अभाव है। अभावके बोधमें ही प्रतिकूलता है और प्रतिकूलता ही अशान्ति है—दुःख है। कामना दो प्रकारकी होती है—(१) प्रतिकूल वस्तु है तो उसका नाश हो जाय, (२) अनुकूल वस्तु नहीं है तो वह मिल जाय। ये दो प्रकार के अभाव होते हैं—एकमें प्रतिकूलके नाशका अभाव है, दूसरेमें अनुकूलके न होनेसे अभाव है, यह अभावका बोध ही प्रतिकूलता है और प्रतिकूलता ही दुःख है। जहाँतक कामना है, वहाँतक अभावका अनुभव है। अभाव ही प्रतिकूलता और प्रतिकूलता ही अभाव है। अतः जहाँतक इन कामनाओंका नाश नहीं हो जाता, वहाँतक शान्ति नहीं मिल सकती।

कामनाके नाशके लिये ही उपर्युक्त दोनों मार्ग हैं—भोगोंको भोगना, अतिमात्रामें भोगना, इतना कि भोगते-भोगते उनकी ओरसे मन ऊब जाय—हट जाय और दूसरा यह कि भोग-कामनाको उगने ही नहीं देना, आरम्भसे ही भोगोंका त्याग कर देना। दृष्टिभेदसे दोनों ही ठीक हैं। एक ही वस्तु एक ही व्यक्तिको हर समय वार-वार दी जायगी तो वह कभी-न-कभी उससे अवश्य ही ऊब जायगा। यदि किसी व्यक्तिको खीर खानेकी इच्छा है तो उसे हर समय यदि केवल खीर ही खानेको दी जाय तो वह ऊब उठेगा, खीरसे घवरा जायगा। इसी प्रकार स्त्री-सुख है। यदि किसी पुरुषको खाने-पीनेको कुछ भी न दिया जाय और रात-दिन केवल स्त्री-सम्भोगकी ही छुट्टी दे दी जाय तो वह उससे शीघ्र ही ऊब उठेगा। भोगोंको अतिमात्रामें पानेसे उनसे स्वाभाविक ही अरुचि होती है।

परन्तु एक वात स्मरण रखनेकी है और वह यह कि कामनाके प्रधानतया दो रूप होते हैं—वासना और इच्छा। जवतक मनमें वासना है, तवतक इच्छा भी होगी ही। वासना सूक्ष्म है, इच्छा स्थूल है। जवतक वासना नष्ट नहीं होती, तवतक यह सर्वथा सम्भव है कि कुछ समय वाद वह स्थूल रूपमें इच्छा वनकर फिर जाग उठे। खीर अधिक खा लेनेसे आज हमारी तृप्ति हो जाती है और उस समय उससे हमारी अरुचि हो जाती है; हम और नहीं चाहते; पर यदि हमारे मनसे उसकी वासना न मिटी तो कुछ दिनों वाद फिर खीरके स्वादका स्मरण आयेगा और हम उसे पाना चाहेंगे। ठीक यही

बात स्त्री-सम्भोगकी भी है। आज उसकी अधिकताके कारण उससे भले अरुचि हो जाय, पर महीने-दो-महीनेमें फिर वह वासना घर दबायेगी और उस समय पहलेकी विरतिका स्मरण-तक भी नहीं होगा। जिस समय मुरझाया हुआ होता है, उस समय मनमें ऐसा भासता है कि भीतर भोगकी गन्ध भी नहीं है। पर अवसर और अनुकूल संयोग पाते ही दबी हुई वासना उदय हो ही जाती है। बीमारीकी हालतमें जिन चीजोंसे हटता है, पर बीमारी मिटनेके बाद फिर वही भाव। अतः लगातार एक बार विषयसे जो उपरति होती है, वह विषयसे हटा ही स्थायी विरति है, ऐसा नहीं कहा जा सकता; क्योंकि यदि वासनाका सर्वथा नाश हो गया होता तो फिर वह उगती कहाँसे? भोगोंकी अधिक भोग लेनेसे मनमें जो तात्कालिक विरति होती है, वह स्थायी नहीं कहला सकती।

इसी प्रकार बलात्कारसे भोगोंके त्यागकी बात है। उनको हम हठसे त्याग करते हैं। जबतक वासनाका त्याग नहीं होता, तब तक मन उधर भटकता रहता है। वहीं उस निग्रहका नियम ढीला हुआ कि फिर मन उसी वस्तुपर चला जाता है। भोगोंका अधिक भोग तथा हठपूर्वक त्याग दोनोंमें ही—जब तक चित्तमें वासना है, तबतक स्थायी और सच्ची विरति या उपरति प्राप्त नहीं होती, अतः तबतक शान्ति-सुख भी नहीं मिल सकता। वासनाका मूल नहीं कटता—किसी कारणसे वह दब-सी जाती है, पर फिर उभर आती है। बहुत बार हम उसे विचारोंद्वारा दबा देते हैं; पर मन बरबस बार-बार उधर ही जाता है। दोनोंमें ही कामनाका आत्यन्तिक नाश नहीं होता। अतः

कामनाके नाशके लिये ही उपर्युक्त दोनों मार्ग हैं— भोगोंको भोगना, अतिमात्रामें भोगना, इतना कि भोगते-भोग उनकी ओरसे मन ऊब जाय—हट जाय और दूसरा यह कि भोग-कामनाको उगने ही नहीं देना, आरम्भमें ही भोगोंका त्याग कर देना। दृष्टिभेदसे दोनों ही ठीक हैं। एक ही वस्तु एक ही व्यक्तिको हर समय बार-बार दी जायगी तो वह कभी-न-कभी उससे अवश्य ही ऊब जायगा। यदि किसी व्यक्तिको खीर खानेकी इच्छा है तो उसे हर समय यदि केवल खीर ही खानेको दी जाय तो वह ऊब उठेगा, खीरसे घबरा जायगा। इसी प्रकार स्त्री-सुख है। यदि किसी पुरुषको खाने-पीनेको कुछ भी न दिया जाय और रात-दिन केवल स्त्री-सम्भोगकी ही छुट्टी दे दी जाय तो वह उससे शीघ्र ही ऊब उठेगा। भोगोंको अतिमात्रामें पानेसे उनसे स्वाभाविक ही अरुचि होती है।

परन्तु एक बात स्मरण रखनेकी है और वह यह कि कामनाके प्रधानतया दो रूप होते हैं—वासना और इच्छा। जबतक मनमें वासना है, तबतक इच्छा भी होगी ही। वासना सूक्ष्म है, इच्छा स्थूल है। जबतक वासना नष्ट नहीं होती, तबतक यह सर्वथा सम्भव है कि कुछ समय बाद वह स्थूल रूपमें इच्छा बनकर फिर जाग उठे। खीर अधिक खा लेनेसे जब हमारी तृप्ति हो जाती है और उस समय उससे हमारी अरुचि हो जाती है; हम और नहीं चाहते; पर यदि हमारे उसकी वासना न मिटी तो कुछ दिनों बाद फिर खीरके का स्मरण आयेगा और हम उसे पाना चाहेंगे। ठीक यही

बात स्त्री-सम्भोगकी भी है। आज उसकी अतिमात्राके कारण उससे भले अरुचि हो जाय, पर महीने-दो-महीनेमें फिर वह वासना घर दबायेगी और उस समय पहलेकी विरतिका स्मरण-तक भी नही होगा। चित्त जब मुरझाया हुआ होता है, उस समय मनमें ऐसा भासता है कि भीतर भोगकी गन्ध भी नहीं है। पर अवसर और अनुकूल संयोग पाते ही दबी हुई वासना उदय हो ही जाती है। बीमारीकी हालतमें चित्त भोगोंसे हटता है, पर बीमारी बीतनेके बाद फिर वही चाट। अघा जानेपर एक बार विषयोंसे जो उपरति होती है, वह विषयोंसे हमारी स्थायी विरक्ति है, ऐसा नही कहा जा सकता; क्योंकि यदि वासनाका सर्वथा नाश हो गया होता तो फिर वह उगती कहाँसे? भोगोंको अधिक भोग लेनेसे मनमें जो तात्कालिक विरति होती है, वह स्थायी नहीं कहला सकती।

इसी प्रकार बलात्कारसे भोगोंके त्यागकी बात है। उनका हम हठसे त्याग करते हैं। जबतक वासनाका त्याग नही होता, तब तक मन उनपर चलता रहता है। जहाँ उस निग्रहका नियम ढीला हुआ कि फिर मन उसी वस्तुपर चला जाता है। भोगोंका अधिक भोग तथा हठपूर्वक त्याग दोनोंसे ही—जब तक चित्तमें वासना है, तबतक स्थायी और सच्ची विरति या उपरति प्राप्त नही होती, अतः तबतक शान्ति-सुख भी नही मिल सकते। वासनाका मूल नहीं कटता—किसी कारणसे वह दब-सी जाती है, पर फिर उभर आती है। बहुत बार हम उसे नियमोंके द्वारा दबा देते हैं; पर मन बरबस बार-बार उधर ही जाता है। दोनोंमें ही कामनाका आत्यन्तिक नाश नहीं होता। जबतक

अविद्याका—मोहका नाश नहीं होता, तबतक भोगोंका त्याग न हठपूर्वक त्यागसे ही हो सकता है, न अधिक भोगसे ही।

यहाँ सहज ही प्रश्न उठता है कि 'वासना-नाशके लिये फिर दोनोंमें—अतिभोग और भोगत्यागमें—सही मार्ग कौन-सा है ? कौनसा ऐसा पथ है, जिसके द्वारा हम वासनाका यथार्थत: त्याग कर सकते हों और जो बराबर सुरक्षित हो।' इसके उत्तरमें इतना तो डङ्केकी चोट कहा जा सकता है कि 'त्यागका मार्ग' ही श्रेष्ठ है। यही हमारे शास्त्रोंका निचोड़ है, यही हमारे सन्त-महापुरुषोंकी अनुभवपूर्ण अमर वाणी है। भोगोंके भोगनेसे और अधिक प्राप्तिसे भले ही शरीर दुर्बल हो जाय, पर भोगोंकी कामना मिट जाती हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। जब शरीर अशक्य हो जाय और चित्त व्याकुल हो, तब भले ही कामनाका अभाव-सा प्रतीत हो; परन्तु जहाँ शक्ति हुई कि पुन: वे ही कामनाएँ और भी भयानक रूपमें सामने आ जाती हैं। भोगोंसे भोग-कामनाका उपशमन कभी नहीं होता !

बुझै न काम अगिनि तुलसी कहुँ विषय भोग बहु घी ते।

राजा ययातिने बहुत भोग भोगे, परन्तु भोगोंसे तृप्ति हुई ही नहीं, तब हारकर कहा—

यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशव: स्त्रिय:।
न दुह्यन्ति मन:प्रीतिं पुंस: कामहतस्य ते॥
न जातु काम: कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥
यदा न कुरुते भावं सर्वभूतेष्वमङ्गलम्।
समदृष्टेस्तदा पुंस: सर्वा: सुखमया दिश:॥

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्जीर्यतो या न जीर्यते ।
तां तृष्णां दुःखनिवहां शर्मकामो द्रुतं त्यजेत् ॥
(श्रीमद्भा० ९।१९।१३-१६)

'जिसका चित्त कामनाओंसे ग्रस्त है, उस पुरुषके मनको पृथ्वीमें जितने भी भोग्यपदार्थ—धान्य, सुवर्ण, पशु और स्त्रियाँ हैं, सब मिलकर भी सन्तुष्ट नहीं कर सकते। विषयके भोगनेसे भोगवासना कभी शान्त नहीं हो सकती, वरं जैसे घीकी आहुति डालनेपर आग और भड़क उठती है, वैसे ही भोगोंकी प्राप्तिसे भोगवासनाएँ भी प्रबल हो जाती हैं। जब मनुष्य किसी भी प्राणी और किसी भी वस्तुके साथ रागद्वेषका भाव नहीं रखता, तब वह समदर्शी हो जाता है तथा उसके लिये फिर सभी दिशाएँ सुखमयी बन जाती हैं। विषयोंकी तृष्णा ही दुःखोंका उद्भवस्थान है, मन्दबुद्धि मनुष्य बड़ी कठिनाईसे उसका त्याग कर सकते हैं। शरीर बूढा हो जाता है, पर तृष्णा नित्य तरुणी ही बनी रहती है। अतः जो कल्याण चाहता है, उसे शीघ्र-से-शीघ्र इस तृष्णा (भोग-वासना) का त्याग कर देना चाहिये।'

ज्यों-ज्यों मनचाही चीज मिलने लगती है, त्यों-त्यों मनचाहीकी सीमा और आगे बढ़ती है। यदि भोगोंकी प्राप्तिमें ही वास्तविक तृप्ति होती तो किसी भी अवस्थामें तो मनुष्य यह कहता कि 'अब और नहीं चाहिये।' पर देखनेमें आता है कि करोड़पति-अरबपतिमें भी वही हाहाकार है, वही अशान्ति है, वही 'अभी कुछ और' की पुकार बनी हुई है। जबतक अविद्याका नाश नहीं होता, तबतक शान्ति कहाँ?

संसारके समस्त सुख-भोग, समृद्धि-वैभव पाकर भी

जीव तृप्त नहीं होता इसका क्या कारण है ? हम सम्राट् भी हो जायँ फिर भी इच्छाओंकी इति नहीं—इसमें क्या हेतु है ? यह जीव सच्चिदानन्द है । आत्माका सनातन अंश है, नित्य पूर्ण है, इसकी तृप्ति अपूर्णसे कैसे होगी ? यह जिस अवस्थाको प्राप्त करता है, जहाँ भी यह जाता है, सम्राट् होनेपर भी यह देखता है कि वहाँ पूर्णता नहीं । देवराज इन्द्र बन जानेपर भी पूर्णताका बोध नहीं होता । वहाँ भी अतृप्त रहता है । जीवकी यह 'आत्यन्तिक अतृप्ति' यह सूचित करती है कि यह उस अवस्थाकी खोजमें है जो नित्य, सत्य, परिपूर्ण, अज, अविनाशी, शाश्वत, सनातन है । जबतक उसकी प्राप्ति नहीं होती तबतक इसे शान्ति नहीं मिलती । यदि भोगोंसे ही वासना मिट जाय तब तो इस सिद्धान्तमें ही बाधा आ जायगी । क्या जीव अपूर्ण-से कभी तृप्त होगा ? असलमें जीवके लिये इन अपूर्ण वस्तुओं-की प्राप्ति और उनमें रति पूर्णकी प्राप्तिमें बाधक है । 'असत्में द्बुद्धि, अनित्यमें नित्यबुद्धि, दुःखमें सुखबुद्धि और अपवित्रमें वित्रबुद्धि' ही तो अविद्याके लक्षण हैं । जब यह असत्, वित्र और दुःखरूपी वस्तु पूर्णकी प्राप्तिमें बाधक है, तब र इसीके बलपर—अविद्याका सहारा लेकर जीव अपनी वर्ती परमानन्द-स्थितिको कैसे प्राप्त करेगा ? हमें तो अपने हुँचना है, यदि राहकी ही किसी वस्तुपर हमारा मन लुभा और उसीमें हम रम गये, राहमें ही रह गये तो मार्ग घरकी ओर बढ़नेसे रुके और घरसे अलग ही रह गये । ये तो संसारशिखरपर खड़े होकर सन्त-महात्मा हमें हैं—'घर लौटो, राहमें न भटको ! यह संसार दुःखालय

है, अशाश्वत है, अनित्य है, असुख है, इसमें न भरमो।' भगवान्‌ने कहा है—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।

'इस क्षणभंगुर और सुखरहित संसारको पाकर मुझे भजो।' तुम्हारा मार्ग न छूटे। रास्ता छोड़कर अन्यत्र न भटक जाओ। दुखःका यह भण्डार है, क्षणभर भी ठहरनेवाला नहीं है! सावधान! भोगोंमें ही जब सुखका, तृप्तिका बोध होने लगेगा, तब मनुष्य वहीं ठहर जायगा। इसका परिणाम? परिणाम तो स्पष्ट है—वह आत्मासे वञ्चित रह जाता है। 'घर' नहीं पहुँचता, बीचमें ही रुक जाता है। और भोगोंमें तृप्ति कहाँ? ज्यों-ज्यों भोग मिलते हैं, वासना बढ़ती जाती है। इसीलिये सन्त कहते हैं—इन्हें छोड़ो—'विषयान् विषवत्त्यज!' भोगोंको विषके समान त्याग दो! भोगोंसे तृप्ति नहीं होती, हो नहीं सकती।

हमारे मनमें जो स्फुरणा होती है, उसका कारण है—हमारी सञ्चित कर्मराशि। सञ्चित है क्रियमाणकी पूंजी। क्रियमाणकी तहपर तह लग जाती है—कर्मोंकी बड़ी भारी तह लग गयी। इसी कर्मराशिका नाम सञ्चित है, इस सञ्चितसे कुछ सार लेकर प्रारब्ध बनता है। क्रियमाण और प्रारब्धका यही स्वरूप है। स्फुरणा उसी सञ्चितकी अधिक होती है, जो नवीन होता है। जो कर्म आदमी वर्तमानमें करता है उसीका नया सञ्चित बनता है। सञ्चितसे स्फुरणा (कर्मप्रेरणा) उत्पन्न होती है और बार-बार जैसी स्फुरणा होती है प्रायः वैसा ही नया कर्म बनता है। नया कर्म ही सञ्चित बन जाता है, उसीकी फिर स्फुरणा होती है। यों चक्र चलता जाता है। इससे पुराने सञ्चितके

पुराने संस्कार दब जाते हैं। जैसे गोदाममें जो माल सबके बाद रक्खा जाता है, निकालते समय सबसे पहले वही निकलता है। इसी प्रकार अन्तरमें जो अनन्त कर्मराशिकी तह-पर-तह लगी है, उनमेंसे उसीको स्फुरणा पहले होती है, जो सबसे आगेकी या ऊपरके स्तरका कर्म होता है। जैसे गोदाममें नीचे प्याज दवा है, ऊपर और आगे केसर-कपूर भर दिया जाय तो प्याजकी गन्ध दब जाती है और केसर-कपूरकी आती है। इतना होनेपर भी कभी-कभी वायुके झोंकेसे नीचे दबे प्याजकी भी गन्ध आ जाती है। वैसे ही वर्तमानके शुभ कर्मोंकी शुभ स्फुरणा होनेपर भी मनमें सञ्चित अशुभ कर्मोंकी अशुभ स्फुरणा भी कभी-कभी हो ही जाती है। पर यदि मनुष्य लगातार शुभका ही सञ्चय करता जाय तो पुराने कर्म बहुत नीचे दब जाते हैं। इसलिये मनुष्यको चाहिये कि वह बराबर शुभ सङ्गमें रहे और शुभको पकड़े रहे। तो इस प्रकार धीरे-धीरे उसके सारे बुरे कर्म और भाव दबकर नये शुभ और पुण्य भाव उदय होंगे। नवीन कर्म पुरुषार्थप्रधान है। बार-बार सत् पुरुषार्थ करे। यों करते रहनेसे आगे चलकर शुभका एक ऐसा सुन्दर चक्र बन जायगा कि फिर अशुभ होगा ही नहीं और जब शुभ खूब बढ़ जायगा, तब ज्ञानाग्नि उत्पन्न होगी ही। जैसे केसर-कपूरकी प्रचुरता होनेपर कभी रगड़ लगकर आग उत्पन्न हो ही जाती है। ज्ञानाग्नि शुद्ध अन्तःकरणमें ही उत्पन्न होती है। ज्ञानाग्नि सारी भली-बुरी कर्मराशिको भस्मकर मनुष्यको सच्ची निष्कर्मता प्रदान करती है। गोदाममें आग लग गयी, बुरा-भला सब भस्म हो गया। यदि हम त्यागके मार्गपर रहें तो सारा जीवन त्यागमय हो

जाता है। यदि भोगमें रहें तो फिर नये-नये भोगोंका परिचय, उनमें रुचि, वासना, आसक्ति और उनकी कामना मनमें बढ़ती जाती है और परिणामस्वरूप मनमें उन्हींका संस्कार दृढ़ होता है। इससे निश्चय ही नये-नये पाप होते हैं। मनुष्यको यह निश्चितरूपसे समझ लेना चाहिये कि पाप होनेमें कारण प्रारब्ध नहीं, कामासक्ति है। अर्जुनके पूछनेपर कि 'इच्छा न होनेपर भी मनुष्यसे बलात्कारसे कराये हुएकी भाँति पाप कौन करवाता है?' भगवान्‌ने कहा—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम्॥
(गीता ३।३७)

'अर्जुन! यह रजोगुण (रागात्मक वृत्ति—आसक्ति) से उत्पन्न काम (कामना) ही क्रोध है। यह कभी न अघानेवाला (भोगोंसे सदा अतृप्त रहनेवाला) और महान् पापी (पापोंका उत्पादक) है, इस सम्बन्धमें तू इसीको वैरी समझ।' पापोंकी जड़ है बस भोगकामना।

भगवान्‌ने बतलाया है—

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद् भवति संमोहः संमोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥
(गीता २।६२-६३)

('मनसहित इन्द्रियोंको वशमें करके उन्हें भगवत्परायण न कर दिया जायगा तो) मनके द्वारा विषयोंका चिन्तन होग

और विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उन विषयोंमें भी कामना उत्पन्न होगी, कामनामें विघ्न पड़नेसे क्रोध होगा (और कामना सफल होनेपर लोभ)। क्रोध (या लोभ) बढ़ते ही महान् मूढ़भाव उत्पन्न होगा और मूढ़तासे स्मरणशक्ति नष्ट-भ्रष्ट हो जायगी, स्मृतिके भ्रंश हो जानेसे बुद्धि अर्थात् विवेक-शक्तिका नाश हो जायगा और बुद्धिके नाश होनेसे यह श्रेय-साधनसे सर्वथा भ्रष्ट हो जायगा।' इस प्रकार विषयके स्मरण-मात्रसे मनुष्यका सर्वनाश हो जाता है। अच्छे-अच्छे संस्कारवाला पुरुष भी विषयोंके चिन्तनमें लग जाय तो वह महापापी हो जायगा। और उधर महापापी भी चित्तके द्वारा विषयोंका चिन्तन छोड़कर भगवान्के चिन्तनमें लगे तो वह शीघ्र ही पुण्यात्मा हो जायगा—

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।

'वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और उसे शाश्वती शान्ति प्राप्त होती है।' विषयोंके चिन्तनमात्रसे अशान्ति एवं सर्वनाशका द्वार खुल जाता है और भगवान्के स्मरणमात्रसे आनन्द और शान्तिका अमृत बरस पड़ता है। यह है महान् अन्तर। विषयोंके चिन्तनका अर्थ है—सर्वनाश। भगवान्के शरणका अर्थ है—आत्माको परम शान्तिकी प्राप्ति। भोगका अर्थ है—बार-बार मरना, बार-बार जन्म-मृत्युके चक्करमें पड़ना। त्यागका अर्थ है—मृत्युसे आत्यन्तिक निवृत्ति, भगवत्प्राप्ति!

इस प्रकार भोगोंसे भोगका नाश कैसे होगा? 'छूटइ मल कि मलहि के धोएँ?' बहादुरीके साथ, निष्ठा और लगनके

साथ भोगोंका त्याग करना चाहिये। भोगविषयोंका त्याग लोगोंको दिखानेके लिये—दम्भके लिये न हो, ईमानदारीसे होना चाहिये। साधन दूसरी वस्तु है तथा साधनका दम्भ दूसरी। लोगोंको दिखलानेके लिये जो कुछ होता है, मान-सम्मानकी आशासे जो कुछ किया जाता है, उसे दम्भ समझना चाहिये। त्यागका स्वाँग त्याग नहीं है। महिमा तो सच्चे त्यागकी है। निश्छल, निष्कपट त्याग ही त्याग है।

त्याग होना चाहिये यथार्थ, सच्चा। ऊपरसे त्याग हो और मनमें चिन्तन चलता रहे, कामनाकी आग बुझे नहीं तो वह दम्भाचार होगा। भोगत्यागका असली अर्थ है—भोग-कामनाका त्याग। उस त्यागसे तुरन्त शान्ति मिलती है। संसारमें रहनेवालेसे भोगका सर्वथा त्याग तो होगा ही नहीं। पर राग-द्वेषरहित होकर वशमें किये हुए मन-इन्द्रियोंसे जो संयमित (शास्त्रविहित, परिमित और नियमित) विषयोंका भोग होता है, उससे प्रसाद (अन्तःकरणकी प्रसन्नता और निर्मलता) प्राप्त होता है तथा उस प्रसादसे सारे दुःखोंका नाश हो जाता है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।

(गीता २। ६३-६४)



दुःखनाशके अमोघ उपाय

सभी प्राणी सुख चाहते हैं और वह सुख भी अखण्ड, पूर्ण और नित्य चाहते हैं। परन्तु मोहवश उसकी खोज करते हैं संसारके पदार्थोंमें, जो स्वयं अपूर्ण, खण्ड और अनित्य हैं। भगवान्‌ने उनको सुखरहित और अनित्य अथवा दुःखालय और अशाश्वत बतलाया है। सो सत्य ही है। जो वस्तु अपूर्ण, खण्ड और अनित्य होती है, वह कभी सुख नहीं दे सकती। फिर जगत्‌में जो हम सुख देखते हैं, वह क्या है? वह है भ्रान्ति। असलमें तो 'विषयोंमें सुख है,' ऐसी कल्पना ही भ्रम है। भगवान्‌ने भोगोंको दुःखयोनि बतलाया है। भगवान् कहते हैं—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

(गीता ५। २२)

'अर्जुन! ये जो इन्द्रियोंके स्पर्शसे उत्पन्न भोग हैं, सब दुःखकी उत्पत्तिके स्थान हैं और आदि-अन्तवाले हैं। बुद्धिमान् पुरुष उन भोगोंमें कभी प्रीति नहीं करता।'

वस्तुतः जगत्के सुख-दुःख सब केवल अनुकूलता और प्रतिकूलताको लेकर ही हैं। जहाँ अनुकूलताका बोध है, वहाँ सुख है और जहाँ प्रतिकूलताका बोध है, वह दुःख है। किसी स्थिति, घटना या वस्तुमें सुख-दुःख नहीं हैं। एक आदमीकी मृत्यु होती है। उसमें जिनका ममत्व है, वे प्रतिकूलताका अनुभव करके रोते हैं और जिनकी शत्रुता है, वे अनुकूलताके बोधसे हँसते हैं और आनन्द मनाते हैं। नारदजी पूर्वजन्ममें जब वे दासीपुत्र थे और बहुत छोटी उम्रके—केवल पाँच वर्षके—थे, तब उनकी आश्रयभूता एकमात्र माताको साँपने डस लिया। माता मर गयी, इसपर नारदजीको दुःख नहीं हुआ। उन्होंने सोचा कि 'माता मेरे भजनमें एक प्रतिबन्धक थी। भगवान्ने बड़ा अनुग्रह किया जो माताका देहान्त हो गया।' वे माताके इकलौते पुत्र थे। परन्तु अनुकूलताकी भावनासे वे दुखी नहीं हुए। नरसी भक्तके इकलौते और अत्यन्त प्यारे जवान पुत्रकी मृत्यु हो गयी। नरसीजीने उसमें अनुकूलताका अनुभव किया और दुखी न होकर वे गाने लगे—'भलुं थयु भांगी जंजाल। सुखे भजीशुं श्रीगोपाल।' 'अच्छा हुआ जञ्जाल टूट गया, अब सुखसे श्रीगोपालजीका भजन करूँगा।' लगभग पैंतालीस वर्ष पहलेकी बात है। कलकत्तेके 'अलीपुर बम केस' में जिसमें श्रीअरविन्द तथा उनके भाई श्रीवारीन्द्रकुमार घोष आदि अभियुक्त थे, नरेन्द्र गोस्वामी नामक एक युवक सरकारी गवाह बन गया था। उसको जेलमें ही एक दूसरे अभियुक्त श्रीकन्हाईलाल दत्तने मार डाला। कन्हाईलालको फाँसीकी सजा हुई। पर उनको अपने इस कार्यपर इतना अधिक सन्तोष और आनन्द था कि फाँसीकी

सजा सुनायी जाने और फांसी होनेके बीचके दो-तीन सप्ताहके समयमें ही उसका कई पोण्ड वजन बढ़ गया। कहाँ तो मौतके नामसे खून सूख जाता है, कहाँ मृत्युकी तिथि निश्चितहो जानेपर भी खून बढ़ गया। गोस्वामीको मारना पाप था या पुण्य, यह पृथक् प्रश्न है। पर कन्हाईलालने अपनी इस मृत्युमें इतनी अधिक विलक्षण अनुकूलताका बोध किया और इतना अधिक सुखका अनुभव किया कि जिसने उसका इतना खून बढ़ा दिया। अतएव किसी घटनामें सुख-दुःख नहीं है। वह तो अनुकूलता और प्रतिकूलताके भावमें ही है।

एक ध्यानका अभ्यास करनेवाला साधक कोठरी बन्द करके बैठता है और कहता है कि 'बाहरसे ताला लगा दिया जाय। तीन घण्टे कोई खोले नहीं।' वह अन्दर बैठकर मनको रोकने और इष्टका ध्यान करनेकी कोशिश करता है। यद्यपि नया साधक होनेसे उसका मन टिकता नहीं, पर वह इसमें सुखका अनुभव करता है। और उसी कोठरीकी बगलकी दूसरी कोठरीमें एक आदमीको उसकी इच्छाके विरुद्ध बन्द कर दिया जाता है। वह बड़ा दुखी होता है और कहता है कि 'तुरन्त मुझे बाहर निकाल दिया जाय।' बन्द करनेवालोंको वह दुर्वचन कहता है, शाप देता है। दोनोंकी बाहरी स्थिति बिल्कुल एक-सी है। दोनों ही एक-सी जगह बन्द हैं। दोनोंके ही मन चञ्चल हैं। पर एक अनुकूलताका बोध करता है, दूसरा प्रतिकूलताका। इसीके अनुसार वे दोनों सुख-दुःखका भी पृथक्-पृथक् अनुभव करते हैं।

एक आदमी अपने विपुल धनैश्वर्यका स्वेच्छापूर्वक त्याग

करके संन्यास ग्रहण करता है और दूसरेका धन छीनकर उसे वैरी लोग घरसे निकाल देते हैं। दोनों समान धनहीन हैं। पर पहला प्रसन्न है, दूसरा दुखी है। इसका कारण वही अनुकूलता-प्रतिकूलताका बोध है। इससे सिद्ध है कि यहाँके सुख-दुःख अनुकूल-प्रतिकूलभावमें ही हैं। एक भूखा आदमी है, बढ़िया-बढ़िया भोजन-पदार्थ बने हैं, वह खानेको लालायित है। खाने बैठता है, बड़ा स्वाद, बड़ा सुख मिलता है। भर पेट खा लिया, खूब अघा गया। अब वही पदार्थ यदि कोई उसे जबर्दस्ती खिलाना चाहता है तो उसे गुस्सा आ जाता है। वह उद्विग्न हो जाता है। पहले अनुकूलभाव था, तब सुख मिला। प्रतिकूल होते ही दुःख हो गया। अतः सुख-दुःख वस्तुमें नहीं हैं।

यह भी निश्चित है कि यहाँकी प्रत्येक अनुकूलता अनेकों प्रकारकी प्रतिकूलताओंको साथ लेकर आती है। एक अभावकी पूर्ति दसों नये अभावोंकी उत्पत्ति करनेवाली होती है। यहाँकी वस्तुमात्र ही—स्थितिमात्र ही अपूर्ण, अनित्य, क्षणभङ्गुर, वियोगशील और किसी अन्य वस्तु या स्थितिसे निम्न स्तरकी है। जहाँ यह परिस्थिति है वहाँ प्रतिकूलता रहेगी ही; और प्रतिकूलता रहेगी तो दुःख भी रहेगा ही। अतः कोई यह चाहे कि मैं जगत्‌में सारी परिस्थितियोंको सदा अपने अनुकूल बना लूंगा और परम सुखी हो जाऊँगा तो यह सर्वथा असम्भव है। ऐसा कभी हो ही नहीं सकता। विचारके द्वारा प्रत्येक प्रतिकूलताको उपर्युक्त नारदजी और नरसीजीकी भाँति अनुकूलतामें परिणत कर लेना पड़ेगा, तभी सुख होगा। और ऐसा करना मनुष्यके अपने हाथकी बात है। स्वरूपतः बाह्य परिस्थितिको बदल देना तो बहुत ही

कठिन है, निश्चित प्रारब्ध होनेपर तो असम्भव-सा ही है; परन्तु विचारके द्वारा दुःखको सुखरूपमें परिणत करके सुखी हो जाना सहज है और अपने अधिकारमें है। इसके कई तरीके हैं, जो सभी सत्यके स्वरूप हैं।

१—वेदान्तकी दृष्टिसे जगत् स्वप्नवत् है। मायासे ही यह सत्य भास रहा है। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा।

(१५।३)

'इसका स्वरूप जैसा दीखता है वैसा मिलता नहीं और इसका न आदि है, न अन्त है और न इसकी अच्छी तरहसे स्थिति ही है।' सिनेमा देख रहे हैं। नाना प्रकारके दृश्य दिखलायी दे रहे हैं। आवाज सुनायी पड़ रही है। परन्तु कोई चाहे कि इन देखी हुई वस्तुओंको पर्देके पास जाकर मैं ले लूँ तो उसे सर्वथा निराश होना पड़ता है। वहाँ सिवा सादे पर्देके और कुछ है ही नहीं। अथवा जैसे स्वप्नकी सृष्टिके पदार्थ और वहाँकी घटनाएँ जागनेपर नहीं मिलतीं, पर जबतक स्वप्न है, तबतक यह पता नहीं लगता कि यह स्वप्नकी सृष्टि कबसे बनी है और यह कबतक रहेगी। वहाँ तो यह नित्य ही मालूम होता है। पर सचमुच उसकी वहाँ कुछ भी प्रतिष्ठा—स्थिति नहीं है। स्वप्न टूटा कि कुछ नहीं। अतएव जगत्‌के समस्त सुख-दुःख स्वप्नकी सृष्टिके सुख-दुःखोंकी भाँति असत् हैं, जागनेपर जैसे स्वप्नके देखे हुए पदार्थोंकी सत्ता नहीं रहती, वैसे ही ज्ञानमें इनकी भी सत्ता नहीं है, इसलिये इन घटनाओंको लेकर सुखी-

दुखी होना मूर्खता है। एक ही अखण्ड परिपूर्ण परमात्मसत्ता है, वह नित्य सत्य सच्चिदानन्द-घन है। उसमें न जन्म है न मृत्यु, न सुख है न दुःख, न लाभ है न हानि। वह सदा सम, एकरस और कूटस्थ है। इस प्रकारके विचारसे दुःखका नाश हो जाता है। संसारकी स्थिति कुछ भी हो, इस प्रकारके निश्चयवाले पुरुषको सुख-दुःख कभी नहीं होता। श्रीगीतामें कहा है—

न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥

वह प्रिय (जिसको लोग प्रिय या सुख कहते हैं) को प्राप्त करके हर्षित नहीं होता। अप्रिय (जिसको लोग अप्रिय या दुःख कहते हैं) को प्राप्त करके वह उद्विग्न नहीं होता; क्योंकि उसकी बुद्धि स्थिर हो गयी है, उसके सब सन्देह मिट गये हैं, वह ब्रह्मको जान गया है और ब्रह्ममें स्थित है।

वह निरतिशय आत्यन्तिक आनन्दका अनुभव करता है। आनन्दरूप ही हो जाता है। फिर उसके लिये दुःख रहता ही नहीं।

ऐसी स्थिति न हो, तबतक विचारपूर्वक ऐसी धारणा करे। इस धारणासे ही दुःखका नाश हो जाता है।

२—जगत्में जीवोंके लिये फलस्वरूपसे जो कुछ भी प्राप्त है, सब सर्वशक्तिमान्, जीवोंके परम सुहृद् भगवान्के नियन्त्रणमें और उनके विधानसे होता है। मङ्गलमय प्रभुका प्रत्येक विधान मङ्गलमय है। देखनेमें चाहे कितना ही भयङ्कर हो, पर वास्तवमें वह कल्याणमय ही है। निपुण डॉक्टर जहरीले फोड़ेका ऑपरेशन करते हैं। छुरियोंसे अङ्गको काटते हैं। दर्द भी होता है। पर डॉक्टर यह क्रूर कार्य

करते हैं रोगीके मङ्गलके लिये। तथा रोगी यदि विश्वासी और समझदार है तो वह इस निष्ठुर पीड़ादायक कर्ममें भी डॉक्टरकी दया मानकर प्रसन्न होता है और उसका कृतज्ञ होता है। इसी प्रकार हमारे परम सुहृद् मङ्गलमय भगवान् भी कभी-कभी हमारे मङ्गलके लिये ऑपरेशन किया करते हैं। इस बातपर हमें विश्वास हो जाय तो फिर दुःख रहेगा ही नहीं। छोटे बच्चेको माँ रगड़-रगड़कर नहलाती है, बच्चा रोता है, पर माँ उसके शरीरका मैल उतारकर उसे स्वच्छ, पवित्र, निर्मल बनाकर नये कपड़े पहनाने और सजानेके लिये ही यह आयोजन करती है। इसी प्रकार भगवान् भी हमें निर्मल और पवित्र बनानेके लिये पापोंका फल—कष्ट भुगताया करते हैं। इसमें भी उनका वात्सल्य और कारुण्य भरा रहता है। इस दृष्टिसे यदि हम विश्वासपूर्वक विचार करें तो फिर दुःख नामक कोई वस्तु नहीं रह जाती और हम हर-हालतमें भगवान्के मङ्गलविधानका दर्शन करके भगवान्के मङ्गलमय करकमलका स्पर्श पाकर आनन्दमुग्ध रह सकते हैं।

३—जगत्में वास्तवमें दो ही तत्त्व हैं—भगवान् और भगवान्की लीला। 'जो कुछ है, सब भगवान् हैं,' और 'जो हो रहा है, सब भगवान्की लीला हो रही है।' एवं लीलामय और लीलामें वैसे ही अभेद है जैसे अग्नि और उसकी दाहिका शक्तिमें। अथवा सूर्य और सूर्यके प्रकाशमें। अतः हमारे साथ जो कुछ हो रहा है, सब हमारे प्रियतम भगवान्की लीला ही हो रही है। इस लीलाका संस्पर्श वस्तुतः लीलामय भगवान्का ही संस्पर्श है। विश्वासपूर्वक इस प्रकारका भाव हो जानेपर

दुःखका सर्वथा अभाव हो जाता है। क्षण-क्षणमें प्रत्येक सुख-दुःख-सञ्ज्ञक भोगोंमें लीलाविहारी भगवान्का मङ्गलमय स्पर्श प्राप्त होता रहता है, जिससे नित्य नव-नव आनन्दरसकी धारा बहती रहती है।

ये तीनों ही बातें सिद्धान्ततः सत्य हैं। जगत् स्वप्नवत् है—केवल ब्रह्म ही व्याप्त है। जगत्में सब कुछ मङ्गलमय भगवान्के मङ्गल विधानसे मङ्गल ही हो रहा है और जगत्में भगवान् ही अपने आपसे आप ही खेल रहे हैं। तीनोंका ही तात्त्विक स्वरूप एक ही है। यह वस्तुतः सत्यको सत्यमें देखना है, जो मानव-जीवनका परम कर्तव्य है। इसीका फल भगवत्प्राप्ति या पूर्ण सुखरूप मोक्ष है।

इस प्रकार अशेष दुखोंसे छूटकर मनुष्य भगवत्कृपासे अपनी इसी आयुमें अखण्ड और पूर्ण सुखकी प्राप्ति कर सकता है। इच्छा, विश्वास और तत्परता होनी चाहिये।



नैतिक पतन और उससे बचनेके उपाय

भगवान् श्रीकृष्णने श्रीमद्भगवद्गीताके सोलहवें अध्यायमें आसुरी सम्पत्तिके स्वरूप, लक्षण तथा परिणामका विशद वर्णन करते हुए अन्तमें कहा—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥
(१६ । २१)

'काम, क्रोध और लोभ । ये तीन प्रकारके नरकके द्वार हैं और आत्माका नाश करनेवाले हैं । इसलिये इन तीनोंका त्याग करना चाहिये ।'

पर हमारा बड़ा दुर्भाग्य है कि यही तीनों आज हमारे जीवनके अवलम्बन-से हो रहे हैं । कोई भी क्षेत्र इनके बुरे प्रभावसे अछूता नहीं बचा है । इन्हींके कारण आज सारा समाज बड़ी तेजीसे पतनकी ओर जा रहा है । इसीलिये इतनी अशान्ति, कलह, दुःख और पीड़ा है ।

प्रथम तो वर्तमान सरकारने प्रजापर इतने अधिक कर लगा दिये हैं कि उनके बोझसे सब दब गये हैं और किसी भी उपायसे उस कर-भारसे बचना चाहते हैं। कुछ वर्षों पहलेकी बात है—एक बड़े व्यापारी सज्जनने कहा था कि "हमलोग शौकसे झूठ-कपट नहीं कर रहे हैं। इतना भारी कर लगा है कि उसे यदि पूरा चुकाने जायँ तो खर्च जोड़कर अमुक प्रतिशत उलटा घाटा रहता है। यह तो वैसी ही बात है जैसे कोई डाकू घरवार लूटनेके लिये सदल-बल घरमें आ घुसा हो और उसका सामना करके बचनेकी आशा न हो; तब जैसे उससे बचानेके लिये घरका धन, जेवर-जवाहरात आदि छिपा लिया जाता है और उससे विनयपूर्वक असत्य कहा जाता है कि 'हमारे घरमें तो कुछ है ही नहीं, देख लो।' ठीक वैसे ही इस अन्यायपूर्ण करसे बचनेके लिये हमलोगोंको मिथ्याका आश्रय लेना पड़ता है।" यद्यपि उनकी इस युक्तिका पूर्ण समर्थन नहीं किया जा सकता। किसी भी स्थितिमें छल, कपट और चोरी-का समर्थन आस्तिक तथा धर्मभीरु पुरुषके लिये इष्ट नहीं है। इधर तो आय-करमें कुछ कमी भी हुई है। तथापि यह बात ऐसी नहीं है जो बिल्कुल उड़ा दी जाय। आजकल जिस प्रकार-से नये-नये कर लगाये जा रहे हैं, हर एक बातमें प्रजाको परा-धीन बनाया जा रहा है, खुला व्यापार मानों रहा ही नहीं। ऐसी अवस्थामें छिपाकर धन कमाने और रखने की प्रवृत्ति होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। सचमुच आजके नैतिक पतनमें यह भयानक कर-भार भी एक प्रधान कारण है।

दूसरा कारण है—नियन्त्रण या कण्ट्रोल। महात्मा गांधी-

जीने इसकी बुराइयोंको समझा था और वे रहते तो अबतक यह नियन्त्रणकी विशाल माया-नगरी कभीकी उजड़ गयी होती। नियन्त्रणकी बुराइयोंको अधिकारी लोगोंमेंसे अधिकांश जानते हैं; परन्तु नियन्त्रण बने रहनेमें ही सबका स्वार्थ है, इसलिये विविध युक्तियोंसे नियन्त्रणकी आवश्यकता बतलायी जाती है। यद्यपि हम उन बातोंको प्रमाणित नहीं कर सकते पर हमें अच्छी तरह ज्ञात है कि नियन्त्रणके कारण ही चोरबाजारी अधिक होती है। इस विभागके बहुतसे उच्च अफसर तथा इन्स-पेक्टर आदि अपनेको प्रलोभनसे नहीं बचा सकते और वे उचित-अनुचित सभी तरीकोंसे व्यापारियोंसे रुपये लेते हैं। फलतः व्यापारियोंको चोरबाजारी करनेमें उत्साह और सुविधा मिल जाती है और कहीं-कहीं तो उन्हें (उनके कथनानुसार) आवश्यकता भी प्रतीत होने लगती है; क्योंकि ऐसा किये बिना वे उन अधिकारियोंकी माँग पूरी नहीं कर पाते। कई जगह तो व्यापारियोंसे इन लोगोंकी नियत मासिक रकम बँधी होती है। कई जगह अमुक प्रतिशत देना पड़ता है। इसके अतिरिक्त अन्य भी अनेक प्रकारसे व्यापारी और अधिकारी मिलकर यह पाप करते हैं। अब तो इन्हें इसका ऐसा चसका लग गया है जो किसी भी कानूनसे रुकना बड़ा कठिन है।

मनुष्य जबतक पापको पाप समझता है, तबतक वह पाप-से डरता है। कभी परिस्थिति या किसी लोभविशेषके कारण वह पाप कर भी लेता है तो पीछे पश्चात्ताप करता है। पर जब पापसे घृणा हट जाती है और उसमें बुद्धिमानी तथा गौरवका बोध होने लगता है—पापमें पुण्यबुद्धि हो जाती है, तब पापसे

बचना बहुत ही कठिन हो जाता है। फिर तो पापके नित्य नये-नये तरीके निकलते रहते हैं। इस प्रकार पापको पुण्य, अधर्मको धर्म या अन्यायको न्याय मानते-मानते बुद्धि इतनी तमसाच्छन्न हो जाती है कि फिर सभी चीजें उसे उलटी दीखने लगती हैं—'सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी' (गीता १८ । ३२)। ऐसा कामोपभोगपरायण लोभग्रस्त तामस मनुष्य या समाज क्रमशः मानवताको खोकर दानव या असुर बन जाता है, फिर ऐसा कोई भी जघन्य कार्य नहीं जो वह नहीं कर सकता और समाजमें जब प्रमुख माने जानेवाले लोग इस प्रकारके बन जाते हैं, तब दूसरे लोग भी उन्हींका अनुसरण करने लगते हैं और समाजमें उनको कोई बुरा नहीं कहता। खुले चोर और डाकुओंको समाज बुरा बतलाता है और उनसे घृणा करता है, जो उचित ही है। पर ये छिपे चोर और डाकू—जो खुले चोर-डाकुओंसे कहीं भयानक और समाजका अधःपात करनेवाले हैं—क्योंकि वे चोर-डाकू तो कभी-कभी चोरी-डकैती करते हैं पर ये तो दिन-रात व्यापार और अधिकारकी आड़में भयानक-से-भयानक दुष्कर्म करते रहते हैं और समाजमें श्रेष्ठ होनेके कारण दूसरे लोगोंमें भी वैसे ही करनेकी प्रवृत्ति पैदा करते हैं—समाजमें प्रतिष्ठा और उच्च पद प्राप्त करते हैं।

आज हमारी प्रायः ऐसी ही दशा हो रही है। समाजमें आज उसीका मान और आदर है जो धन कमा लेता है, फिर वह चाहे किसी भी बुरे-से-बुरे साधनसे कमाता हो। एक ऊँचे अफसरने एक बार कहा था कि 'मैं रिश्वत नहीं लेता, इसमें

मेरे ऊपर तथा नीचेके अधिकारी मुझको मूर्ख तो मानते ही हैं, अपने मार्गका काँटा समझते हैं और ऐसा प्रयत्न करते हैं कि मैं किसी प्रकार दोषी साबित होकर यहाँसे निकाल दिया जाऊँ।' एकाधिक ऐसे अफसरोंको हम जानते हैं, जो रिश्वत न खानेके कारण अपने ऊपरके अफसरोंको खुश नहीं रख सके और इसी कारण उनपर कई प्रकारकी विपत्तियाँ आयीं। उनकी उन्नति रुक गयी, उन्हें मुअत्तिल किया गया, उनको अपने स्तरसे नीचे गिराया गया तथा उनपर कई तरहके अपराध लगाये गये और हजार प्रयत्न करनेपर भी उनका कष्ट दूर नहीं हुआ। वे मूर्ख और विक्षिप्त तो कहलाये ही, शरारती भी कहलाये।

इसी प्रकार व्यापारी जगत्में भी जो सचाईसे काम करता है, छल-कौशलसे अनाप-शनाप पैसा नहीं कमा सकता, उसे बन्धु-बान्धव तथा आसपासके लोग मूर्ख बतलाते हैं और विद्वान् बुद्धिमान् होनेपर भी उस बेचारेको अपनी निन्दा सुननी पड़ती है तथा पाँच आदमियोंमें झेंपना पड़ता है। यह दोष यहाँतक गहरा चला गया है कि जो लोग गीता-रामायण पढ़ते हैं, अपनेको ज्ञानी या भक्त मानते हैं, जो धर्मात्मा, उदार और दानशील माने जाते हैं तथा जो प्रसिद्ध देशभक्त, समाज-सेवक और नेता समझे जाते हैं, वे लोग भी इस महान् दोषको दोष नहीं मानते और जीवन-यापनके लिये मानो आवश्यक मानकर इसे खुशीसे अपनाते हैं।

ईश्वर, परलोक तथा पापका डर तो शास्त्रोंमें अश्रद्धा होनेसे चला गया। समाजका डर भी जाता रहा; क्योंकि प्रायः समाज भरमें यह पाप फैल गया, अतः कौन किसको बुरा कहे।

बचा कानून, सो उसका डर भी अब प्रायः नहीं रहा; क्योंकि मेल-मिलापसे वह भी दूर हो जाता है। क्या कहा जाय। दिनों-दिन बुराइयाँ बढ़ती जा रही हैं और इस ओर प्रायः बहुत ही कम लोगोंका ध्यान है। तथा जिनका ध्यान है वे कुछ कर नहीं सकते या करनेमें प्रमाद करते हैं। इस प्रकार पापमें गौरवबुद्धि हो जानेके कारण क्या-क्या होने लगा है, इसपर जरा विचार कीजिये—

(१) रिश्वतखोरी उत्तरोत्तर बढ़ती ही जा रही है, अवश्य ही उसके रूप और ढङ्ग बदलते रहते हैं।

(२) डरा-धमकाकर, पकड़नेकी धमकी देकर या पकड़कर भी रुपये वसूल किये जाते हैं। पकड़ा-धकड़ी जितनी अपराध मिटानेके लिये नहीं होती, उतनी अपने स्वार्थसाधनके लिये होती है। यथार्थ तथा बड़े अपराधी कम पकड़े जाते हैं। बड़े अपराधियोंपर आतङ्क जमानेके लिये छोटे ही अधिक शिकार होते हैं।

(३) व्यापारी लोग करसे बचने तथा भाँति-भाँतिकी अनीतिको छिपानेके लिये रिश्वत देते तथा झूठे बहीखाते बनाते हैं।

(४) भारतके बाहरसे आनेवाली और बाहर भेजी जानेवाली चीजोंपर जो समय-समयपर प्रतिबन्ध लगाये तथा उठाये जाते हैं, उसमें कई बार तो ऐसे छिपे कारण होते हैं, जो सर्वथा अनीतिपूर्ण हैं। कुछ बड़े व्यापारियोंको सप्ताहों पहले इसका पता लग जाता है कि अमुक तारीखको अमुक वस्तुपर प्रतिबन्ध लगेगा या उठेगा। वरं यह कहना भी अत्युक्ति न होगी कि

(६) अच्छा नमूना दिखलाकर घटिया माल देना, तौलमें कम देना या अधिक ले लेना, रूई या पाटको जलसे भिगोकर उनका वजन बढ़ा देना, बाजार तेज हो जानेपर बेचे हुए मालको देनेसे इनकार कर जाना और मन्दा होनेपर खरीदा हुआ माल न लेना—आदि बातें तो आज व्यापारकी चतुराई समझी जाने लगी हैं। उच्च सम्मानप्राप्त बड़े-बड़े उद्योगपति तथा व्यापारी इनको गौरवके साथ करते हैं।

(७) धर्म और ईश्वरके नामपर भोले-भाले नर-नारियोंको ठगने और उनका धन, शील आदि अपहरण करनेकी प्रवृत्ति बढ़ रही है। कई लोग तो अपनेको भगवान् कहकर पुजवाते हैं!

(८) शिक्षाविभाग और डाक-तार विभागतकमें रिश्वत चलने लगी है और न देनेपर काम बिगड़ जाता है। कोर्ट और रेलवे आदिमें तो माँग-माँगकर ली-दी जाती है।

(९) राजनीतिक क्षेत्रमें बढ़ती हुई दलबन्दियाँ, एक-दूसरेको नीचा दिखानेका प्रयत्न, दूसरोंको गिराकर अपनेको ऊपर उठानेकी कोशिश; परनिन्दामें, दूसरेकी अवनतिमें और दुःखमें सुखका अनुभव, लूट-मार, दूसरोंको व्यर्थ हानि पहुँचानेकी इच्छा, हिंसा तथा क्रोधमें गौरव-बुद्धि, दलोंका बाहुल्य, धार्मिक क्षेत्रका पारस्परिक विद्वेष और स्वेच्छाचार आदि अनर्थ दिनोंदिन बढ़ते ही जा रहे हैं!

(१०) सिनेमा, रेडियो तथा गन्दे साहित्यके द्वारा जनतामें कामवासनाकी वृद्धि हो रही है और फलतः उच्छृङ्खलता तथा चारित्रिक पतन बढ़ रहा है। भले-भले घरोंके पुरुष और

स्त्रियोंमें वड़ी तेजीसे चरित्रका नाश हो रहा है और इस चरित्रनाशमें कहीं-कहीं तो गौरवका अनुभव किया जा रहा है !

(११) विद्यार्थी-जगत्में उच्छृङ्खलता वढ़ रही है। शिक्षकों और विद्यार्थियोंके सम्वन्ध अत्यन्त अवाञ्छनीय हो रहे हैं। गुरु-शिष्यकी पवित्र मर्यादा प्रायः नष्ट हो गयी है और परस्पर प्रतिद्वन्द्विता तथा द्वेषके भाव वढ़ रहे हैं। चरित्र-नाश भी वड़ी तेजीसे हो रहा है !

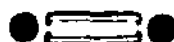
(१२) तरुणी कुमारियों और नवयुवकोंकी सहशिक्षासे भी चरित्रकी पवित्रताका वड़ा ह्रास और नाश हुआ है तथा उत्तरोत्तर अधिक हो रहा है। कहाँ तो जगज्जननी सीताजीने पुत्रके समान सेवक ब्रह्मचारी हनुमान्‌जीका स्पर्श करना अस्वीकार कर दिया था और कहाँ आज अवाध संसर्गको प्रोत्साहन दिया जा रहा है, सो भी शिक्षाके पवित्र नामपर !

(१३) खान-पानमें हर किसीका जूंठा खानेकी प्रवृत्ति वढ़ रही है और इससे सुधार वताया जा रहा है ! रेलोंमें, होटलोंमें और घरोंमें भी कांच तथा चीनी-मिट्टीके वर्तनोंका प्रचार, जूते पहने हुए ही भोजन करना, किसी भी जातिके और कैसे भी गन्दे रहनेवाले आदमीके हाथोंसे खाना, जूंठे हाथों जूंठी चम्मचसे खानेकी सामग्री लेना, एक ही वर्तनमें रक्खे हुए फल-मेवा-पान आदि पदार्थोंको वहुतसे लोगोंका मुंहमें हाथ या अँगुली देकर खाना, एक ही थाली या पत्तलमें वहुतोंका साथ खाना, जूंठे वर्तनोंमें ही चाय, सोडा, जल आदि पीना, वर्तनोंको केवल धो भर लेना, मांस-मदिरासे भी परहेज न करना, अण्डों-का भोजनके रूपमें प्रयोग करना, खाकर हाथ-मुंह न धोना,

कुल्ले न करना और चलते-चलते खाना आदि ऐसी बातें हैं जिनसे पवित्रताका नाश तो होता ही है, तरह-तरह की बीमारियाँ भी फैलती हैं !

भ्रष्टाचार और अनाचारके ये थोड़े-से उदाहरण दिये गये हैं। न मालूम ऐसे कितने शारीरिक, वाचनिक और मानसिक दोष हमारे अन्दर आज आ गये हैं। इन सबका कारण है—घोर विषयासक्ति और तज्जनित काम, क्रोध तथा लोभका आश्रय। भगवान् और धर्मको भूल जानेपर मनुष्य असंयमी तथा यथेच्छाचारी होकर पतित हो जाता है और भ्रमवश उस पतनको ही उत्थान मानने लगता है ! आज हमारे समाजकी यही दशा हो रही है। इस पतनके प्रबल प्रवाहको शीघ्र ही न रोका गया तो पता नहीं यह हमें कहाँ ले जायगा !

इसको रोकनेके उपाय हैं—धर्म तथा भगवान्‌में श्रद्धा उत्पन्न करना, भगवान्‌से प्रार्थना करना, परलोक और पुनर्जन्ममें विश्वास बढ़ाना, सद्ग्रन्थोंका प्रचार करना, त्याग तथा प्रेमकी पवित्र भावनाएँ फैलाना, संयमका महत्त्व समझना, अहिंसा और सत्यका क्रियात्मक प्रसार करना, स्वार्थबुद्धिका नाश हो ऐसी शिक्षा देना, स्वयं निःस्वार्थभावसे सबकी सेवा करके आदर्श उपस्थित करना, स्कूल-कालेजोंमें धार्मिक शिक्षा अनिवार्य करना तथा वैराग्य और सच्ची भावनासे विषयासक्तिका नाश करना। इनमेंसे जिससे, जिस क्षेत्रमें, जितना कुछ हो सके, वही सचाईके साथ भगवान्‌पर विश्वास रखकर करना चाहिये।



उत्तर—'उपाय क्यों नहीं है ? ऐसा कौन जीव है जिसके लिये प्रभुकी कृपाका द्वार बन्द हो ? प्रभु ही यदि पापीको नहीं अपनायेंगे तो कौन अपनायेगा ? वे पतितपावन हैं, बड़े ही दयालु हैं। तुम भैया ! घबराओ नहीं। तुमपर तो उनकी कृपा बरसने लगी है—तभी तो तुम्हें अपनी करतूतोंपर पछतावा हो रहा है, तभी तो तुम नरकके भयसे काँपते, निस्तारके लिये रोते और प्रभुकृपा तथा प्रभुप्रेमको प्राप्त करनेके उपाय पूछते हो ! जिस कृपाने तुम्हें ऐसी वृत्ति दी है, वही कृपा तुम्हारा निस्तार करेगी, वही तुम्हें भगवान्से भी मिला देगी ! उस कृपापर विश्वास करो। मनमें निश्चय कर लो कि एकमात्र भगवान् ही ऐसे परम दयालु हैं, जो पापियोंको अपनाते हैं। स्नेहमयी माता जैसे अपने बच्चेकी गन्दगी अपने हाथों साफ करती है, वैसे ही भगवान् अपने ही हाथों अपने जनके महापापोंका नाश करके उसे अपने हृदयसे लगा लेने योग्य पवित्र बना लेते हैं और बड़े हर्षसे हृदयसे लगा लेते हैं ! भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं, सर्वेश्वर हैं, उनकी कृपासे पापोंका समूल नाश हो जायगा, उनकी भक्ति प्राप्त होगी और उनकी सेवाका अधिकार मिल जायगा। 'बस, एक वे ही ऐसे हैं, वे ही मेरे परम आश्रय हैं, वे ही मेरे एकमात्र रक्षक हैं, उनके सिवा मुझे कहीं भी ठौर नहीं।' इस प्रकार निश्चय करके उनके भजनमें लग जाओ, फिर देखते-ही-देखते तुम्हारा तमाम कायापलट हो जायगा। तुम महान् साधु और भगवान्के अनन्य भक्त बन जाओगे। एक तुम्हीं क्यों, सब पूछो तो इस घोर कलियुगमें आज ऐसे कितने लोग हैं [illegible] पड़कर मनको भय डालनेवाली प्रबल इन्द्रियों [illegible]

भी पाप-पथसे बिल्कुल बचे हों ? ऐसे कितने लोग हैं जिन्होंने जवानीकी गधापचीसीमें बुरे काम न किये हों और जिनका जीवन आदिसे अन्ततक निष्पाप, सर्वथा शुद्ध और परम पावन रहा हो ? जिनका जीवन ऐसा पवित्र है, वे निश्चय ही परम पूज्य हैं, उनके चरण-रजकणको प्राप्त करनेवाला भी पावन हो सकता है। परन्तु ऐसे लोग विरले ही हैं। अधिकांश जनसंख्या तो आज ऐसी ही है, जो पापके कीचड़में फँसी है। ऊपरसे भले ही साफ मालूम हो। ऐसी दशामें उन लोगोंको अवश्य ही भाग्यवान् और भगवान्के बड़े कृपापात्र समझना चाहिये, जो अपने बुरे कर्मोंके लिये पश्चात्ताप करते हैं, उनसे छूटनेका प्रयास करते हैं और भगवान्की कृपा तथा प्रेमकी प्राप्तिके लिये व्याकुल हो उठते हैं। दयालु भगवान् यही तो चाहते हैं। उनकी कृपा-सुधा-वृष्टिकी प्राप्तिके लिये इतना ही पर्याप्त है। पापोंका सच्चा प्रायश्चित्त हृदयके पश्चात्तापमें है और भगवान्की उस कातर प्रार्थनामें है—जिसमें अपनी बेबसीका सच्चा हाल बतलाकर भगवान्से कृपादान करनेके लिये रोया जाता है !

तुम पश्चात्ताप करो, रोओ, भगवान्से क्षमा प्रार्थना करो और सबसे आवश्यक बात है, भगवान्की कृपापर विश्वास करके, एकमात्र उन्हींको अपना परम रक्षक, सच्चा स्वामी, परम बन्धु, परम धन, परम इष्ट और परम आश्रय मानकर उनके भजनमें लग जाओ। बीत गयी सो बीत गयी; जो बुरे-भले कर्म बन गये सो बन गये। अब जितनी उम्र बाकी है, उसे भगवान्को सौंप दो। प्रत्येक श्वासमें उनका नाम जपो, उनका पावन स्मरण करो, प्रत्येक कार्य उनकी पूजाके लिये करो। फिर वे अपने-आप ही

तुम्हें अपना लेंगे। देर नहीं होगी। देखते-ही-देखते तुम महान् पवित्र और उनके परम प्रेमी बन जाओगे। उनकी प्रतिज्ञाको याद करो—

श्रीभगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(गीता ९। ३०-३१)

'यदि कोई अत्यन्त पापी भी अनन्यभाक् होकर (एकमात्र मुझको ही अपना रक्षक, स्वामी, आश्रय और परम इष्टदेव मानकर) मुझको भजता है (मेरे शरण होकर मेरे ही परायण होकर परम दृढ़ विश्वासके साथ हृदयकी निर्भरताके साथ मुझको पुकारता है) वह साधु ही मानने योग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है (उसने दृढ़रूपसे यही निश्चय कर लिया है कि एकमात्र परम शरण्य श्रीभगवान्‌के भजनके सिवा अब मुझे और कुछ भी नहीं करना है) ऐसे निश्चयवाला वह बहुत शीघ्र (देखते-ही-देखते) धर्मात्मा बन जाता है और नित्य रहनेवाली (भगवत्-प्राप्तिरूप) परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य समझ कि मेरा (पापकर्मसे सर्वथा न छूटा हुआ भी उपर्युक्त प्रकारसे मुझको ही एकमात्र परम आश्रय और परम रक्षक मानकर मेरा भजन करनेवाला) भक्त कभी नष्ट नहीं होता (अर्थात् कल्याणके मार्गमें कभी —

गिरता—वह मेरी कृपासे सर्वथा निष्पाप बनकर और मेरेद्वारा सुरक्षित होकर शीघ्र ही मुझको प्राप्त हो जाता है)।'

भगवान्‌की इस अमर आश्वासन-वाणी पर विश्वास करो और अपनेको उनके चरणोंपर डालकर निश्चिन्त हो जाओ। ही परम साधन है, जो बड़े-से-बड़े पापोंका क्षणोंमें उद्धार कर ता है।



चातककी प्रेम-साधना

जौं घन बरषै समय सिर जौं भरि जनम उदास ।
तुलसी या चित चातकहि तऊ तिहारी आस ॥

'तुलसीदासजी कहते हैं कि हे रामरूपी मेघ ! चाहे तुम ठीक समयपर बरसो (कृपाकी वृष्टि करो), चाहे जन्मभर उदासीन रहो—कभी न बरसो; परन्तु इस चित्तरूपी चातकको तो तुम्हारी ही आशा है ।

चातक तुलसी के मतें स्वातिहुँ पिऐ न पानि ।
प्रेम तृषा बाढ़ति भली घटें घटैगी आनि ॥

हे चातक ! तुलसीदासके मतसे तो तू स्वातिनक्षत्रमें बरसा हुआ जल भी न पीना; क्योंकि प्रेमकी प्यासका बढ़ते रहना ही अच्छा है, घटनेसे तो प्रेमकी प्रतिष्ठा ही घट जायगी ।

रटत रटत रसना लटी तृषा सूखि गे अंग ।
तुलसी चातक प्रेम को नित नूतन रुचि रंग ॥

अपने प्यारे मेघका नाम रटते-रटते चातककी जीभ लट गयी और प्यासके मारे सब अङ्ग सूख गये । तुलसीदासजी कहते हैं कि तो भी चातकके प्रेमका रङ्ग तो नित्य नया और सुन्दर ही होता जाता है ।

चढ़त न चातक चित कबहुँ प्रिय पयोद के दोष ।
तुलसी प्रेम पयोधि की ताते नाप न जोख

चातकके चित्तमें अपने प्रियतम मेघके दोष कभी आते ही नहीं। तुलसीदासजी कहते हैं—इसीलिये प्रेमके अथाह समुद्रका कोई माप-तोल नहीं हो सकता (उसकी थाह नहीं लगायी जा सकती)।

बरषि परुष पाहन पयद पंख करौ टुक टूक।
तुलसी परी न चाहिऐ चतुर चातकहि चूक॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि बादल कठोर ओले बरसाकर भले ही चातककी पाँखोंके टुकड़े-टुकड़े कर दे, पर प्रेमके प्रणमें चतुर चातकको अपने प्रेमका प्रण निवाहनेमें कभी भूल नहीं करनी चाहिये।

उपल बरषि गरजत तरजि डारत कुलिस कठोर।
चितव कि चातक मेघ तजि कबहुँ दूसरी ओर॥

मेघ कड़क-कड़ककर गरजता हुआ ओले बरसाता है और कठोर बिजली भी गिरा देता है; इतने पर भी प्रेमी पपीहा मेघको छोड़कर क्या कभी दूसरी ओर ताकता है?

पवि पाहन दामिनि गरज झरि झकोर खरि खीझि।
रोष न प्रीतम दोष लखि तुलसी रागहि रीझि॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि मेघ बिजली गिराकर, ओले बरसाकर, बिजली चमकाकर, कड़क-कड़ककर, वर्षाकी झड़ी लगाकर और आँधीके झकोरे देकर अपना बड़ा भारी रोष प्रकट करता है; परन्तु चातकको अपने प्रियतमका दोष देखकर क्रोध नहीं होता (उसे दोष दीखता ही नहीं), बल्कि इसमें भी वह अपने प्रति मेघका अनुराग देखकर उसपर रीझ जाता है।

मान राखिबो माँगिबो पिय सों नित नव नेहु ।
तुलसी तीनिउ तब फबैं जो चातक मत लेहु ॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि आत्मसम्मानकी रक्षा करना, माँगना और फिर भी प्रियतमसे प्रेमका नित्य नवीन होना (बढ़ना)—तीनों बातें तभी शोभा देती हैं, जब चातकके मतका अनुसरण किया जाय ।

तुलसी चातक ही फबै मान राखिबो प्रेम ।
बक्र बुंद लखि स्वातिहू निदरि निबाहत नेम ॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि प्रेमके मानकी रक्षा करना और प्रेमको भी निवाहना चातकको ही शोभा देता है । स्वाती-नक्षत्रमें भी यदि बूँद [मेघकी ओर निहारते हुए उसके मुखमें सीधी न पड़कर] टेढ़ी पड़ती है तो वह उसका निरादर करके प्रेमके नियमको निवाहता है । (चोंचको टेढ़ी करनेमें दूसरी ओर ताकना हो जायगा और इससे उसके प्रेममें व्यभिचार होगा, इसलिये वह प्यासा रह जाता है, परन्तु मुँह टेढा नहीं करता । दूसरी बात यह है कि वह टेढ़ी चोंच करके पीता है तो उसका मान घटता है । वह भिखमङ्गा नहीं है, प्रेमी है; देना हो तो सीधे दो, नहीं तो न सही ।)

तुलसी चातक माँगनो एक एक घन दानि ।
देत जो भू भाजन भरत लेत जो घूँटक पानि ॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि चातक एक ही अद्वितीय माँगनेवाला है और बादल भी एक ही (अद्वितीय) दानी है । बादल इतना देता है कि पृथ्वीके सब बर्तन (झील, तालाब आदि) भर जाते हैं, परन्तु चातक केवल एक घूँट ही पानी लेता है ।

तीनि लोक तिहुँ काल जस चातक ही कें माथ ।
तुलसी जासु न दीनता सुनी दूसरे नाथ ॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि तीनों लोकोंमें और तीनों कालोंमें कीर्ति तो केवल अनन्यप्रेमी चातकके ही भाग्यमें है, जिसकी दीनता संसारमें किसी भी दूसरे स्वामीने नहीं सुन पायी ।

प्रीति पपीहा पयद की प्रगट नई पहिचानि ।
जातक जगत कनाउड़ो कियो कनौड़ो दानि ॥

पपीहा और मेघके प्रेमका परिचय प्रत्यक्ष ही नये ही ढङ्गका है; याचक (मँगता) तो संसारभरका ऋणी होता है, परन्तु इस प्रेमी पपीहेने दानी मेघको अपना ऋणी बना डाला ।

नहिं जाचत नहि संग्रही सीस नाइ नहिं लेइ ।
ऐसे मानी मागनेहि को वारिद बिन देइ ॥

पपीहा न तो मुँहसे माँगता है, न जलका संग्रह करता है और न सिर झुकाकर लेता ही है (ऊँचा सिर किये ही 'पिउ' 'पिउ' की टेर लगाया करता है) । ऐसे मानी माँगनेवाले चातक को मेघके अतिरिक्त और कौन दे सकता है ?

को को न ज्यायो जगत में जीवन दायक दानि ।
भयो कनौड़ो जाचकहि पयद प्रेम पहिचानि ॥

जगत्‌में इस जीवनदाता दानी मेघने किस-किसको नहीं जिलाया ? परन्तु अपने प्रेमी याचक चातकके प्रेमको पहचानकर तो यह मेघ उल्टा स्वयं उसीका ऋणी हो गया ।

साधन साँसति सब सहत सबहि सुखद फल लाहु ।
तुलसी चातक जलद की रीझि बझि [illegible] ॥

मुख मीठे मानस मलिन कोकिल मोर चकोर।
सुजस धवल चातक नवल रह्यो भुवन भरि तोर॥

कोयल, मोर और चकोर मुँहके तो मीठे होते हैं, परन्तु मनके बड़े मैले होते हैं (बोली तो बड़ी मीठी बोलते हैं, पर कीट-सर्पादि जीवोंको खा जाते हैं) परन्तु हे नवल चातक! विश्वभरमें उज्ज्वल यश तो तेरा ही छाया हुआ है।

बास बेष बोलनि चलनि मानस मंजु मराल।
तुलसी चातक प्रेम की कीरति बिसद बिसाल॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि हंसका निवासस्थान (मानसरोवर), वेष (रङ्ग-रूप), बोली, चाल और [नीर-क्षीरका विवेक रखनेवाला तथा मोती चुगनेकी टेकवाला] मन—सभी सुन्दर हैं; परतु प्रेमकी कीर्ति तो सबसे बढ़कर विस्तृत और निर्मल चातककी ही है।

प्रेम न परखिअ परुषपन पयद सिखावन एह।
जग कह चातक पातकी ऊसर बरसै मेह॥

संसारके लोग [विषयीजन] कहते हैं कि चातक पापी है, क्योंकि मेघ ऊसर तकमें बरसता है [परन्तु चातकके मुँहमें नहीं बरसता]; पर मेघ इससे यह शिक्षा देता है कि प्रेमकी परीक्षा कठोरतासे नहीं करनी चाहिये (अर्थात् कठोरतामें प्रेम नहीं है, ऐसा नहीं मानना चाहिये; कहीं-कहीं कठोरतामें भी प्रेमका प्रकाश होता है। चातक पापी नहीं है, महान् प्रेमी है; उसके प्रेमका यश मेघकी कठोरतासे बढ़ता है)।

होइ न चातक पातकी जीवन दानि न मूढ़।
तुलसी गति प्रहलाद की समुझि प्रेम पथ गूढ़॥

न तो चातक ही पापी है और न जीवनदाता मेघ ही मूर्ख है। तुलसीदासजी कहते हैं कि प्रह्लादकी दशापर विचार करके समझो कि प्रेमका मार्ग कितना गूढ़ (सूक्ष्म) है। (प्रह्लादको पद-पदपर कष्ट मिलता है और भगवान् उसके कष्टको जानते हुए भी बहुत विलम्बमे प्रकट होते हैं। वह उनकी प्रेमलीला ही है।)

गरज आपनी सबन को गरज करत उर आनि।
तुलसी चातक चतुर भो जाचक जानि सुदानि॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि अपनी-अपनी गरज सभीको होती है और उसी गरजको (कामनाको) हृदयमें रखकर लोग जहाँ-तहाँ गरज करते (सबसे विनती करते) फिरते हैं। परन्तु चतुर (अनन्य प्रेमी) चातक तो एक मेघको ही सर्वोत्तम दानी समझकर केवल उसीका याचक बना।

चरग चगु गत चातकहि नेम प्रेम की पीर।
तुलसी परबस हाड़ पर परिहैं पुहुमी नीर॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि बाजके पञ्जेमें फँसनेपर चातकको अपने प्रेमके नियमकी पीड़ा (चिन्ता) होती है। [उसे यह चिन्ता नहीं होती है कि मैं मर जाऊँगा, पर इस बातकी बड़ी पीड़ा होती है कि बाजके द्वारा मारे जानेपर] मेरी हड्डियाँ और पाँख [स्वाती-नक्षत्रके मेघजलमें न पड़कर] पृथ्वीके साधारण जलमें पड़ेंगे।

बध्यो बधिक पर्‍यो पुन्यजल उलटि उठाई चोंच।
तुलसी चातक प्रेम पट मरतहुँ लगी न खोंच॥

किसी बहेलियेने चातकको मार दिया, वह पु

गङ्गाजीमें गिर पड़ा; (परन्तु गिरते ही उस अनन्यप्रेमी) चातकने चोंचको उलटकर ऊपर उठा लिया। तुलसीदासजी कहते हैं कि चातकप्रेमरूपी वस्त्रपर मरते दमतक कोई खोंच नहीं लगी (वह कहींसे फटा नहीं)।

अंड फोरि कियो चेटुवा तुष पर्‌यो नीर निहारि।
गहि चंगुल चातक चतुर डार्‌यो बाहिर बारि॥

किसी चातकने अण्डेको फोड़कर उसमेंसे बच्चा निकाला, परन्तु अण्डेके छिलकेको पानीमें पड़ा हुआ देखकर उस [प्रेम-राज्यके] चतुर चातकने तुरन्त उसे पञ्जेसे पकड़कर जलके बाहर फेंक दिया।

तुलसी चातक देत सिख सुतहि बारहीं बार।
तात न तर्पन कीजिऐ बिना बारिधर धार॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि चातक अपने पुत्रको बारम्बार यही सीख देता है कि हे तात! [मेरे मरनेपर] प्यारे मेघकी धाराको छोड़कर अन्य किसी जलसे मेरा तर्पण न करना।

जिअत न नाई नारि चातक घन तजि दूसरहि।
सुरसरिहू को बारि मरत न मांगेउ अरध जल॥

जीते-जी तो चातकने [प्यारे] मेघको छोड़कर दूसरेके सामने गर्दन नहीं झुकायी (याचना नहीं की) और मरते समय भी गङ्गाजलमें अर्धजली तक न मांगी (मुक्तिका भी निरादर कर दिया)।

सुनु रे तुलसीदास प्यास पपीहहि प्रेम की।
परिहरि चारिउ मास जो अँचवै जल स्वाति को॥

रे तुलसीदास ! सुन, पपीहेको तो केवल प्रेमकी ही प्यास है [जलकी नहीं]; इसीलिये वह बरसातके चारों महीनोंके जलको छोड़कर केवल स्वाती-नक्षत्रका ही जल पीता है।

जाचै बारह मास पिऐ पपीहा स्वाति जल।
जान्यो तुलसीदास जोगवत नेही मेह मन॥

चातक बारहों महीने (मेघसे उसे देखते ही पिउ-पिउकी पुकार मचाकर) जल माँगा करता है, परन्तु पीता है केवल स्वाती-नक्षत्रका ही जल। तुलसीदासजी कहते हैं कि मैंने इससे यह समझा है कि चातक ऐसा करके अपने स्नेही मेघका मन रखता है। (जिससे मेघको यह कहनेका मौका न मिले कि तू तो स्वार्थी है; जब प्यास लगती है तभी मुझे पुकारता है, फिर सालभर मेरा नाम भी नहीं लेता।)

तुलसी के मत चातकहि केवल प्रेम पिआस।
पिअत स्वाति जल जान जग जाँचत बारह मास॥

तुलसीदासके मतसे तो चातकको केवल प्रेमकी ही प्यास है [जलकी नहीं]; क्योंकि सारा जगत् इस बातको जानता है कि चातक पीता तो है केवल स्वाती-नक्षत्रका जल, परन्तु याचक बना रहता है बारहों महीने।

आलबाल मुकुताहलनि हिय सनेह तरु मूल।
होइ हेतु चित चातकहि स्वाति सलिल अनुकूल॥

चातकके हृदयरूपी मोतियोंकी (बहुमूल्य) क्यारीमें प्रेम-रूपी वृक्षकी जड़ लगी है। ईश्वर करे स्वाती-नक्षत्रका जल चातकके चित्तमें रहनेवाले प्रेमके लिये अनुकूल हो जाय। (अर्थात् स्वाती-नक्षत्रके जलसे हृदयमें लगी हुई प्रेम-वृक्षकी जड़ भलीभाँति सींची जाय, जिससे प्रेमवृक्ष फूल-फलकर लहलहा उठे!)

उष्न काल अरु देह खिन मग पंथी तन ऊख ।
चातक बतियाँ ना रुचीं अन जल सींचे रूख ॥

गर्मियोंके दिन थे; चातक शरीरसे खिन्न था (थका हुआ था), रास्ते चल रहा था; उसका शरीर बहुत गरम हो रहा था। [इतनेमें उसे कुछ पेड़ दीख पड़े, मनमें आया कि जरा विश्राम कर लूँ;] परन्तु अनन्यप्रेमी चातकको मनकी यह बात अच्छी नहीं लगी, क्योंकि वे वृक्ष [स्वाती-नक्षत्रके जलसे सिंचे हुए न होकर] दूसरे ही जलसे सींचे हुए थे।

अन जल सींचे रूख की छाया तें बरु घाम ।
तुलसी चातक बहुत हैं यह प्रवीन को काम ॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि यों तो चातक (चातकप्रेमका दम भरनेवाले) बहुत हैं परन्तु 'स्वातीके जलके अतिरिक्त अन्य जलसे सींचे हुए वृक्षकी छायासे तो धूप ही अच्छी' ऐसा मानना तो किसी [प्रेम-प्रणको निवाहनेमें] चतुर चातक (सच्चे प्रेमी) का ही काम है।

एक अंग जो सनेहता निसि दिन चातक नेह ।
तुलसी जासों हित लगै वहि अहार वहि देह ॥

चातकका जो रात-दिनका (नित्य चौवीसों घण्टेका) प्रेम है, वही एकाङ्गी प्रेम है। तुलसीदासजी कहते हैं—ऐसा एकाङ्गी प्रेम जिसके साथ लग जाता है, वही उसका आहार है (वह खाना-पीना सब भूलकर उसीकी स्मृतिसे जीता रहता है) और वही उसका शरीर है (वह अपने शरीरकी सुधि भुलाकर उसीके शरीरमें तन्मय हुआ रहता है)।



भोजन-साधन

१–शुद्ध कमाईका अन्न खाओ; जो पैसा चोरीसे, छलसे, बेईमानीसे, दूसरेके हकको मारकर आया हुआ हो, उससे मिला हुआ अन्न बहुत दूषित होता है और बुद्धिको सहज ही बिगाड़ देता है ।

२–हर किसीके साथ न खाओ। बुरे परमाणु तुम्हारे अन्दर आ जायँगे ।

३–जूँठा कभी किसीका मत खाओ । रोग बढ़ेगा ।

४–नियमित भोजन करो, भूखसे कुछ कम खाओ । अपनी प्रकृतिसे प्रतिकूल चीज मत खाओ ।

५–स्वादकी दृष्टिसे मत खाओ—शरीर-रक्षाके लिये सात्त्विक आहार करो ।

६–क्रोधी, कामी, वैरी, संक्रामक रोगोंसे आक्रान्त, गन्दे आचरणवाले, गन्दगीसे सने हुए, हीन जाति और हीन कुलके लोगोंके साथ न खाओ ।

७–ऐसी जगह मत खाओ, जहाँ कुदृष्टि पड़ती हो ।

८–अतिथि, रोगी, गर्भिणी स्त्री, गुरु, ब्राह्मण, आश्रित-जन और गौ, कुत्ते, चींटी, कौए आदिको आदरसे खिलाकर पीछे खाओ ।

९–रोज वलिवैश्वदेव करके खाओ ।

१०–भगवान्‌को या अपने इष्टदेवको अर्पण करके खाओ । जो भगवान्‌को निवेदन न करके खाता है, वह गन्दी चीज खाता है ।

११–जूँठन मत छोड़ो । विना भूख लगे मत खाओ, जितना आसानीसे पचा सको उतना ही खाओ ।

१२–तुम्हारा खाना जिसको भार मालूम होता हो, उसके घर न खाओ । तुम्हारे खानेसे जिसके भोजनमें कमी आ जाती है, उसके यहाँ भी मत खाओ ।

१३–भोजन करनेके पहले अन्नको प्रणाम करो, भोजनके समय ध्यान करो कि यह पवित्र भोजन मुझको पवित्र करेगा, वल देगा, ओज देगा और भगवान्‌की भक्ति देगा । और प्रत्येक ग्रास भगवान्‌का स्मरण करके मुँहमें लो ।

१४–भोजनको अन्तर्यामी भगवान्‌की तृप्तिके लिये करो, यज्ञकी भावनासे करो—जीभके स्वाद या अपनी तृप्तिके लिये नहीं ।

१५–वहुत मसाले, खट्टी, चटपटी, वहुत मिठाई आदि न खाओ ।

१६–सवको वाँटकर खाओ, चुराकर न खाओ ।

१७–पङ्क्तिमें भेद न करो, अपने लिये बढ़िया लेकर दूसरोंको घटिया चीज मत दो।

१८–रोज स्नान, सन्ध्या, तर्पण, श्राद्ध और बलिवैश्वादि करनेके बाद भोजन करो।

१९–भोजनके समय मौन रहो।

२०–ताँबेके बरतनमें दूध न पीओ, जूठे बरतनमें घी लेकर न खाओ और दूधके साथ कभी नमक न खाओ।

२१–भोजन खूब चबाकर करो, बहुत जल्दी-जल्दी न खाओ।

२२–पूर्वकी ओर मुख करके भोजन करो, पश्चिम और दक्षिणकी ओर मुख करके भोजन करना भी बुरा नहीं है। जिसके माता-पिता जीवित हों वह दक्षिणकी ओर मुख करके भोजन न करे। उत्तरकी ओर मुँह करके भोजन नहीं करना चाहिये।

२३–दोनों हाथ, दोनों पैर और मुँहको पहले खूब धोकर भोजन करो। भोजनके बाद हाथ-मुँह धोना, कुल्ले करके मुँह साफ करना, दाँतोंमें लगे हुए अन्नको निकालकर फिर मुँह धोना चाहिये। भोजनके बाद मुँह साफ करनेके लिये पान खाना बुरा नहीं है।

२४–एकादशी, अमावास्या, पूर्णिमा आदिके दिन उपवास करो।



शरण-साधन

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥

'जो एक वार भी शरण होकर कह देता है कि मैं आपका हूँ, उसे मैं सव भूतोंसे अभय कर देता हूँ । यह मेरा व्रत है ।'

ये शब्द मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके हैं । श्रीरामचन्द्रजीकी प्रतिज्ञा प्रसिद्ध है 'राम एक वार जो कह देते हैं, वस वही करते हैं, दूसरी वार उसे वदलते नहीं—रामो द्विर्नाभिभाषते ।'

उपर्युक्त भगवद्वाक्यके अनुसार एक वार भी जो भगवान्‌की शरण हो जाता है, उसीको भगवान् अपना लेते हैं और अभय कर देते हैं ।

शरण होनेवाले साधकके लिये यह आवश्यक नहीं है कि वह अन्य साधनोंके द्वारा पहले निष्पाप हो ले और फिर भगवान्‌की शरणमें जाय । न यही जरूरी है कि वह उत्तम वर्ण, उत्तम कुल, उत्तम गुण और उत्तम आचारोंसे सम्पन्न हो । कोई भी, कैसा भी क्यों न हो, भगवान् सभीको अपनी कल्याणमयी गोदमें आश्रय देनेको सदा तैयार हैं । वस, दो ही वात होनी चाहिये—एक तो भगवान्‌में और उनकी शरणागतवत्सलतामें पूरा विश्वास, और दूसरी अपनेको सव ओरसे

असहाय—सारे सहारोंसे रहित दीन-हीन मानकर, किसी भी दूसरी ओर न ताककर निर्भरताके साथ उनके श्रीचरणोंमें डाल देनेकी सच्ची लालसा।

भगवान्‌की कृपा और शरणागत-वत्सलतापर विश्वास जबतक न होगा, तबतक एकमात्र उनके चरणोंका आश्रय पकड़नेमें हिचक रहेगी। जहाँ सन्देह है, वहाँ निर्भरता नहीं हो सकती। इसलिये पहली बात है—विश्वास, और दूसरी बात है अन्य सारे अवलम्बनोंके प्रति अनास्था; फिर पाप तो भगवान्‌की शरणमें आते ही वैसे ही नष्ट हो जायँगे जैसे सूर्योदयकी सूचनासे ही अन्धकारका नाश हो जाता है। जैसे सूर्यके सामने कभी अन्धकार आ नहीं सकता, वैसे ही शरणागतके समीप पाप नहीं आ सकते। रही ताप या दुःखोंकी बात—सो जब परम आनन्दमय प्रभुकी शरण प्राप्त हो जाती है, तब वहाँ ताप रह ही कैसे सकते हैं? ताप तो विषयोंको आश्रय करके ही रहते हैं और विषयोंके आश्रयी नर-नारियोंको ही सदा जलाया करते हैं। जिन्होंने भगवान्‌का आश्रय ले लिया है, वे तो उस परम शान्ति और अचल शीतलताके साम्राज्यमें जा पहुँचते हैं, जहाँ दुःख-तापके लिये प्रवेशका अधिकार ही नहीं है।

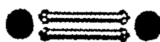
नीच महापापी हो चाहे, चाहे हो अति हीन मलीन।
भीषण नरक-कुंडका कीड़ा पड़ा सड़ रहा हो अति दीन॥
जो शरण्य स्वामीको अपना एकमात्र रक्षक पहचान।
आ पड़ता सत्वर चरणोंमें सच्चे मनसे अपने जान॥
नहीं देखते जातिपाँतिको, नहीं देखते पापाचार।
शील-मान-कुल नहीं देखते, नहीं देखते दुर्व्यवहार॥

केवल मनके भाव और नीयतपर देते हैं प्रभु ध्यान।
रख लेते तुरंत निज आश्रय उसको अपना निज-जन जान ॥
अपने हाथों बड़े स्नेहसे पाप-ताप-मल धोते आप।
अपने हाथों गले लगाकर हर लेते सारा संताप ॥
मिल जाती फिर पूर्ण विमल मति पराशान्ति अति परमानन्द।
करुणावरुणालय नित निज सेवामें रखते आनँदकन्द ॥

शरणागत भक्तके न शोक रह सकता है न विषाद, न दुःख न ताप, न चिन्ता न भय। उसे कुछ करना भी नहीं पड़ता। सब काम भगवत्कृपाकी शक्तिसे अपने-आप हो जाते हैं। शरणागतिमें कोई शर्त नहीं, कोई कैद नहीं। बस एक ही शर्त है—एक मात्र भगवान्‌को ही परम आश्रय जानकर उनकी शरण हो जाना—पुकारकर कह देना—'नाथ! मैं केवल तुम्हारा हूँ, तुम्हारे चरणोंपर आ पड़ा हूँ। दीन-हीन हूँ, पापी-अपराधी हूँ, साधनहीन मलिनमति हूँ, पर तुम्हारा हूँ; एकमात्र तुम्हारी ही कृपापर निर्भर हूँ' फिर तो भगवान् उसे निहाल कर देते हैं—अपनी सेवामें नियुक्त कर लेते हैं। भगवत्कृपासे वह उस आनन्दको अनायास ही पा जाता है जो अनिर्वचनीय है। भगवान् स्वयं घोषणा करके कहते हैं—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

'सब धर्मोंको छोड़कर तुम एकमात्र मेरी शरणमें आ जाओ। मैं तुम्हें सब पापोंसे छुड़ा दूंगा। तुम चिन्ता न करो।'



अहिंसा परम धर्म और मांस-भक्षण महापाप

अहिंसा परमो धर्मस्तथाहिंसा परं तपः।
अहिंसा परमं सत्यं यतो धर्मः प्रवर्तते ॥
न हि मांसं तृणात् काष्ठादुपलाद्वापि जायते।
हत्वा जन्तुं ततो मांसं तस्माद्दोषस्तु भक्षणे ॥
(महा० अनु० ११६ । २४-२५)

'अहिंसा परम धर्म है, अहिंसा परम तप है, अहिंसा परम सत्य है, अहिंसासे ही धर्मकी उत्पत्ति होती है। मांस घास, लकड़ी या पत्थरसे पैदा नहीं होता, वह तो जीवोंकी हत्या करनेपर ही मिलता है। इसलिये उसके खानेमें बहुत बड़ा दोष है।'

उपर्युक्त महाभारतके वचनोंके अनुसार ही प्रायः सभी पुराणों और स्मृतियोंमें अहिंसाकी महिमा और हिंसापूर्ण मांस-भक्षणका निषेध मिलता है, परन्तु मनुष्य इतना स्वार्थी और जिह्वालोलुप है कि वह अपने पापी पेटको भरने और घृणित मांसका स्वाद लेने तथा शिकारका शौक पूरा करने के लिये निर्दोष प्राणियोंकी हत्या करता है। शास्त्रों

'जो मूर्ख मोहवश मांस भक्षण करता है, वह अत्यन्त नीच है।' जैसे माँ-बापके संयोगसे पुत्रकी उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार पशु-हिंसासे अनेक पापयोनियोंमें जन्म लेना पड़ता है। मांस खानेवाला निर्दय हो जाता है। उस हिंसा-वृत्तिवालेपर किसी जीवका विश्वास नहीं रहता। सबको क्लेश पहुँचानेवाला होनेसे उसे भी जीवनभर क्लेश रहता है और मृत्युके पश्चात् दूसरे जन्ममें वे सभी प्राणी उसे क्लेश पहुँचाते हैं। मांस-भक्षण बहुत बड़ा पाप और अत्यन्त हानिकर कुकर्म है। मांस खानेवाले लोग संसारमें हैं, इसीलिये प्राणियोंकी हत्या होती है। कसाई मांसखोरोंके लिये ही तो पशुओंको मारता है। अतएव सबसे बड़ा दोषी मांस खानेवाला ही है। जो दूसरोंका मांस खाकर अपना मांस बढ़ाना चाहता है, वह किसी भी जन्ममें चैनसे नहीं रहने पाता। जो मनुष्य वध करनेके लिये पशुको लाता है, जो उसे मारनेकी अनुमति देता है, जो उसका वध करता है तथा जो खरीदता, बेचता, पकाता और खाता है, ये सब-के-सब पशुके हत्यारे और मांसखोर ही समझे जाते हैं। मांस-भक्षण बहुत बड़ा अपराध है; क्योंकि इसीके कारण जीवोंको निर्दय कसाइयोंके हाथों मृत्युकी भीषण यन्त्रणा भोगनी पड़ती है। सभी प्राणी जीवित रहना चाहते हैं। मृत्यु सभीके लिये दुःखदायी होती है। यदि हमें कोई मारना चाहे और मारे तो जितना दुःख होता है, उतना ही दूसरे प्राणीको भी होता है। इसीलिये प्राणदानसे बढ़कर कोई भी दान नहीं है। जिसका वध किया जाता है, वह प्राणी कहता है कि 'मां स भक्षयते यस्माद् भक्षयिष्ये तमप्यहम्।' अर्थात् 'आज मुझे वह खाता

है तो कभी मैं भी उसे खाऊँगा।' यही मांसका मांसत्व है। जो मनुष्य मांस, शिकार अथवा यज्ञयाग—किसो हेतुसे भी प्राणियों-की हिंसा करता है, वह नीच पुरुष नरकगामी होता है और जन्म-जन्ममे दुःख भोगता है।'

शास्त्र कहते हैं—'जो मनुष्य मांस न खाकर जीवोंपर दया करता है, वह दीर्घजीवी और नीरोग होता है। मांस-भक्षण न करनेसे सुवर्ण-दान, गो-दान और भूमिदानसे भी अधिक धर्मकी प्राप्ति होता है। जीवोंपर दया करनेके समान इस लोक और परलोकमें कोई भी पुण्यकार्य नही है। जो मनुष्य दयापरायण होकर सब प्राणियोंको अभय प्रदान करता है, उसे वे सब प्राणी भी अभय-दान करते हैं। जो मनुष्य सब जीवोंको आत्मभावसे देखकर किसी भी जीवका मांस जीवनभर नहीं खाता, वह बड़ी उत्तम गतिको प्राप्त होता है। समस्त धर्मोंका शिरोमणि अहिंसा धर्म है।'

अहिंसा परमो धर्मस्तथाहिंसा परो दमः।
अहिंसा परमं दानमहिंसा परम तपः॥
अहिंसा परमो यज्ञस्तथाहिंसा परं फलम्।
अहिंसा परमं मित्रमहिंसा परमं सुखम्॥
सर्वयज्ञेषु वा दान सर्वतीर्थेषु वा प्लुतम्।
सर्वदानफलं वापि नैतत्तुल्यमहिंसया॥
अहिंस्रस्य तपोऽक्षय्यमहिंस्रो यजते सदा।
अहिंस्रः सर्वभूतानां यथा माता यथा पिता॥
(महा० अनु० ११६)

'अहिंसा परम धर्म, अहिंसा परम संयम, अहिंसा परम दान, अहिंसा परम तप, अहिंसा परम यज्ञ, अहिंसा परम फल, अहिंसा परम मित्र और अहिंसा परम सुख है। सब यज्ञोंमें दान किया जाय, सब तीर्थोंमें अवगाहन किया जाय, सब प्रकारके दानोंका फल प्राप्त हो, तो भी उसकी अहिंसाके साथ तुलना नहीं हो सकती। हिंसा न करनेवालेकी तपस्या अक्षय होती है और वह मानों सदा-सर्वदा यज्ञ ही करता है। हिंसा न करने वाला पुरुष समस्त प्राणियोंका माता-पिता ही है।'

भारतके सभी धर्मग्रन्थोंमें मांसकी निन्दा की गयी है, फिर भी ऐसे उदाहरण मिलते हैं--जिनसे भारतीयोंका प्राचीन कालमें मांस खाना सिद्ध किया जाता है। सम्भव है, कुछ लोग मांस खाते हों, और यह भी सम्भव है कि पीछेसे मांसाहारियोंने ग्रन्थोंमें ऐसी बातें घुसेड़ दी हों। जो कुछ भी हो, मांस-भक्षण प्रत्यक्ष पाप और अत्यन्त घृणित दुष्कर्म है। ऐसा माना जाता है कि इधर भारतीयोंमें मांस-भक्षणकी प्रथा विदेशियोंके, खास करके अंग्रेजोंके आनेके बाद ही विशेषरूपसे चली है, पहले इतनी नहीं थी। हमारी सबसे प्रार्थना है कि हम मांस-भक्षणके दोषोंको समझ लें। इसमें आध्यात्मिक, शारीरिक और आर्थिक सभी प्रकारसे हानि है। इसपर विचार करें और जहाँतक बने मांस-भक्षणका प्रचार रोकनेकी सब प्रकारसे चेष्टा करें।

सरल नाम-साधन

सकृदपि परिगीतं श्रद्धया हेलया वा
भृगुवर नरमात्रं तारयेत् कृष्णनाम।

प्रश्न—वर्षोंसे चेष्टामें लगा हूँ, बहुतेरे साधु-महात्माओंके दर्शन किये, तीर्थोंमें घूमा, मन्त्रोंके अनुष्ठान किये और नाना प्रकारकी साधनाएँ कीं, पर मेरा यह दुष्ट मन किसी प्रकार भी वशमें नहीं होता। शास्त्र और सन्त कहते हैं कि मनके वशमें हुए बिना भगवान्‌की प्राप्ति नही होती और यह बात तो निर्विवाद ही है कि भगवान्‌की प्राप्ति हुए बिना जीवन व्यर्थ है। मैं हताश हो गया, मेरा मन वशमें नही होता। क्या मेरे लिये कोई उपाय नहीं है? क्या मैं चाहता हुआ भी भगवान्‌को नही पा सकूँगा? भगवान् क्या दया करके मुझ-सरीखे चञ्चलचित्तको न अपना लेंगे?

उत्तर—बात यह है, सच्ची लगन हो और दृढ़तापूर्वक अभ्यास किया जाय तो मनका वशमें होना असम्भव नही है। मन वशमें करनेके बहुत-से उपाय हैं और उनके द्वारा मन अवश्य ही वशमें हो भी सकता है; परन्तु भैया! है यह कलियुग, जीवनमें कहीं शान्ति नहीं है। नाना प्रकारकी आधि-व्याधियोंसे मनुष्यका मन सदा घिरा रहता है। इसलिये मन वशमें करनेके साधनमें लगना है बड़ा कठिन, और साधनमें लगनेपर भी नाना प्रकारके विघ्नोंके कारण लगन—सच्ची लगन और दृढ़ अभ्यास होना भी कठिन ही है।

प्रश्न-तो क्या फिर मनुष्य-जीवनकी सफलताका कोई उपाय नही है?

उत्तर–है क्यों नहीं ? वही तो बतला रहा हूँ । वह ऐ सुन्दर उपाय है जिससे ब्राह्मणसे चाण्डालतक, परम विद्वान् वज्रमूर्खतक, स्त्री और पुरुष, सदाचारी और कदाचारी सभ सहज ही कर सकते है । वह उपाय है—वाणीके द्वारा भगवान्के नामका रटना । कोई किसी भी अवस्थामें हो, नाम-जप अपने स्वाभाविक गुणसे जपनेवालेका मनोरथ पूर्ण कर सकता है और उसे अन्तमें भगवान्की प्राप्ति करा देता है । और-और साधनोंमें मनके वशमें होने तथा भाव शुद्ध होनेकी आवश्यकता है । भाव [नीयत] के अनुसार ही साधन का फल हुआ करता है । परन्तु नाममें यह बात नहीं है । किसी भी भावसे नाम लिया जाय वह तो कल्याणकारी ही है ।

भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ । नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ ॥

इसलिये मन वशमें हो चाहे न हो । कैसा भी भाव हो, तुम विश्वास करके, जैसे बने वैसे ही—भगवान्का नाम लिये जाओ और निश्चय करो कि भगवान्के नामसे तुम्हारा अन्तःकरण निर्मल हुआ जा रहा है और तुम भगवान्की ओर बढ़ रहे हो । नाम लेते रहे, ताँता न टूटा तो निश्चय ही इसीसे तुम अन्तमें भगवान्को पाकर कृतार्थ हो जाओगे ।

कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास ।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास ॥

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम् ।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥

